राष्ट्र शांति महायज्ञ

रट्ठ-संति-महाजण्णो

Raṣṭra Śānti Mahayajna

written by

Digambarācārya Sri Vasunandi Muni

प्रकाशक

निर्ग्रन्थ ग्रन्थमाला

कृति : राष्ट्र शांति महायज्ञ (रट्ठ-संति-महाजण्णो)

मंगलाशीष : श्वेतपिच्छाचार्य श्री 108 विद्यानंद जी मुनिराज

ग्रंथकार : आचार्य श्री 108 वसुनंदी जी मुनिराज

भावार्थ एवं
भाषानुवाद : आर्यिका श्री 105 वर्धस्व नंदनी माता जी

संपादन : आर्यिका श्री 105 वर्चस्व नंदनी

ISBN : **978-93-94199-14-9**

प्राप्ति स्थान: निर्ग्रन्थ ग्रन्थ मालासमिति
ई॰ 102 केशर गार्डन, सै॰ 48, नोएडा-201301
मो॰ 9971548899, 9867557668

संस्करण : तृतीय

प्रतियाँ : 1000

मूल्य : सदुपयोग

मुद्रक : मित्तल पब्लिशिंग
20, अर्जुन नगर, सफदरजंग एन्कलेव
नई दिल्ली-110029

आद्यमित्याक्षर

-आचार्य वसुनंदी मुनि

सद्ज्ञानशून्यैर्बहुभिस्तपोभि-स्संक्लेशलाक्ष्यैर्बहुभिर्भवैश्च।
यत्पापमाहंतुमशक्यमज्ञै-स्तद्धन्यतेचैकभवेन सद्ज्ञैः॥

जिस पाप कर्म को अज्ञानी करोड़ों भवों में लाखों क्लेश उठाकर, अनेक प्रकार मिथ्यातप कर नष्ट करने में समर्थ नहीं हो सकते, उस कर्म को ज्ञानी जीव एक ही भव में नष्ट कर देता है। सम्यग्ज्ञान की अचिंत्य महिमा और अपरिमित शक्ति है।

आत्मशान्ति प्रत्येक जीवात्मा का स्वभाव है। स्वभाव की प्राप्ति पुरुषार्थ पूर्वक की जाती है। प्रत्येक प्राणी अनादिकाल से वैभाविक परिणामों से युक्त है। अशुद्ध सद्भूत व्यवहार नय के द्वारा मतिज्ञानादि वैभाविक गुणों का आधारभूतत्व होने से जीव अशुद्ध होता है। बिना स्वभाव को प्राप्त किये अनंतसुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। तो भी जैसा कारण होता है वैसा कार्य होता है। शुद्ध, सहज व स्वाभाविक आत्म शान्ति को प्राप्त करने के लिये व्यवहारिक शांति भी आवश्यक है। गृह-परिवार में शांति, समाज व मौहल्ले में शांति, ग्राम-नगर-जनपद में शान्ति, प्रान्त व देश में शान्ति पुनः सम्पूर्ण राष्ट्र व विश्व में शांति की प्रार्थना परमात्मा से की जाती है। आत्मशांति, राष्ट्रशांति में कारण है और राष्ट्रशान्ति आत्मशान्ति की आधारशिला है।

यदि सुख-शान्ति को प्राप्त करना चाहते हैं तो वर्तमान में भी चित्तरूपी सिंधु में उठती हुयी विषय कषायों की वीचियों की शान्ति का उपाय करना होगा। व्यवहार में पहले सुख-शांति की स्थापना करनी होगी।

अनादिकाल से ही राष्ट्र शांति की स्थापना करने हेतु अनेक प्रकार के यज्ञ करने का विधान रहा है भारतीय संस्कृति की यह

मान्यता है आत्मशांति की प्राप्ति के लिये सर्वशान्ति की भावना भानी चाहिये। कुएँ की प्रतिध्वनि के समान इस जगत में जो भावना, व्यवहार, शब्द दूसरों को प्रदान किए जाते हैं वही पुनः प्राप्त होते हैं। दूसरों को अशांति देकर आजतक कोई भी शांति प्राप्त नहीं कर सका है।

आत्मशांति को प्राप्त करने के इच्छुक आचार्य भगवन् श्री पूज्यपाद स्वामी ने भी भावना भायी:-

क्षेमं सर्वप्रजानां प्रभवतु बलवान्धार्मिको भूमिपालः,
काले-काले च वृष्टिं वितरतु मघवा, व्याधयो यान्तु नाशम्।
दुर्भिक्षं चौरमारिः क्षणमपि जगतां, मास्मभूज्जीव-लोके,
जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रभवतु सततं, सर्व सौख्य-प्रदायि॥

समस्त प्रजा का कल्याण हो, राजा बलवान् तथा धार्मिक हो, समय-समय पर समीचीन मेघवर्षा हो, रोग नाश को प्राप्त हों, दुर्भिक्ष, चोरी, मारी आदि रोग संसार में क्षणभर भी न हों, जिनेन्द्र भगवान का धर्म चक्र सतत् सर्वसुखदायी होवे।

"राष्ट्र शांति महायज्ञ" प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में गृह-परिवार नगर अथवा सम्पूर्ण राष्ट्र में शान्ति की स्थापना करने वाला हो। जिससे सभी आत्मशांति प्राप्त कर सकें।

परम पूज्य राष्ट्र संत, सिद्धांत चक्रवर्ती, श्वेतपिच्छाचार्य गुरुवर श्री विद्यानंद जी मुनिराज के कर कमलों में यह कृति समर्पित है, जिनकी महती वात्सल्यमयी अनुकंपा से मुझ जैसा अल्पज्ञ इस कार्य को कर पाया। पूज्य गुरुदेव के चरणों में सिद्ध, श्रुत, आचार्य भक्ति सहित कोटिशः नमन.....

सर्वेषां मंगलं भवतु

पुरोवाक्

एदम्हि रदो णिच्चं, संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि।
एदेण होहि तित्तो, होहिदि तुह उत्तमं सोक्खं॥

हे भव्य ! तू इस ज्ञान में प्रीति कर, इसी में तू सदा संतुष्ट रह, इससे ही तू तृप्त रह। ज्ञान में रति, संतुष्टि और तृप्ति से तुझे उत्तम सुख होगा।

भारतीय संस्कृति में सुभाषित, नीति वाक्यामृत, नीति शास्त्र, नैतिक शिक्षा, नीति उपदेश इत्यादि ग्रंथ लोकहित के लिये अनेक विद्वानों मनीषियों नीतिकारों ने उनका लेखन किया है। भारतीय संस्कृति में गुरु व शास्त्र को देव के समान ही पूजा जाता है। पूर्व कुशल शासकों ने गुरु के मार्गदर्शन में राज्य का संचालन किया अथवा शास्त्रों के माध्यम से ज्ञानार्जन कर, सम्यक् पद्धति को जानकर देश में सुख-शांति की स्थापना व उन्नति में प्रयासरत रहे।

यह भारत विविधता में एकता लिये हुये है। जिस प्रकार नाना प्रकार के पुष्पों से समन्वित गुलदस्ता आकर्षक होता है उसी प्रकार यह भारत नाना प्रकार की भाषा, वेशभूषा, धर्म व विचारधाराओं से समन्वित है। समय-समय पर विभिन्न राजाओं का शासन राज्यों पर रहा। जिन्होंने न्याय नीतियुक्त शासन किया, उन शासकों को कुशल शासकों की श्रेणी में गिना जाता है।

आदिनाथ, राजाचेटक, सिद्धार्थ, मेघरथ, श्रेणिक, राम, चन्द्रगुप्त मौर्य, अमोघवर्ष आदि राजाओं ने अपने राज्य का संचालन कुशलतापूर्वक किया। पुरा संस्कृति और सभ्यता का सार दर्शाते हुये वर्तमान काल में आवश्यक नीतियों, युक्तियों एवं उपदेशों से समन्वित नीतिशास्त्र की आवश्यकता थी। जिसकी पूर्ति के लिए प्रस्तुत ग्रंथ **''राष्ट्र शांति महायज्ञ''** पर्याप्त सिद्ध होता है।

इस ग्रंथ में जहाँ एक ओर कर्त्तव्य और न्याय नीति का विवरण है, तो दूसरी ओर अधिकार और दंड संहिता का विवेचन भी है। शासक और शासित दोनों के लिये अमावस के अंधकार में दीपिका के समान यह ग्रंथ प्रस्तुत है। संप्रतिकालवर्ती विद्वान्, साहित्यकार, विचारक, चिंतक, समाज से मार्गदर्शन प्राप्त कर सम्यक् लक्ष्य को प्राप्त कर सकेंगे।

'राष्ट्र शांति महायज्ञ' कृति मात्र शब्दों का पिटारा नहीं अपितु लेखक के चित्त की कोमल कलियों पर विद्यमान प्रांजुल भावों का संकलन है। ग्रन्थकार ने समन्वय, सहयोग, समानता, सौहार्दता, समृद्धता, संगठन आदि सामाजिक मूल्यों को जीवंतता प्रदान की। लेखक का चित्त करुणा, दया, अहिंसा एवं परोपकार की भावना से ऐसा परिपूरित प्रतीत होता है जैसे किसी माँ का हृदय। स्वयं ग्रंथकार वसुंधरा की क्षमा, ध्रुव का धैर्य, शर्वरीनाथ की शीतलता, विरोचन का तेज एवं सागर के गांभीर्य से युक्त चित्त में ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' की उदात्त भावना से सहित स्व-पर कल्याण में उद्यत हैं।

ग्रंथकार ने अपने भावों को शब्दों की पोशाक पहनाते हुये जिन कर्त्तव्यों, नीतियों-रीतियों एवं कार्य प्रणालियों का दिग्दर्शन किया है वह प्रत्येक राष्ट्र के लिये आदर्श रूप में ग्राह्य माना जा सकता है। जिस प्रकार शैवलिनी का सलिल, वैश्वानर की दीप्ति, मिहिर का उजास किसी एक के लिये नही होता है उसी प्रकार संत का उपदेश किसी एक की नहीं सभी की विषय-कषाय रूपी ऊर्मियों को शांत करने वाला होता है, सभी को सुख व शांति प्रदायक होता है। महायोगी की राष्ट्रीय चेतना होने का भाव उनके ग्रंथ से स्पष्ट होता ही है। कहीं किसी एक परिवार, समाज, जाति, पंथ या समुदाय के लिये नहीं अपितु सम्पूर्ण राष्ट्र के लिये सुख-शांति की कामना करते हुए ग्रंथ के अन्तर्गत कहा है :-

देसे गामे तहा रट्ठे, धम्मि-राय-पयाण य।
सण्णाण-जुद-धम्मेण, वंछामि सया हियं॥८३॥
होज्ज संती कुले रज्जे, सव्व-पाणी हु माणवा।
तवस्सी संजया णिच्चं, पाविट्ठा य वि सज्जणा॥८४॥

राष्ट्र में, देश में, गाँव में, साधर्मियों व राजा-प्रजाजनों के लिए जिनधर्म से हित की वांछा करता हूँ। कुल व राज्य में शांति हो, मनुष्य, प्राणी, संयमी, पापी अथवा सज्जनों को सभी को शांति होवे।

राष्ट्र शांति की स्थापना में शब्दों का पुंज महायज्ञ की तरह से सारस्वत सिद्ध वरदान है। 'कर्त्तव्यमेव धर्मः' के अनुसार सभी व्यक्तियों द्वारा कर्त्तव्यों के पालन करने से, विवेकपूर्ण आचरण से राष्ट्र में शांति की स्थापना तो होती ही है एवं आत्मशांति भी प्राप्त होती है।

यह मेरा परम सौभाग्य है जो पूज्य गुरुदेव की इस अनुपम कृति पर कार्य करने का अवसर मुझे प्राप्त हुआ। यह कार्य मुझ जैसी अल्पज्ञ के द्वारा सम्पन्न हुआ, यह परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी, अक्षरशिल्पी, निर्ग्रंथ गौरव आचार्य श्री 108 वसुनंदी जी मुनिराज का मंगलमय आशीर्वाद है। उन्हीं के चरण सान्निध्य में प्राप्त ज्ञान का यह प्रसाद रूप है।

परम पूज्य आचार्य गुरुवर का संयम, तप, ज्ञान, साधना निरंतर वृद्धि को प्राप्त हो, उनका संयम पथ सदैव आलोकित रहे एवं शीघ्र स्वलक्ष्य मोक्ष सुख प्राप्त करें। पूज्य गुरुदेव के चरणों में सिद्ध, श्रुत, आचार्य भक्ति सहित।

कोटिशः नमन-नमन-नमन

-आर्यिका वर्धस्व नंदनी

संपादकीय

भारत एक ऐसी भूमि है जहाँ अनेक ऋषि, संत, अरिहंत, भगवंतों का जन्म हुआ। यहीं से आध्यात्मिकता का सूत्रपात होने से यह भारत भूमि विश्व गुरु के नाम से विख्यात है। इस भूमि से प्रकट आत्मविद्या एवं तत्त्वज्ञान ने संपूर्ण विश्व को नव उदात्त दृष्टि प्रदान कर उसे पतनोन्मुख होने से बचाया। समय-समय पर आचार्यों-मनीषियों द्वारा लिखित ग्रंथों ने प्राणवान बहुमूल्य प्रवाहों की गति को अविरलता प्रदान की चाहे क्षेत्र अध्यात्म का हो अथवा राष्ट्र का, जैन आचार्यों का योगदान प्रत्येक क्षेत्र में रहा है।

पूज्य आचार्य गुरुवर श्री वसुनन्दी मुनिराज की भी इस धारा में कई कृतियाँ हैं, कुछ अध्यात्मवादी बनने की प्रेरणा देती हैं तो कुछ कृतियाँ व्यवहारिक जीवन को सुव्यवस्थित करती हैं, कुछ जीने का नया उत्साह, उमंग उत्पन्न कर सम्यक् लक्ष्य की ओर अग्रसर करती हैं। यह कृति उनकी राष्ट्र के प्रति उदात्त भावनाओं को उजागर करती है।

प्रस्तुत ग्रंथ सभी प्राणियों की सुख शांति व हित की भावना से रत्नों की एक सुंदर मालिका के रूप में प्रस्तुत है, राजनीति यदि धर्म के साथ की जाये तो वह भी देशवासियों के हित का कारण है। अपनी संस्कृति और सभ्यता को जीवंतता धर्म के संस्कारों से प्रदान की जा सकती है।

ग्रंथकर्ता ग्रंथ में स्वयं लिखते हैं-

संतीइ धम्म-सक्कारो, हेऊ अप्पणिही तहा।
सक्कयाण किदी णिच्चं, जाणेज्जा हि सक्किदी॥७६॥

धर्म के संस्कार निश्चय से शांति का कारण हैं। यह ही आत्मा की निधि है। संस्कारी व्यक्ति की कृति ही संस्कृति है।

देश के प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा अपने कर्त्तव्यों को समीचीन रूप से पालन करना उसका राष्ट्र के प्रति प्रेम को प्रकट करता है। जिस

प्रकार घने पुष्पित, फलित व पल्लवित वृक्ष के आश्रय में रहने वाले प्राणी निजाश्रयदाता उस वृक्ष को नुकसान पहुँचाकर वास्तव में अपना ही घात करते हैं एवं उसका संरक्षण व संवर्धन कर तदाश्रय में अपना ही हित करते हैं उसी प्रकार देश व राष्ट्र घना वृक्ष है तथा प्रत्येक नागरिक उसका आश्रय प्राप्त करने वाला है अतः राष्ट्र का संवर्द्धन व संरक्षण प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है और यह निज कर्त्तव्य निर्वाह से ही संभव है।

पूज्य गुरुवर श्री ने जैन दर्शन सिद्धान्त एवं अध्यात्म के न्याय नीति के अथवा चउ अनुयोगों के द्विशताधिक शास्त्रों का संपादन एवं लेखन कर अवरुद्ध जैन साहित्य-भागीरथी के प्रवाह को प्रवर्तित किया है। आश्चर्य है देश व राष्ट्र को सुख शांति से सिंचित करने वाले अमृत का उद्भव राजस्थान के मरूस्थल से हुआ है। असाधारण प्रज्ञा के धनी परम पूज्य आचार्य श्री वसुनन्दी जी मुनिराज ने अतिशय क्षेत्र तिजारा 2016 में इस ग्रंथ का अद्भुत लेखन मात्र तीन दिनों में किया। अपनी साधना के अमूल्य क्षणों में से समय निकालकर पूज्य गुरुदेव ने राष्ट्र सुख-शांति की स्थापना हेतु सुख शांति के इच्छुक जीवों के लिए बहुमूल्य निधि रूप यह ग्रंथ प्रदान किया। पूज्य आर्यिका श्री वर्धस्व नंदनी माता जी ने इस अद्भुत ग्रंथ का व्याख्यान व अंग्रेजी भाषा में अनुवाद कर जन-जन के लिए यह और भी अधिक उपयोगी बना दिया।

पूज्य गुरुदेव के राष्ट्र-शांति-महायज्ञ नामक ग्रंथ का संपादन करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। यदि इस पुस्तक के संपादन में कोई त्रुटि रह गई हो तो विज्ञजन संशोधित कर पढ़ें, हंसवत् गुणग्राही दृष्टि से ही इसका अध्ययन करें। इस कृति के संपादन में आर्यिका श्री श्रेयनंदनी, आर्यिका श्री सुरम्य नंदनी एवं आर्यिका श्री यशोनंदनी माता जी का भी श्लाघ्नीय सहयोग प्राप्त हुआ।

इस ग्रंथ के मुद्रण व प्रकाशन में सहयोगी सभी धर्मस्नेही जनों

को पूज्य गुरुदेव का मंगलमय शुभाशीष। गुरुवर श्री की संयम, तप, साधना, ज्ञान सदा ही वर्द्धमान अवस्था को प्राप्त हो। शताधिक वर्षों तक स्वसंयम व ज्ञान की सुगंधि से जन-जन को सुगंधित करते रहें तथा शीघ्र मुक्ति पुरंधिका के साथ मोक्ष महल में निवास करें।

पूज्य गुरुदेव के स्वर्ण जयंती वर्ष के प्रारंभ व 28वें दीक्षा दिवस पर आचार्य गुरुवर श्री वसुनंदी जी मुनिराज के चरणों में सिद्ध, श्रुत, आचार्य भक्ति सहित त्रिकाल नमोस्तु-नमोस्तु-नमोस्तु !

-आर्यिका वर्चस्व नंदनी

अनुक्रमणिका

1.	मंगलाचरण	1
2.	धर्म का स्वरूप	7
3.	चित्त शुद्धि	15
4.	दया धर्म का मूल	21
5.	सर्व सुखकारक धर्म	26
6.	धर्मी ही सुश्रावक	30
7.	सच्चा मित्र	35
8-9.	युगप्रवर्तक की देशना	39
10.	भरत का भारत	45
11-12.	राजा के गुण	52
13-14.	राजा के लक्षण	60
15-16.	राजा के कर्त्तव्य	69
17.	राजा के मित्र	75
18.	राजनीति	78
19-20	योग्य मंत्री	81
21.	श्रेष्ठ पुरोहित	89
22.	सजग कोतवाल	93
23.	सैनिक के गुण	95
24.	कैसा हो शासन का सेवक	99
25.	आयात-निर्यात	105
26.	अर्थप्रबंधन	108
27.	अन्यायार्जित धन से हानि	111
28-29.	मन की अशांति-अनैतिक धनार्जन	113
30.	सुखी प्रजा	118
31.	यथा राजा तथा प्रजा	121

32.	प्रजा का कर्त्तव्य	124
33.	आदर्श नागरिक	127
34.	श्रेष्ठ नागरिक	131
35.	समाज	136
36.	कहाँ हो निवास स्थान?	143
37.	कुशल नायक	147
38.	सुयोग्य निर्णायक	151
39.	अधिवक्ता कैसा हो?	154
40.	वैद्य के लक्षण	158
41.	वणिक् के गुण	162
42.	जागरुक किसान	166
43.	शिक्षा का स्वरूप	170
44.	आदर्श शिक्षक कौन?	174
45.	विद्यार्थी के लक्षण	180
46.	विद्यार्थी के कर्त्तव्य	186
47-48.	आदर्श नारी	190
49.	सज्जन कौन ?	197
50.	दुष्टों की प्रवृत्ति	200
51.	अतिथि सेवा	204
52.	दोष सदैव त्याज्य	207
53.	हिंसा अशांति की जननी	209
54.	खानपान सुरक्षित तो देश सुरक्षित	212
55.	विश्वधर्म -अहिंसा	221
56.	शाकाहार	228
57.	जल ही जीवन है	231
58.	वृक्षों की उपयोगिता	234

59.	त्रियोग व धन का सदुपयोग	239
60.	मिष्ट व शिष्ट वचन	244
61.	भाषा-सद्व्यवहार की पहचान	248
62.	उभय सुखी कौन ?	252
63.	चतुर्फल की प्राप्ति	258
64.	सम्यग्दृष्टि का लक्षण	271
65.	सम्यग्दृष्टि के गुण	275
66.	संपूर्ण सुख का मार्ग	285
67.	ईश भक्ति	290
68.	विषयासक्तता गुणदाहक	294
69.	लोभ पाप का बाप	298
70.	विश्वासघाती	303
71.	शासक व उसका शासन	306
72.	संयोग-वियोग	309
73.	महापुरुषों की व्यापकता	315
74.	पुण्य की बलिहारी	320
75.	कर्मों की गुरुता-लघुता	324
76.	संस्कृति	327
77-78	हितोपदेशी	331
79.	संत समागम	338
80.81.82	राष्ट्र धर्म-जैनधर्म	343
83-84.	विश्वशांति भावना	353
85.	वृष-वर्द्धक	357
86.	अंतिम मंगलाचरण	359
87.	प्रशस्ति	362

● राष्ट्र शांति महायज्ञ

मंगलाचरण

वंदित्ता सव्व-सिद्धा य, जिणा सुधम्म-णायगा।
रट्ठ -संति-महाजण्णं, वोच्छामि संति-कारणं॥१॥

अर्थ:-मैं सभी सिद्धों को जिनों तथा धर्म नायकों को नमस्कार करके प्रत्येक जीव की शांति के लिए "राष्ट्र शांति महायज्ञ" नामक ग्रंथ को कहता हूँ।

Bowing to all Siddhas (who attained liberation), Jinas (who have won over all five senses) and promulgator of the religion (Teerthankaras) I (Ācārya Vasunandi) describe the scripture "Rastra Shānti Mahayajna" for the peace of every creature.

भावार्थ:-जिन्होंने सर्व कर्मों को नष्ट करके मुक्त अवस्था को प्राप्त कर लिया है उन सभी सिद्ध परमेष्ठियों को यहाँ नमस्कार किया गया है। लौकिक सिद्धि करने वालों की यहाँ अपेक्षा नहीं है। वे सिद्ध परमेष्ठी ही कृतकृत्य हैं ग्रंथकार भी स्वयं कृतकृत्य होना चाहते हैं यद्यपि जिनागम के क्रमानुसार पहले अरिहंतों को नमस्कार करना चाहिए था किंतु ग्रंथकार ने सिद्धों को प्रथम नमस्कार किया है इससे सिद्ध होता है ग्रंथकार निश्चय पर अपनी दृष्टि गढ़ाए हुए व्यवहार पक्ष को उजागर करना चाहता है क्योंकि ग्रंथकार ने व्यवहार पक्ष का भी लोप नहीं किया। सिद्ध से आशय स्वकीय शाश्वत शुद्ध दशा को प्राप्त करने से है।

आचार्य कुंदकुंद स्वामी ने सिद्धों को परिभाषित करते हुए कहा-

णट्ठट्ठकम्मबंधा अट्ठमहागुणसमण्णिया परमा।
लोयग्गठिदा णिच्चा सिद्धा ते एरिसा होंति॥

आठ कर्मों के बंधन को जिन्होंने नष्ट किया है जो आठ महागुणों से सहित, परम, लोकाग्र में स्थित और नित्य हैं, ऐसे वे सिद्ध होते हैं।

सिद्धांत चक्रवर्ती आचार्य भगवन् श्री नेमिचंद्र स्वामी कहते हैं-

अट्ठविहकम्मवियला सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा।
अट्ठगुणा किदकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा॥

जो अष्ट विध कर्मों से रहित हैं, अत्यंत शांतिमय हैं, निरंजन हैं, नित्य हैं, आठ गुणों से युक्त हैं, कृतकृत्य हैं, लोक के अग्रभाग पर निवास करते हैं वे सिद्ध कहलाते हैं।

ऐसे सिद्धों को यहाँ नमस्कार करते हैं। आचार्य पूज्यपाद स्वामी जी ने सिद्ध भक्ति में लिखा है "सिद्धिः स्वात्मोपलब्धि"' अर्थात् शुद्धात्मा की उपलब्धि का नाम सिद्धि है अथवा कर्मों से रहित मात्र आत्मोपलब्धि ही सिद्धि है क्योंकि कर्मों से सहित अशुद्ध आत्मा तो प्रत्येक संसारी जीव के पास है ही। अपनी सिद्ध दशा को संसारी प्राणी को बाहर में नहीं खोजना है अपितु वह तो आत्मा के प्रदेशों में ही विद्यमान है। जैसे कि कहा है "सिद्धि स्वात्मप्रदेशैव वर्तते" सिद्धि आत्मा के प्रदेशों में ही वर्तती है। जब आत्मा में से कर्म रूपी बाण निकल जाते हैं तभी आत्मा निर्वाण दशा को प्राप्त होती है और तभी आत्मा में सिद्ध दशा प्रकट होती है। इस निर्वाण दशा को ही जैन संप्रदाय में मोक्ष कहा जाता है।

आचार्य भगवन् श्री अकलंक देव स्वामी राजवार्तिक में कहते हैं-

मोक्ष्यते अस्यते येन असनमात्रं वा मोक्षः अथवा **आत्यन्तिकः सर्वकर्मनिक्षेपो मोक्ष इत्युच्यते।**

समस्त कर्मों के आत्यन्तिक उच्छेद को मोक्ष कहते हैं।

आत्मबन्धयोर्द्विधाकरणं मोक्षः

आत्मा और बंध को अलग कर देना मोक्ष है।

ग्रंथकार व्यवहार पक्ष को ध्यान में रखते हुए साकार परमात्मा स्वरूप अरहंतों को नमस्कार करते हैं। जिन्होंने चार घातिया कर्मों को नाश कर दिया है वे अरिहंत कहलाते हैं अथवा जिन्होंने चार घातिया कर्मों को जीत लिया वे जिन हैं।

मूलाचार में कहा है-

जिदकोहमाणमाया जिदलोहा तेण ते जिणा होंति।

क्रोध, मान, माया, लोभ इन कषायों को जीत लेने के कारण अर्हंत भगवान जिन हैं।

भगवती आराधना में आचार्य भगवन् कहते हैं-

कर्मैकदेशानां च जयात् धर्मोऽपि कर्माण्यभिभवति इति जिन शब्देनोच्यते।

धर्म भी कर्मों का पराभव करता है अतः उसको भी जिन कहते हैं अथवा 'पंचास्तिकाय' की तात्पर्य वृत्ति में जिन को इस प्रकार परिभाषित किया गया है-

अनेकभव-गहन-विषय-व्यसनप्रापणहेतून् कर्मारातीन् जयतीति जिनः।

अनेक भवों के गहन विषयों रूप संकटों की प्राप्ति के कारणभूत कर्मरूपी शत्रुओं को जीतता है, वह जिन है।

आचार्य भगवन् श्री वीरसेन स्वामी ने सकल जिन व देश जिन के भेद से जिन दो प्रकार के कहे हैं। धवला पु. 9 में दिया है-

जिणा दुविहा सयलदेसजिण-भेएण।

आगे इनका लक्षण बताते हुए कहते हैं-

खवियघाइकम्मा सयलजिणा। के ते। अरहंत-सिद्धा।
अवरे आइरिय-उवज्झाय-साहू देस-जिणा
तिव्वकसाइंदिय-मोह-विजयादो।

जो घातिया कर्मों का क्षय कर चुके हैं वे सकल जिन हैं। वे कौन हैं? अर्हंत व सिद्ध। इतर आचार्य, उपाध्याय और साधु तीव्र कषाय व इंद्रिय एवं मोह के जीत लेने के कारण देश जिन हैं।

अथवा आचार्य भगवन् श्री वीरसेन स्वामी ने अवधि व विद्याधर के भेद से भी जिन दो प्रकार के कहे हैं।

अवधयश्च ते जिनाश्च अवधिजिना:

अवधिज्ञान स्वरूप जो जिन वे अवधि जिन हैं।

सिद्धविज्जाणं पेसणं जे ण इच्छंति केवलं धरंति चेव अण्णाणणिवित्तीए ते विज्जाहर जिणा णाम।

जो सिद्ध हुई विद्याओं से काम लेने की इच्छा नहीं करते, केवल अज्ञान की निवृत्ति के लिए उन्हें धारण करते हैं, वे विद्याधर जिन हैं।

ग्रंथकर्ता का भाव मात्र अरिहंतों को नमस्कार तक नहीं है बल्कि जिन शब्द से आचार्य, उपाध्याय, साधुओं को भी नमस्कार करना चाहते हैं क्योंकि जिन संज्ञा साधु परमेष्ठी से नियामक रूप में स्वीकार की जाती है। इन पंच परमेष्ठियों के बिंबों को भी ग्रंथकार अपनी भावनाओं में अंतर्भूत करके ही चल रहे हैं।

अब प्रश्न यह हो सकता है कि जब 'जिन' शब्द में पाँचों परमेष्ठी अंतर्भूत हैं तो ग्रंथकार ने सिद्धों को अलग से नमस्कार क्यों किया? तब कहते हैं कि व्यक्ति की जिनके प्रति विशेष भक्ति या श्रद्धा होती है तब अलग से नाम लेकर उसको प्रकट किया जाता है। जिस प्रकार चौबीस तीर्थंकरों की जयकार लगाने पर भी किन्हीं विशेष तीर्थंकर की भक्ति उन्हें उनका नाम लेकर जयकारा लगाने को प्रेरित करती है। तब यह उनकी सिद्धों के प्रति विशेष भक्ति को प्रदर्शित करती है और प्रत्येक भव्य जीव की सम्यक् अवस्था सिद्ध अवस्था

है। संपूर्ण कर्मों का क्षय हो, सिद्ध अवस्था की प्राप्ति हो, इस भावना के साथ सिद्धों को प्रथम नमस्कार किया।

पुनः ग्रंथकार यहाँ धर्म नायक को नमस्कार करते हैं। धर्मनायक से ग्रंथकार का आशय धर्म तीर्थ का प्रवर्तन करने वाले तीर्थंकरों से है। जिनके आगे-आगे धर्म चक्र चलता है। धर्म तीर्थ का प्रवर्तन करने वाले तीर्थंकर ही होते हैं। वैसे तो पंचपरमेष्ठियों में इनका भी अन्तर्भाव हो जाता है। किंतु "न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरंति" सज्जन साधु जन किए हुए उपकार को भूलते नहीं हैं। यदि तीर्थंकर महापुरुष धर्म तीर्थ का प्रवर्तन नहीं करते तो संसार के अन्य प्राणी धर्म का समीचीन स्वरूप किस प्रकार जानते, अपना कल्याण करने में कैसे समर्थ होते? यह ग्रंथकार के साधु स्वभाव को प्रदर्शित करता है, धर्म नायकों को प्रणाम करना उनकी सरलता, सहजता व सज्जनता का द्योतक है अथवा धर्म नायक कहने से धर्म की विशेषता प्रकट कर जिन धर्म को भी यहाँ प्रणाम करते हैं अथवा जब भगवान की दिव्य ध्वनि खिरी तब ज्ञान का दिव्य आलोक इस धरती पर हुआ अतः भगवान की द्वादशांगमयी वाणी को भी नमस्कार करते हैं। अथवा तीर्थंकर भगवान जहाँ विराजमान हैं ऐसे समवशरण या चैत्यालय जो समवशरण के प्रतीक माने जाते हैं उनको नमस्कार करते हैं।

मंगलाचरण के द्वि पदों में ग्रंथकार ने जैन संप्रदाय में प्रसिद्ध एवं परम पूजनीय नव देवताओं को प्रणाम करके आगे कुछ कार्य करने की भावना भायी है। क्योंकि आस्तिक व्यक्ति बिना मंगलाचरण किए कोई शुभ कार्य आरंभ नहीं करते। ग्रंथकार की शुभ भावनाओं का प्रगटीकरण तो इस संकल्प में भी दिखाई दे रहा है कि 'वोच्छे हं' (ग्रंथकार) राष्ट्र शांति के लिए कुछ कहता हूँ। यहाँ राष्ट्र उपलक्षण मात्र है क्योंकि इस ग्रंथ में राष्ट्र, राजा, प्रजा, मंत्री मंडल, पुरोहित, दंडनायक, अधिवक्ता, वैद्य, देशभक्त, धर्मात्मा सज्जनों के लक्षणों के

साथ-साथ सुखद जीवन जीने के लिए जल, वृक्ष, वन, पर्वतादि का भी महत्त्व बताया है।

इससे सिद्ध होता है ग्रंथकार की दृष्टि में लघु और महान सभी महत्त्वशाली हैं। ग्रंथकार नि:संदेह एक साधक ही होना चाहिए क्योंकि निर्मल चित्त के साधक के बिना प्राणी मात्र के सुख शांति की भावना, प्रार्थना और साधना आज के इस भौतिकवादी जगत में कौन कर सकता है ? जिस काल में व्यक्ति दूसरों के अधिकारों को छीनकर अपने अल्प सुख के लिए दूसरों को बहुत सारा दु:ख देकर संतुष्टि का अनुभव करता हो, दूसरों के दु:खों को देखकर किंचित भी रूह न काँपती हो ऐसी अवस्था में अपनी समस्त भावनाओं को माला के धागे में पिरोए हुए मोतियों की तरह समस्त प्राणियों के हित की या विश्व शांति की भावना एक योगी के सिवाय और कौन भा सकता है? अर्थात् कोई नहीं।

ग्रंथकार के मंगलाचरण से यह बात भी सिद्ध होती है, सूर्य के प्रकाश की तरह स्पष्ट ही अनुभव में आती है कि उसने इस ग्रंथ की रचना प्रत्येक व्यक्ति को कर्तव्यशील, धर्मनिष्ठ, दु:ख सहिष्णु, परोपकारी, मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, वात्सल्य भावनाओं से युक्त हो सुखी जीवनयापन करने के निमित्त से ही की है।

नास्तिकत्व परीहार:, शिष्टाचार प्रपालनम्।
पुण्यावाप्तिश्च निर्विघ्न:, शास्त्रादौ तेन संस्तुति:॥

नास्तिकता का त्याग, शिष्टाचार का पालन, पुण्य की प्राप्ति और विघ्न की रहितता इन चार लाभों के लिए शास्त्र की आदि में श्री जिनेंद्र की स्तुति की जाती है। इस प्रकार श्लोक में कहे हुए जो चार फल हैं, उनको उत्तम रीति से देखते हुए शास्त्रकार अभीष्ट, अधिकृत तथा अभिमत ऐसे तीन प्रकार के देवता के अर्थ मन, वचन और काय इन तीनों द्वारा नमस्कार करते हैं।

धर्म का स्वरूप

कत्तव्व-पालणं धम्मो, तहा जीवाण रक्खणं।
लोगिग-परमट्ठाणं, णेयो भेयेण बेविहो॥२॥

अर्थ:-जिस प्रकार निश्चय से कर्त्तव्यों का पालन करना ही महा धर्म है, उसी प्रकार जीवों की रक्षा करना भी महा धर्म है। यद्यपि जिनेंद्र देव ने लौकिक व परमार्थ के भेद से धर्म दो प्रकार का कहा है।

To obey one's duty is definitely the highest form of religion, in the same way to protect the creatures is also the ultimate form of religion. Although Jinendra Deva-omniscient (a being who has destroyed four destructive karmas) has described two types of religion-worldly and spiritual religion. Worldly religion means a religion from practical point of view and spiritual religion means a religion from the standard point of view.

भावार्थ:-धर्म क्या है? इसको परिभाषित करते हुए आचार्य श्री योगीन्द्र देव परमात्म प्रकाश में कहते हैं-

भाउ विसुद्धणु अप्पणउ धम्मु भणेविणु लेहु।
चउगइ दुक्खह जो धरइ जीउ पडंतउ एहु॥

अपने विशुद्ध भाव को ही धर्म मानकर ग्रहण करो। यह संसार में पड़े हुए जीवों की चतुर्गति के दु:खों से रक्षा करता है।

पंचाध्यायी में कहा है-

धर्मोनीचैः पदादुच्चैः पदे धरति धार्मिकम्।
तत्राजवज्जवो नीचैः पदमुच्चैस्तदव्ययः॥

जो धर्मात्मा पुरुषों को नीचपद से उच्चपद में धारण करता है वह धर्म कहलाता है तथा उनमें संसार नीचपद और मोक्ष उच्चपद है।

संसार में इस बात को बाल गोपाल सभी जानते हैं कि जीवन में सुख की प्राप्ति बिना धर्म के कभी नहीं हो सकती। किंतु उस धर्म का स्वरूप हर व्यक्ति के लिए समझ पाना बड़ा कठिन है। कोई धर्म की परिभाषा दया रूप कहता है कोई सत्य रूप, कोई परोपकार को ही धर्म मानता है तो कोई भाई चारे को, कोई माता-पिता की सेवा को ही धर्म मानता है तो कोई प्रभु भक्ति को, कोई संत-महात्मा जनों की उपासना को धर्म मानता है तो कोई तीर्थ यात्रा को, कोई शील व्रत उपवास को धर्म मानते हैं तो कोई शास्त्रों के अध्ययन को, कोई चार प्रकार के दानों को धर्म मानते हैं तो कोई पूजा पाठ को, कोई रत्नत्रय को धर्म मानता है तो कोई क्षमा आदि दसलक्षणों को, कोई सम्यग्दर्शन को धर्म मानते हैं तो कोई अकेले चारित्र को, कोई आत्मा के शुद्ध स्वभाव को धर्म मानता है तो कोई आत्मा के शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति के कारणों को।

'धम्मो दया विसुद्धो' या **'अहिंसादिलक्षणो धर्मः'** या **'सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः'।**

गणधरादि आचार्य सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र को धर्म कहते हैं। अथवा

चारित्तं खलु धम्मो-चारित्र ही धर्म है। अथवा

मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो।

मोह व क्षोभ रहित अर्थात् रागादि से रहित आत्मा का परिणाम धर्म है।

धर्म की ये समस्त उक्त व्याख्याएँ जिन विद्वानों ने, ऋषियों ने, मुनियों ने, संतों ने, अरिहंत और भगवंतों ने प्रतिपादित की हैं, कही हैं या लिखी हैं यद्यपि वे सभी उचित हैं किंतु फिर भी प्रारंभिक धर्माभिलाषी को भटकाने वाली व उलझनों में डालने वाली भी हो

सकती हैं शायद इसीलिए ग्रंथकार ने धर्म की ऐसी परिभाषा दी है जिसमें सभी परिभाषाएँ अन्तर्निहित हो जाएँ, जो सबको समझ भी आ जाए, जो पक्षपात, हठाग्रह, दुराग्रह एवं व्यामोह आदि से रहित लोकप्रिय व सर्व मन भावन है। धर्म की वह परिभाषा धर्म के क्षेत्र में प्रथम कदम रखने वाले से लेकर अंतिम कदम रखने वाले तक सभी पर समान रूप से लागू होती है। जिस प्रकार प्रथम कक्षा में अध्ययन करने वाले विद्यार्थी से लेकर अंतिम कक्षा में अध्ययन करने वाले सब विद्यार्थी ही होते हैं। विद्या अध्ययन उनका मुख्य कार्य या मुख्य लक्षण होता है, उसी प्रकार इस जगत के धर्म मंदिर में सभी धर्मार्थी हैं और वे अपने कर्त्तव्यों का निष्ठा से पालन करने के लिए बाध्य भी हैं। जो कोई भी अपने कर्त्तव्यों का निष्ठा से पालन नहीं करता वह धर्म हीन पद च्युत है।

कक्षा में अध्ययन करने वाला जो कोई विद्यार्थी यदि अच्छे अंकों से उत्तीर्ण होता है तो वह पुरस्कार का अधिकारी होता है। उसी प्रकार धर्म के क्षेत्र में जो कोई भी अपने कर्त्तव्यों का निष्ठा से पालन करता है वह भी आत्म धर्म को पुरस्कार के रूप में प्राप्त करता ही है। अत: ग्रंथकार ने अल्प शब्दों में सारगर्भित जो परिभाषा दी है, वह सब पर समान रूप से लागू होती है। जो जिस पद पर आसीन है उसे वहाँ रहकर उस पद के अनुकूल सब कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिए तभी वह प्रशंसनीय होता है।

यहाँ ग्रंथकार कह रहे हैं कर्त्तव्य ही धर्म है। यदि कोई कुतर्की कहे कोई चोर चोरी करता है तो क्या वह उसका धर्म है और व्यसनी व्यसनों में लिप्त है तो क्या वह उसका धर्म है तो ग्रंथकार उन भव्य जीवों को इस प्रकार समझाना चाहते हैं, अरे भोले प्राणी ! यहाँ अकर्त्तव्य को नहीं कर्त्तव्य को ही धर्म कहा है। चोरी करना, झूठ बोलना, जीव वध करना, कुशील सेवन, अनावश्यक वस्तुओं का

संचय ये मानव के कर्त्तव्य नहीं हैं अपितु अकर्त्तव्य हैं और अकर्त्तव्य ही अधर्म तथा पाप कहलाता है।

संस्कृत व प्राकृत भाषा में तव्य या तव्वो प्रत्यय लगाने से 'के योग्य' ऐसा अर्थ होता है। कत्तव्वो शब्द का अर्थ हुआ सुखाभिलाषी सज्जन पुरुषों के द्वारा करने योग्य कार्य। अतः ग्रंथकार की यह सूक्ति "कर्त्तव्य ही महा धर्म है" हर क्षेत्र में, हर काल में, हर वर्ण, वर्ग, संप्रदाय में, हर मंद कषायी, सुखाभिलाषी भव्य प्राणी के लिए आदरपूर्वक सर्वदा ग्राह्य है।

व्यक्ति जहाँ है यदि वहाँ रहकर वह अपने कर्त्तव्य का पालन कर रहा है तो वह धर्म है। एक बार गणेश प्रसाद वर्णी जी रेल से यात्रा कर रहे थे, परंतु जहाँ उन्हें पहुँचना था उसके टिकट के लिए उनके पास पर्याप्त धन नहीं था। उनके पास जितना धन था उससे टिकट ले आधा मार्ग तय किया। पुनः रेल से उतरकर देखा तो कुछ मजदूर काम कर रहे थे। वे भी उनके साथ पहुँचे, काम किया और आगे के टिकट के लिए धनार्जन कर आगे की यात्रा तय की।

इसी प्रकार एक बार गोपाल दास बरैया जी, जो एक आदर्श जैन श्रावक थे, अपने पुत्र के साथ बस में यात्रा कर कहीं जा रहे थे। उन्होंने अपना पूरा व अपने पुत्र का आधा टिकट लिया। कुछ समय बाद उन्हें याद आया कि आज ही मेरे पुत्र का जन्मदिन है और मेरा पुत्र आठ साल का पूर्ण हुआ है। उन्होंने तुरंत कंडक्टर को बुलाया और कहा क्षमा कीजिए मैं भूल गया था आज ही मेरा बेटा 8 वर्ष का पूर्ण हुआ है उसका टिकट पूरा लगेगा। कंडक्टर ने टिकट तो पूरा दे दिया किंतु वह आश्चर्यचकित था। वह बोला आश्चर्य होता है कि आज भी दुनिया में ऐसे लोग हैं। गोपालदास जी बोले इसमें आश्चर्य क्या है मैंने तो अपने कर्त्तव्य का पालन किया है। आशय यह है कि जब व्यक्ति

अपने कर्त्तव्यों का पालन निरंतर करता है तब वह धर्म को समझता है और सही रूप में उसे जीता है।

ग्रंथकार ने धर्म का दूसरा पक्ष प्राणियों की रक्षा रूप बताया है अर्थात् जिस धर्म या कर्त्तव्य का पालन करने से किसी प्राणी का घात होता हो या घात करने रूप मुख से वचन निकलते हों या घात करने का मन में विचार आता हो तो वह धर्म नहीं हो सकता। सबके लिए अच्छा करो, अच्छा बोलो, अच्छा सोचो, अच्छा देखो और अच्छा सुनो यही धर्म का मूल है। "आत्मान: प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्" जो अपनी आत्मा के प्रतिकूल है ऐसा व्यवहार किसी से मत करो, जो स्वयं की आत्मा को पसंद नहीं ऐसा भाव भी किसी के प्रति मत लाओ।

काल सौकरिक अपने समय का कुख्यात कसाई था। प्रतिदिन शताधिक पशुओं का वध करता था परंतु कौओं के बीच हंस के समान उसका पुत्र बहुत दयालु प्रवृत्ति का था। हिंसा से उसे ग्लानि थी। पिता चिंतित थे व्यापार कौन सम्हालेगा? एक दिन सौकरिक की मृत्यु हो गई। लोगों ने पुत्र से कहा अब तुझे सब सम्हालना है और परिवार प्रमुख की पगड़ी बांधने से पूर्व उसके हाथ में तलवार देकर कहा कि तुझे इस भैंस को मारना है। उसने मना कर दिया। परिवार वाले बोले ये कुल परंपरा है। उसने कहा आप मुझे बाध्य नहीं कर सकते। बोले तलवार तो तुझे चलानी होगी वरना तेरे पिता की बदनामी होगी। वह बोला ठीक है यदि तलवार चलाना इतना जरूरी है तो मैं अपने पैर पर चलाऊँगा और यह कहकर जैसे ही उसने तलवार उठायी लोगों ने उसे रोक लिया और बोले पागल हो गए हो क्या? पैर काटकर कष्ट के साथ कैसे रहोगे, उम्र भर रोते रहोगे। वह बड़े ही गंभीर व शांत स्वर में बोला कि जैसे मुझे दर्द होता है वैसे ही इसको भी होता होगा। जैसे हम सबको अपने प्राण प्यारे हैं वैसे ही सब जीवों को

अपने प्राण प्यारे हैं चाहे फिर वह पशु हो या पक्षी। मैं पिताजी का उत्तराधिकारी हूँ, इन दुष्कृत्यों का नहीं।

आचार्य महाराज कहते हैं-

इष्टो यथात्मनो देहः सर्वेषां प्राणिनां तथा।
एवं ज्ञात्वा सदा कार्या दयाऽसुधारिणामपि॥

जिस प्रकार अपना शरीर अपने लिए इष्ट है, उसी प्रकार सभी प्राणियों के लिए इष्ट है। ऐसा जानकर सब प्राणियों पर दया करनी चाहिए।

यही बात महाभारत में भी कही-

न हि प्रियतमं प्राणैः लोके किंचन विद्यते।
तस्मात् प्राणिदया कार्या यथाऽत्मनि तथा परे॥

संसार में प्राणों के समान प्रियतम दूसरी कोई वस्तु नहीं है। अतः समस्त प्राणियों पर दया करनी चाहिए। जैसे अपने ऊपर दया अभीष्ट होती है, वैसे ही दूसरों पर भी होनी चाहिए।

जीवों की रक्षा करना ही महा धर्म है इसीलिए तो इस अनादिनिधन वाक्य 'अहिंसा परमो धर्मः' अथवा 'जीयो और जीने दो' का सब जगह आदर और सम्मान किया जाता है।

आचार्य भगवन् कहते हैं-

अहिंसकानि भूतानि, यो हिनस्ति स निर्दयः।
तस्य कर्मक्रिया व्यर्था, वर्द्धते वापदः सदा॥

जो निरपराध जीवों का घात करता है वह निर्दयी है। उसकी पुण्य क्रिया निष्फल होती है, विपत्तियाँ वृद्धिंगत हो जाती हैं। अतः अहिंसक बनो।

इन सूत्र वाक्यों को जीवन में धारण किए बिना न तो धर्म किया जा सकता है, न जीया जा सकता है, न किसी से लिया जा सकता है और न ही किसी को दिया जा सकता है। यह धर्म वाक्य तो अमृत कलश की तरह से है जिसे आँख बंद करके जीवंत चेतना के द्वारा बिना अधर खोले ही पिया जा सकता है।

तृतीय पद में ग्रंथकार ने धर्म के दो रूप बताएँ हैं, एक लौकिक धर्म, दूसरा पारमार्थिक धर्म। संसार में, समाज में, समुदाय में, किसी वर्ग, समूह एवं संप्रदाय आदि के साथ जीते हुए लौकिक धर्म का पालन करना भी सुखद जीवन की अनिवार्य शर्त है किंतु वह अकर्त्तव्य रूप और जीव वध रूप नहीं होना चाहिए। लौकिक धर्म में निष्णात हुए व्यक्ति ही परमार्थ धर्म में प्रवेश करने में समर्थ होते हैं। धर्म का लक्षण आचार्य भगवन् इस प्रकार बताते हैं-

पञ्चपरमेष्ठ्यादिभक्तिपरिणामरूपो व्यवहारधर्मस्तावदुच्यते।

पंच परमेष्ठी आदि की भक्ति परिणाम रूप व्यवहार धर्म होता है।

व्यवहारधर्मे च पुनः षडावश्यकादि-लक्षणे गृहस्थापेक्षया दानपूजादि-लक्षणे वा शुभोपयोगस्वरूपे रतिं कुरु।

परमात्म प्रकाश टीका में कहा है कि साधुओं की अपेक्षा षडावश्यक लक्षण वाले तथा गृहस्थों की अपेक्षा दान पूजादि लक्षण वाले शुभोपयोग स्वरूप व्यवहार धर्म में रति करो।

अब निश्चय धर्म को परिभाषित करते हुए आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी कहते हैं:-

चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो, परिणामो अप्पणो हि समो॥

चारित्र ही धर्म है। जो धर्म है सो साम्य है और साम्य मोहक्षोभ रहित (रागद्वेष तथा मन, वचन, काय योगों रहित) आत्मा के परिणाम धर्म है।

व्यवहार धर्म नदी के किनारे पहुँचने के समान है, निश्चय धर्म उस नदी में कूदकर तैरते हुए दूसरे किनारे तक पहुँचना है अर्थात् नदी के समीप पहुँचे बिना कोई नदी में कूद नहीं सकता उस नदी या सागर के समीप पहुँचने के अनेक मार्ग हो सकते हैं और होते भी हैं।

जैसा कि आज हम प्रत्यक्ष में भी व्यवहार धर्म के अनेक रूप देखते हैं किंतु निश्चय से धर्म एक रूप था, एक रूप है और एक रूप ही रहेगा।

आगे ग्रंथकार की सरलता, सहजता व लघुता तो देखिए जिसमें उन्होंने स्वयं को कर्तापने से अलग कर लिया है। उन्होंने काव्य में यह नहीं कहा कि इस प्रकार के धर्म को मैं कहता हूँ अपितु उन्होंने यह कहा अनादिकाल से अनंतानंत केवली जिनेन्द्र देवों ने इस प्रकार का धर्म कहा है, जो मैंने पूर्ववर्ती आचार्यों से सुना है, धर्म शास्त्रों में पढ़ा है और साधना के दौरान आत्मानुभूति रूप अनुभव में आया है। ग्रंथकार स्वयं भी जीव रक्षण स्वरूप आत्म शांति या स्व-पर शांति के कार्यों को ही अपना धर्म कर्त्तव्य मानते हैं।

चित्त-शुद्धि

कसायुवसमेणं च, चित्त-सुद्धी हु संभवो।
णिच्चं चित्तस्स सुद्धी सा, सव्व-संतीइ कारणं॥३॥

अर्थ:-कषाय के उपशम से ही चित्त की शुद्धि संभव है और चित्त की शुद्धि नित्य ही सबकी शांति का कारण है।

Purity of conscience is possible by subsidence of passions and the purity of the conscience is the cause of everyone's peace surely.

भावार्थ:-आत्मा के भीतरी कलुष परिणाम को कषाय कहते हैं। पंचसंग्रह में आचार्य भगवन् अमितगति स्वामी कहते हैं-

सुहदुक्खं बहुसस्सं कम्मक्खित्तं कसेइ जीवस्स।
संसारगदी मेरं तेण कसाओ त्ति णं विंति॥

कषाय को कृषक की उपमा देते हुए "पंच संग्रह" में कहा गया है कि 'कषाय' एक ऐसा कृषक है जो चारों गतियों की मेंढ़ वाले कर्म रूपी खेत को जोतकर सुख-दु:ख रूपी अनेक प्रकार के धान्य उत्पन्न करता है।

अथवा राजवार्तिककार इस प्रकार प्ररूपित करते हैं-

क्रोधादिपरिणाम: कषति हिनस्त्यात्मानं कुगतिप्रापणादिति कषाय:।

क्रोधादि परिणाम आत्मा को कुगति में ले जाने के कारण कषते हैं; आत्मा के स्वरूप की हिंसा करते हैं अत: ये कषाय हैं।

कष: संसार: तस्य आप: प्राप्तय: कषाया।

"कषाय" शब्द दो शब्दों के मेल से बना है "कष् + आय" "कष" का अर्थ 'संसार' है क्योंकि इसमें प्राणी विविध दु:खों के

द्वारा कष्ट पाते हैं, ''आय'' का अर्थ है 'लाभ'। इस प्रकार कषाय का सम्मिलित अर्थ यह हुआ कि जीव के जिन भावों के द्वारा संसार की प्राप्ति हो, वो कषाय भाव हैं।

आचार्य वीरसेन स्वामी ने भी कषाय की कर्मोत्पादकता के सम्बन्ध में लिखा है-

दुःख शस्यं कर्म-क्षेत्रं कर्षन्ति फलवत् कुर्वन्तीति कषायाः क्रोध- मान-माया-लोभाः

जो दुःख रूप धान्य को पैदा करने वाले कर्म रूपी खेत का कर्षण करते हैं, जोजते हैं, फलवान् करते हैं वे क्रोध मानादिक कषाय हैं।

चारित्रपरिणामकषणात् कषायः।

चारित्र परिणाम को कषने के कारण या घातने के कारण कषाय है।

जो आत्मा को कसे अथवा आत्मा को कृषे उसे कषाय कहते हैं। जिस प्रकार कोई लकड़हारा लकड़ी के गट्ठर को मजबूत रस्सी से कसकर के बांधता है इससे लकड़ियाँ टूटती भी हैं, कसती भी हैं तथा किसान हल के माध्यम से या फावड़े के माध्यम से भूमि को कृषता है या खोदता है जिससे मिट्टी परिवर्तित होती है सहज अवस्था में नहीं रह पाती, उसी प्रकार कषाय भी आत्मा को सहज अवस्था में नहीं रहने देती। अथवा अग्नि के संप्रयोग से जल अपनी शीतलता छोड़कर उबलने लगता है या हवा के प्रचंड थपेड़ों से लहरों में परिवर्तित होता है अथवा जलचर जंतुओं द्वारा उद्वर्तित कर देने से मिट्टी युक्त गंदा हो जाता है अथवा उच्च स्थान से नीचे की ओर बहता हुआ तीव्र प्रवाह से गतिमान होता है तब उस जल में कोई भी प्रतिबिंब स्पष्ट नहीं झलकता और न ही वह जल की सहजावस्था है।

इन चारों कारणों से जल की शीतलता, निर्मलता, स्थिरता, पंक प्रक्षालन आदि गुण नष्ट हो जाते हैं। उसी प्रकार क्रोध, मान, माया, लोभ के तीव्र उदय में आत्मा की सहज अवस्था नष्ट हो जाती है। उसके ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुण पूर्णतः वा आंशिक रूप से नष्ट हो जाते हैं।

जब जल सहज अवस्था में रहता है, उसके कृत्रिम विकार नष्ट हो जाते हैं तब उसके समग्र गुण भी प्रकट होने लगते हैं उसी प्रकार चेतना में विद्यमान कषायें या मोहनीय कर्म जब पूर्णतया नष्ट हो जाता है तब आत्मा में स्वाभाविक ज्ञान आदि गुणों की अनंतकाल के लिए संप्राप्ति हो जाती है और यदि कषाय युक्त भावों को व कषायों को जितनी देर के लिए दबा दिया जाता है उतने समय तक चेतना सहज अवस्था को प्राप्त होती है उसके ज्ञान आदि गुण निर्मल होने लगते हैं। जैसे गंदे पानी में कतकफल या फिटकरी डाल देने से वह जल कुछ समय के लिए निर्मल दृष्टिगोचर होता है उसी प्रकार आत्मा में सुख शांति की अनुभूति होती है।

कषायों के उपशमन के बिना किसी भी प्राणी का चित्त निर्मल नहीं हो सकता। गंदा, अपवित्र, अशुद्ध चित्त चेतना की सहज परिणति को दर्शाने में उसी प्रकार असमर्थ होता है जिस प्रकार गंदे दर्पण में निर्मल पदार्थ भी निर्मल नहीं दिखते।

यदि दर्पण पूर्णतया मलिन है तब तो उसमें चित्र दिखते ही नहीं और आंशिक मलिन है तो उसमें क्वचित्-कदाचित् मलिन चित्र ही दिखते हैं। चित्त की मलिनता चेतना की सहज परिणति में नियम से बाधक होती है। अतः विवेकी जनों को कषाय के उपशमन का निरंतर प्रयास करते रहना चाहिए। कषायों का उपशमन तभी संभव है जब अशुभ निमित्तों से अपनी आत्मा को पूर्ण रूप से बचा लिया जाये अथवा अपनी आत्मा को इतना प्रभावी बना लिया जाए कि उस पर अशुभ निमित्तों का प्रभाव ही न पड़े।

कषायों को शांत करने का दूसरा उपाय है निरंतर शुभ निमित्तों के बीच में रहना। ग्रंथकार यहाँ शुभ निमित्तों की प्रेरणा भी देना चाहते हैं जिनसे कषाय शांत होती हैं और चित्त निर्मल। ग्रंथकार का यह यथार्थ या अनुभविक ज्ञान ही होगा कि चित्त की शुद्धि के बिना शांति नहीं मिलती। अत: ग्रंथकार सच्चे देव, सच्चे शास्त्र एवं यथाजात दिगंबर गुरु की संगति में रहने की प्रेरणा भी देना चाहते हैं। पंच परमेष्ठी या आचार्य, उपाध्याय, साधु तीन परमेष्ठी का प्रत्यक्ष सान्निध्य अथवा इनके वीतरागमय जिनबिंब आसन्न भव्य जीवों की कषायों का उपशमन करने में निमित्त बन जाते हैं। जिन वचनों का आलंबन भी कषाय भाव को वैसे ही शांत कर देता है जैसे आकाश में छाई हुई श्याम बदली को प्रचंड हवा उड़ाकर दूसरी ओर ले जाती है अथवा ठड़ी हवा श्याम बादलों से सूर्य के प्रकाश को ढक देती है।

धर्म कार्य में बिना किसी आकांक्षा के लीन रहना, साधर्मी के गुणों का चिंतन करना या किसी भी परमेष्ठी की उपासना करना कषायों को उपशमित एवं चित्त को शुद्ध करने का अचूक उपाय है। जिसका चित्त शुद्ध होता है उसे नियम से शांति की प्राप्ति होती है। ग्रंथकार "रट्ठ संति महाजग्गो" नामक ग्रंथ में राष्ट्र की शांति, विश्व की शांति, प्राणी मात्र के चित्त की शांति एवं आत्म शांति की प्राप्ति के लिए भावना एवं साधनारत हैं। कहा है-

अर्हद भक्ति सदा मन आने, सो जन विषय कषाय न जाने।

जो प्राणी जिनेन्द्र भक्ति में अनुरक्त है उसके चित्त रूपी जल को विषय-कषाय रूपी बड़े-बड़े मगरमच्छ गंदा नहीं करते। निर्मल मन में ही प्रभु का वास होता है और भगवन् ! जहाँ होते हैं आप, वहाँ टिक नहीं पाते हैं पाप। पाप से रहित चित्त ही शांत हो सकता है।

वैदिक ग्रंथ में भी कहा है-

यथा भूमिर्मृतमना मृतान्मृतमनस्तरा।
यथोत मम्रुषो मन एवेर्ष्योर्मृतं मनः॥

ईर्ष्या-द्वेष और घृणा करने वालों का मन वैसे ही मुरझा जाता है, जिस प्रकार मृत मनुष्य का मन मर जाता है या जिस प्रकार भूमि जड़ होती है। यह विचार कर कभी किसी से घृणा न करें।

विषय-कषायों से कुंठित मन कभी शांति की प्राप्ति नहीं कर सकता। किसी नगर के बाहर मंदिर में एक व्यक्ति रहता था जो अत्यंत शांत व संतोषी था। उस मंदिर में एक दिन एक सेठ पहुँचे। बहुत से गाँव के लोग भी उसके पीछे-पीछे आए। उस सेठ की प्रतिष्ठा को देखकर, उस व्यक्ति के मन में सेठ जैसा बनने का भाव आया। उसने सोचा सेठ अपने धन-वैभव के कारण बहुत सुखी प्रतीत होता है। पुनः वह उसके सुख का राज जानने उस सेठ के पास पहुँचा और बोला आप सुखी कैसे हैं? सेठ बोला मैं सुखी कहाँ हूँ। मेरी शादी को 15 साल हो गए परंतु अभी तक मेरे पुत्र नहीं है। हाँ! इस नगर का सेठ जिसके पास धन-धान्य के साथ-साथ चार पुत्र भी हैं वह सुखी है। वह व्यक्ति उसके पास गया और बोला भाई साहब ! क्या आप सुखी हैं? वह बोला मैं कहाँ सुखी हूँ? मेरे पुत्र मेरी आज्ञा नहीं मानते और यह कहकर रोते हुए बोला कि इस नगर में एक और धनिक व्यापारी है जिसके आज्ञाकारी पुत्र व पुत्रवधुएँ हैं वह सुखी है। वह व्यक्ति वहाँ पहुँचा और पूछा क्या आप सुखी हैं? वह बोला मैं कहाँ सुखी हूँ। मेरे क्रोध और अहंकार ने मुझे कहीं का नहीं छोड़ा। मैंने अपने गुस्से में अपना सब कुछ खो दिया। यह कह दुःखी होता हुआ बोला अरे भाई! सुखी व्यक्ति से मिलना हो तो इसी नगर के बाहर मंदिर में एक व्यक्ति रहता है जो संतोषी और शांत स्वभावी है उससे ज्यादा सुखी और कोई नहीं। यह बात सुनते ही वह व्यक्ति आश्चर्य में पड़ गया कि यह तो मेरे ही विषय में कह रहा है और

तुरंत वहाँ से लौट गया। उसने चिंतन किया कि जब तक व्यक्ति का मन क्रोधादि कषायों व विषयों से दूर होता है तब तक वह सुखी है, शांत है। आज ही सेठ को देख मन में विषय-कषायों की लहर उठी और पूरा दिन नगर में घूमता रहा, मन अशांत हो गया। तब जिसके चित्त में प्रतिपल विषय-कषाय रूपी मगरमच्छ तैर रहे हैं उसको शांति की प्राप्ति कैसे हो सकती है।

सत्यता यही है विषय और कषायों से परिपूरित मन कभी शांति की प्राप्ति नहीं कर सकता। कषायों के उपशमन से ही चित्त की शांति हो सकती है।

जिसके चित्त में शांति है वही वास्तव में जीवंत आत्मा कहा जाता है जैसा कि कहा भी है-

शांति-तुष्टि-पवित्रं च, आनन्दमिति तत्त्वतः।
जीवनं जीवनं प्राहु, भारतीय-सुसंस्कृतौ॥

जिसके चित्त में शांति-तुष्टि-पवित्रता और स्वाभाविक आनंद विद्यमान है, भारतीय संस्कृति में उस जीवन को ही यथार्थ जीवन कहा है।

संभव है ग्रंथकार दूसरों की शांति की भावना भाकर स्वयं की शाश्वत शांति को प्राप्त करना चाहते हैं क्योंकि संसार में आज तक ऐसा कोई भी पुरुष नहीं हुआ जिन्होंने दूसरों की सुख शांति की भावना भाए बिना शाश्वत सुख शांति को प्राप्त कर लिया हो।

दया धर्म का मूल

जहा गवं विणा वच्छो, होदि रायं विणा पया।
गुरुं विणा ण सण्णाणं, तह धम्मो दयं विणा॥४॥

अर्थ:-जिस प्रकार गाय के बिना बछड़ा, राजा के बिना प्रजा, गुरु के बिना ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार दया के बिना धर्म नहीं होता है।

As there cannot be a calf without cow, no subject without a king and no knowledge can be attained without a preceptor, in the same way there can be no religion without mercy.

भावार्थ:-न्याय की भाषा में अविनाभावी सम्बंध को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। जिसके बिना जो न हो तथा जिसके होने पर जो हो वह अविनाभावी संबंध होता है। जैसे जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि है, जहाँ अग्नि नहीं है वहाँ धूम भी नहीं है अथवा जहाँ-जहाँ उष्णता है वहाँ-वहाँ अग्नि है, जहाँ उष्णता नहीं वहाँ अग्नि नहीं। ग्रंथकार प्रस्तुत श्लोक के माध्यम से अविनाभावी संबंध बताते हुए नीतियों को प्रस्तुत कर रहे हैं। जिस प्रकार गाय के बिना बछड़ा नहीं हो सकता, बछड़े का जन्म जब भी होगा गाय से ही होगा। संभव है ग्रंथकार यहाँ गाय-बछड़े को उपलक्षण मान रहे हों मूलत: ग्रंथकार कहना चाहते हैं गाय के मायने जिनवाणी और बछड़े के मायने मोक्षमार्गी, धर्म वत्सल, कल्याणेच्छुक।

जिनवाणी के अमृतोपमा वचनों के बिना कोई भी भव्य जीव न तो उपशम, क्षयोपशम न क्षायिक सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने में समर्थ होता है, न ही व्यवहार निश्चय सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने में समर्थ होता है। जिनवचन रूपी दिव्य प्रकाश के बिना कोई भी भव्य जीव चेतना में विद्यमान अज्ञान रूपी अंधकार को नष्ट करने में समर्थ नहीं

होता और न ही सम्यग्ज्ञान का संवर्द्धन करने में समर्थ होता है। जिनवाणी रूपी गाय के अमृतोपमा दुग्ध रूपी वचनों के माध्यम से ही जीवन में भक्ति, वैराग्य, विनय, तप, वात्सल्य संवेगादि गुण प्रादुर्भूत एवं संवर्द्धित होते हैं।

ग्रंथकार द्वितीय उदाहरण के माध्यम से अपनी बात की पुनः पुष्टि करते हैं कि राजा के बिना प्रजा उसी प्रकार अस्तित्व विहीन हो जाती है जिस प्रकार ट्रेन के डिब्बे, बिना इंजन के बिखर जाते हैं या पात्र के आधार के बिना घृत, तेल, दुग्धादि तरल पदार्थ बिखर जाते हैं अथवा बोरा आदि के बिना शक्कर, गेहूँ आदि के दाने बिखर जाते हैं। राजा प्रजा का संरक्षण, संवर्द्धन व कुशलता से संचालन करता है। जिस प्रकार सूर्य चंद्र आदि के बिना तारों का कोई विशेष महत्त्व नहीं होता उसी प्रकार राजा के बिना प्रजा को संगठित कर पाना कठिन है। जिस प्रकार चाशनी के बिना बूँदी, मूँगफली, मुरमुरा, रजगिरा के लड्डू बन नहीं सकते उसी प्रकार कुशल शासक के बिना प्रजा को एक सूत्र में बांधकर उसे गंतव्य तक ले जाना अशक्य है।

जिस प्रकार दीपक के बिना प्रकाश नहीं होता, सीप के बिना मोती नहीं होता, मेघ के बिना वर्षा नहीं होती, भेद के बिना चोरी नहीं होती, दाम्पत्य जीवन के बिना वंशवृद्धि नहीं होती, सम्यक्त्व के बिना सम्यक् ज्ञान नहीं होता, रत्नत्रय के बिना मोक्ष नहीं होता उसी प्रकार परमार्थ में आसक्त स्व-पर हितैषी गुरु के बिना कोई भी आत्माभिलाषी भव्य अपने ज्ञान का संवर्द्धन नहीं कर सकता। गुरु शब्द का तो अर्थ ही है अंधकार को विनाशकर प्रकाश को देने वाला। जैसे कि कहा है-

गुशब्दस्त्वंधकारे च, रुशब्दस्तन्निवर्तकाः।
अंधकार-विनश्यत्वात्, गुरु संज्ञा विधीयते॥

'गु' का अर्थ है अंधकार, 'रु' का अर्थ उसका निवर्तक अर्थात् अंधकार का निवर्तक। (अज्ञान रूपी) अधंकार का विनाश करने से ही गुरु यह संज्ञा जाननी चाहिए।

और भी लिखा है:-

धर्मं विशुद्धमधिगच्छति शुद्धबोधो,
यो श्रद्दधात्यविधुरो विधिना विधत्ते।
सम्बोधयत्यबुधभव्यजनं भवाब्धे,
रुत्तारकः सकरुणः स गुरुर्गुणाढ्यः॥

जो शुद्ध ज्ञान का धारी विशुद्ध धर्म को जानता है, योग्य विधि से युक्त होकर धर्म की श्रद्धा करता है, अज्ञानी भव्य जीवों को सम्बोधित करता है, संसार सागर से तारने वाला है, करुणा सहित है और गुणों से सहित है वह गुरु है।

श्लोक में 'णो' का अध्याहार प्रत्येक पद के साथ किया गया है। जिससे 'नहीं' प्रत्येक के साथ लगता है। अर्थात् जिस प्रकार गाय के बिना बछड़ा नहीं होता, राजा के बिना प्रजा नहीं होती, गुरु के बिना ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार दया के बिना धर्म नहीं होता। इन तीनों दृष्टांतों के माध्यम से अपनी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य महाराज कहते हैं दया के बिना धर्म असंभव है। चाहे भले ही मेघ के बिना वर्षा हो जाए और बंध्या के पुत्रोत्पत्ति हो जाए, चाहे गधे के सींग निकल आयें, चाहे गाय के सींग से दूध झरने लगे, आकाश में फूल खिलने लगे, पानी नीचे की ओर न बहकर ऊपर की ओर बहने लगे, भले ही ये असंभव काम संभव हो जाएँ किंतु दया के बिना किसी भी क्षेत्र में, किसी भी काल में धर्म नहीं हो सकता। चाहे श्रावक का धर्म हो या श्रमण का, राजा का धर्म हो या प्रजा का, विद्वान् का हो या मूर्ख का, बालक का हो या पालक का, अमीर का हो या गरीब का बिना दया के असंभव ही है।

धर्म से युक्त व्यक्ति सबकी रक्षा करता है चाहे वह मित्र हो या शत्रु और यही दया है। कहा भी है-

परे वा बंधुवर्गे वा मित्रे द्वेष्ये रिपौ तथा।
आपन्ने रक्षितव्यं हि दयैषा परिकीर्तिता॥ - अत्रिस्मृति

दूसरों में, बंधु-बांधवों में, मित्रों में या द्वेष रखने वालों में अथवा बैरियों में, किसी को भी विपत्तिग्रस्त देखकर उसकी रक्षा करना दया है।

आचार्य महाराज कहते हैं-

दयामूलो भवेद् धर्मो दया प्राण्यनुकम्पनम्।
दयायाः परिरक्षार्थं गुणाः शेषाः प्रकीर्तिताः॥

धर्म दयामूलक है, प्राणियों की अनुकंपा को दया कहते हैं, दया की रक्षा के लिए ही शेष गुण कहे गए हैं।

दया तो धर्म रूपी वृक्ष की जड़ है। यदि जड़ ही नहीं होगी तब वृक्ष कहाँ से उत्पन्न हो सकेगा?

लॉरेंस लेमिएक्स, ओलंपिक में नाव की रेस में भाग लेने वाला प्रतियोगी था। रेस के दौरान उसका एक प्रतियोगी मुसीबत में फँस गया। पर लॉरेंस उसकी मदद के लिए रुक गया। सारा विश्व यह देख रहा था कि लॉरेंस ने जीतने की इच्छा से ज्यादा दूसरे के जीवन की रक्षा करने को प्राथमिकता दी। यह है वास्तव में धर्म। व्यक्ति जीवन में किसी भी समय धर्म का पालन करता है। डूबते हुए व्यक्ति की प्राण रक्षा कर दया धर्म का पालन कर वह लॉरेंस हारकर भी जीत गया, पूरी दुनिया ने उनका सम्मान किया। उसने कहा कि "जीतने से ज्यादा खुश मैं किसी की जान बचाकर हूँ।

विश्व में सुख शांति की स्थापना करने के लिए चाहे यज्ञ हवन आदि किए जाऐं या परोपकार के लिए अन्य कोई कार्य किए जाऐं या

तप और दान की प्रवृत्ति की जाए, चरु आदि देवता को चढ़ाया जाए, चाहे स्तोत्रादि महाग्रंथों के पाठ किए जायें किन्तु प्रत्येक क्रिया में दया धर्म का पालन करना अनिवार्य है। दया की हत्या करके न तो कहीं धर्म होता है न कहीं सुख शांति। जब तक प्राणी के जीवन में दया रूपी धर्म का वास रहता है तब तक वह अपने मारने वाले को भी नहीं मारता। दया धर्म का नाश होते ही रक्षक भी भक्षक बन जाता है और बालक भी घातक बन जाता है।

सर्वसुखकारक-धर्म

सद्दहीणो ण गंधव्वो, दव्वहीणा ण भावणा।
भावहीणो ण धम्मत्थी, धम्महीणो हु णो सुही॥५॥

अर्थ:-(सुर) शब्द से हीन गंधर्व (संगीत) नहीं होता, द्रव्य से हीन कोई भाव नहीं होता, भाव से हीन धर्मार्थी नहीं होता, धर्म से हीन सुखी नहीं होता।

As there is no song without words, no bhava without dravya and no holy personage without bhava. Similarly no one can be happy without religion.

भावार्थ:-संगीत के क्षेत्र में सप्त स्वर और नव रसों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। किन्तु शब्दों के बिना संगीत असंभव है। कितना भी कुशल संगीतकार हो, गंधर्व विद्या का पारंगत हो, संगीत की कला में अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता हो किन्तु वह वाद्य यंत्र या शब्दों का प्रयोग किए बिना अपनी कला से न तो किसी अन्य को रंजायमान कर सकता है और न ही स्वयं संगीत का आनंद ले सकता है। यहाँ 'शब्द' शब्द का अर्थ अक्षरों के समूह मात्र से नहीं है अपितु अनक्षरात्मक ध्वनि को भी ग्रहण किया है। तत्, वितत्, घन, सुषिर रूप ध्वनि को भी ग्रहण किया है इतना ही नहीं नाद, घोष, गर्जना, टंकार आदि ध्वनि यहाँ ग्राह्य हैं।

द्रव्य के बिना भाव नहीं बनते क्योंकि द्रव्य भावों का आधार है। बिना आधार के कभी आधेय ठहरता नहीं। सामने जैसा द्रव्य होता है दूसरे द्रव्य में भी लगभग वैसा ही परिणाम होने लगता है। बिना निमित्त के अच्छे बुरे भावों का प्रादुर्भाव असंभव ही है। कदाचित् कोई यहाँ कहे कि प्रत्यक्ष में समीप रखे हुए द्रव्य का प्रभाव भी शून्यवत् देखा जाता है यथा चंदन के पेड़ों से लिपटे हुए सर्प न तो चंदन की

सुगंधि से संश्लिष्ट होते हैं और न ही वह चंदन विषाक्त होता है। समुद्र के बीच में पड़ा पत्थर भी क्या मुलायम हो जाता है या दीपक की ज्योति के मध्य में विद्यमान वर्तिका क्या श्याम नहीं होती, क्या पंक के बीच में खिलने वाला कमल पंकिल हो जाता है या कठोर चंद्रकांति से झरता हुआ जल कठोर होता है। कदाचित् एक क्षण के लिए आपकी बात को ठीक मान लिया जाए किन्तु बिना केवली के क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता, बिना सूर्योदय के कमल नहीं खिलते, बिना चंद्रोदय के कुमुदनी का फूल किसने देखा है और स्वाति नक्षत्र की बूँद के बिना सीप में मोती कभी बनते देखे या सुने हैं, क्या बिना अग्नि के संयोग से जल को कभी गर्म होते देखा है? अर्थात् नहीं। अतः सिद्ध है बिना निमित्त के कोई काम नहीं होता।

लोक व्यवहार में भी देखा जाता है कि बिना वस्तु के भाव नहीं पूछे जाते अर्थात् पहले वस्तु का नाम लिया जाता है तब भाव पूछा जाता है अथवा उस वस्तु की दशा या अवस्था ही भाव कहलाते हैं। अतः यह ध्रुव सत्य है बिना द्रव्य के कभी भाव नहीं होते और केवल द्रव्य क्रियाओं से धर्म की संप्राप्ति नहीं होती। द्रव्य क्रियाएँ व्यवहार में धर्म कहीं जा सकती हैं किंतु यथार्थ धर्म तो भावों में ही होता है। द्रव्य क्रियाएँ यथार्थ धर्म के लिए कारण हैं और यह तो लोक प्रसिद्ध ही है कि बिना कारण के कार्य नहीं होता। बिना भावों के द्रव्य क्रियाएँ उसी प्रकार हैं जैसे बिना प्राणों का शरीर, बिना विद्युत् के उपकरण, बिना ज्योति का दीपक, बिना डीजल, पैट्रोल के गाड़ी या बिना पानी के नदी।

आगे ग्रंथकार कहना चाहते हैं धर्महीन व्यक्ति को सुख प्राप्त नहीं होता क्योंकि धर्म का फल सुख है। जिस प्रकार बिना आम के पेड़ के आम नहीं मिलता जो जिसका वृक्ष है उस पर उसी का फल लगता है अन्य नहीं। यह तो सभी जानते ही हैं कि गेहूँ के बीज से

चना और चने के बीज से गेहूँ उत्पन्न नहीं हो सकता। अतः यह ध्रुव सत्य कथन है कि धर्म के बिना सुख नहीं हो सकता। आचार्य भगवन् श्री समंतभद्र स्वामी धर्म को इस प्रकार उल्लिखित करते हैं-

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम्।
संसार-दुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे॥

जो प्राणियों को संसार के दुःख से उठाकर उत्तम सुख में धारण करे उसे धर्म कहते हैं। वह धर्म कर्मों का विनाशक तथा समीचीन है।

आचार्य भगवन् श्री पूज्यपाद स्वामी सर्वार्थ सिद्धि में कहते हैं-

इष्टस्थाने धत्ते इति धर्मः-जो इष्ट स्थान में धारण करता है उसे धर्म कहते हैं।

स्पष्ट है यह धर्म ही सब प्राणियों को सुख देने वाला है। धर्म की तो परिभाषा ही यह है जो प्राणियों को सुख प्रदान करे। और जब व्यक्ति ही सुखी नहीं होगा तब विश्व में सुख की कल्पना किस प्रकार की जा सकती है और सुख की प्राप्ति जीवन में धर्म को अंगीकार करके ही की जा सकती है।

एक बार एक राजा अपने महल में विश्राम कर रहा था। रात्रि का समय था। तभी उसे एक आवाज आयी दरवाजा खटखटाने की। वह उठा पूछा कौन? आवाज आयी-मैं लक्ष्मी। बोला-कहिये। लक्ष्मी बोली-मैं जा रही हूँ, मेरा यहाँ रहने का समय पूर्ण हो गया। राजा कुछ दुःखी हुआ परंतु क्या कर सकता था। थोड़ी देर बाद फिर दरवाजा खटखटाने की आवाज आयी। वह उठा-पूछा कौन? बोली कीर्ति। पूछा क्या बात है? वह बोली मैं भी जा रही हूँ, मेरा भी समय पूर्ण हुआ। राजा कुछ और दुःखी हुआ और वापिस विश्राम शय्या पर पहुँच गया। कुछ देर बाद फिर खटखटाने की आवाज आयी। क्रम-क्रम से

समृद्धि, सुख और शांति भी कहकर चले गए। अंत में फिर खटखटाने की आवाज आई। राजा ने पूछा कौन? वह बोला-धर्म। मैं भी जाता हूँ। राजा तुरंत उसका मार्ग रोककर खड़ा हो गया कि मेरे यहाँ से सब चले गए सुख, शांति, समृद्धि, कीर्ति, लक्ष्मी परंतु मैंने किसी को नहीं रोका। लेकिन मैं तुम्हें नहीं जाने दे सकता। जिस धर्म को मैंने जीवनभर पालन किया, चाहे कितनी कठिनाईयाँ हुईं परंतु धर्म को नहीं छोड़ा। आज यदि वह धर्म मुझे छोड़कर जाना चाहता है तो मैं नहीं जाने दूँगा। धर्म ने कहा ठीक है मैं रुकता हूँ। धर्म के रुकते ही फिर दरवाजा खटखटाने की आवाज आई देखा तो लक्ष्मी, कीर्ति, समृद्धि, सुख, शांति सब लौटकर आ गए और बोले जहाँ धर्म निवास करता है वहाँ हम सब स्वत: ही निवास करते हैं।

ग्रंथकार यही कह रहे हैं कि यदि प्रत्येक व्यक्ति जीवन में धर्म को स्वीकार कर लें अच्छा कार्य करे और अधर्म को छोड़ दे अर्थात् बुरे कार्यों को तिलांजलि दे दे तो उनके जीवन में सुख-शांति की स्थापना हो जाएगी और प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में जब सुख-शांति होगी तो विश्व में सुख-शांति की स्थापना स्वत: हो जाएगी।

धर्मी ही सुश्रावक

पावहीणं दुहं णत्थि, पुण्ण-हीणं ण संजमो।
दयाहीणो ण साहम्मी, धम्महीणो ण सावयो॥६॥

अर्थ:-पाप से हीन को दु:ख नहीं होता, पुण्य से हीन को संयम नहीं होता, दया हीन साधर्मी नहीं होता और धर्म से हीन श्रावक नहीं होता।

One without sinful karma remains out of miseries, one without virtues has no self restraint, one without compassion cannot be religious and one without religion cannot be a devotee.

भावार्थ:-संसार में जब भी किसी प्राणी को दु:ख प्राप्त होता है वह नियम से पाप कर्म के उदय से ही होता है। पाप कर्म वे कहलाते हैं जो प्राणी को संसार में परिभ्रमण कराते हैं, अनिष्ट वस्तु से संयोग प्राप्त कराते हैं। यह अनिष्ट संयोगादि ही दु:ख कहलाते हैं अथवा इष्ट वस्तु का वियोग भी दु:ख कहलाता है वह भी पाप कर्म के उदय से ही होता है। पापों का निरोध करने वाला व्यक्ति चाहे भले ही भौतिक संपत्ति को स्वयं ग्रहण न करे किंतु फिर भी सुख संपत्ति उसका साथ नहीं छोड़ती और पापों को न छोड़ने वाला व्यक्ति चाहे कितने भी सुख सुविधा के साधन संपत्ति एकत्र कर ले किन्तु पाप का त्याग किए बिना उसे सुख नहीं मिलता।

आचार्य भगवन् श्री समंतभद्र स्वामी रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहते हैं।

यदि पापनिरोधोऽन्य संपदा किं प्रयोजनम्।
अथ पापास्रवोऽस्त्यन्य संपदा किं प्रयोजनम्॥

यदि पापों का निरोध (पुण्य कर्म का उदय) है तो संपदा का क्या प्रयोजन है? और पापों का आस्रव हो या पाप कर्मों का उदय हो तो संपदा से क्या प्रयोजन?

यदि व्यक्ति का पाप कर्म का उदय है और संपदा इकट्ठी भी की हो, उसका संचय भी किया गया हो तो भी वह नष्ट हो जाती है। पुण्य कर्म के उदय में शत्रु भी मित्र हो जाता है, आवश्यकता पड़ने पर संपदा स्वतः प्राप्त हो जाती है तब संपदा के संचय करने से क्या।

किसी नगर में एक सेठ जी रहा करते थे। उन्होंने अपनी पुत्री की शादी बड़े धूमधाम से की। कुछ समय पश्चात् उनका तीव्र पाप कर्म का उदय आया और उसके दामाद का व्यापार धूमिल हो गया, घर में सब संपत्ति नष्ट हो गयी। सेठानी ने सेठ जी से कहा "आप अपनी पुत्री की मदद क्यों नहीं करते। हमारा इतना धन और किसके काम आएगा?" सेठ जी ने कहा "भाग्यवान् अभी उनका तीव्र पाप कर्म का उदय है यदि हम उनका सहयोग भी करना चाहें तो वह उनके काम नहीं आएगा।"

कुछ दिन पश्चात् सेठ जी तीर्थयात्रा के लिए गए। उनके पीछे उनके दामाद घर आए। सेठानी जी, सेठ जी के डर से कुछ कह तो नहीं सकीं किंतु उन्होंने जाते समय उनको मोतीचूर के लड्डू दिए और उन लड्डुओं के अंदर रत्नादि रख दिए। वह उन लड्डुओं को लेकर चल दिए। रास्ते में एक हलवाई की दुकान दिखी। उसे देखकर दामाद ने सोचा कि यदि मैं इनको खाऊँगा तो इनसे दो-चार दिन का ही काम चलेगा और यदि बेच दूँगा तो सप्ताह दस दिन का काम चलेगा। यह सोचकर हलवाई को वे मोतीचूर के लड्डू बेच दिए। तभी कुछ ही समय बाद सेठ जी तीर्थयात्रा से वापिस आए। घर पर बच्चों के लिए उन्होंने उसी हलवाई से वे मोतीचूर के लड्डू खरीद लिए। जब सेठ जी वे लड्डू लेकर घर पहुँचे तो सेठानी जी ने उन्हें पहचान लिया। वह डर गयी। सेठानी जी ने सेठ जी से उन लड्डुओं के विषय में पूछा।

दोनों की आपस में बातचीत हुई। तब सेठ जी ने कहा "भाग्यवान् ! मैंने तो पहले ही कहा था जब व्यक्ति का पाप कर्म का उदय होता है तब उसके पास रखी संपत्ति भी काम नहीं आती, नष्ट हो जाती है।

दम्भेऽर्थः क्रियमाणेऽपि विपुण्यस्य न जायते।
आयाति स्वयमेवासौ सुकृते निहिते सति॥

कपट करने पर भी पुण्यहीन मनुष्य को धन प्राप्त नहीं होता और पुण्य के विद्यमान रहते स्वयमेव प्राप्त हो जाता है।

पाप कर्म का उदय आता है तब नल दमयंती के विषय में आता है खूँटी भी हार निगल गई, मोर का चित्राम भी आभूषण का भक्षण कर लेता है, सिर के नीचे रखा स्वर्ण भी गायब हो जाता है। अतः व्यक्ति धर्म का, पुण्य का संचय करे। पुण्यवान् की सभी लोग रक्षा करते हैं, वनवास के समय जब राम किसी वन में पहुँचे तो वह यक्ष जो किसी को वन में प्रवेश नहीं करने देता था वह जाकर उनके चरणों में झुक गया और राम नगर की रचना कर दी। प्रद्युम्न कुमार को उसके भाई मारने के उद्देश्य से भयंकर गुफाओं में भेजते थे किंतु तीव्र पुण्योदय से गुफा में स्थित देव-देवियाँ उसे प्रणाम करते और बहुमूल्य वस्तुएँ भेंट करते। पुण्य के लिए लोक में कुछ भी दुर्लभ नहीं।

पुण्यात् सुरासुरनरोरग भोगसाराः,
श्रीरायुरप्रमितरूपसमृद्धयो धीः।
साम्राज्यमैन्द्रमपुनर्भवभाव-निष्ठ-
मार्हन्त्यमन्तरहितं खलु चारुसौख्यम्॥

पुण्य से सुर-असुर-मनुष्य और धरणेन्द्र के श्रेष्ठ सुख, लक्ष्मी, आयु, अनुपम सौंदर्य, संपत्ति, बुद्धि, इंद्र का साम्राज्य, पुनर्जन्म से रहित आर्हन्त्य पद और अंत रहित सुंदर सुख की निश्चित ही प्राप्ति होती है।

कदाचित् कोई व्यक्ति कहे कि अमुक व्यक्ति पाप कार्य में संलग्न है फिर भी सुखी दिखाई दे रहा है तो उसे सुख पाप से नहीं पूर्व भव में किए पाप त्याग के संकल्प रूप व्रतों का ही फल है और कोई व्यक्ति आज पुण्य कार्य करते हुए भी यदि दुखी दिखाई देता है तो समझना चाहिए उसने पूर्व भवों में पापों का परित्याग नहीं किया था। पूर्व भव में बांधे हुए कर्मों का फल ही आज प्राप्त हो रहा है। जिस प्रकार श्याम रंग से रहित कोई भी वस्त्र श्याम नहीं हो सकता उसी तरह पाप कर्म से रहित कोई भी प्राणी पापी या दुःखी नहीं हो सकता। जैन सिद्धांत के अनुसार ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय, अंतराय, नीच गोत्र, असाता वेदनीय, अशुभ आयु और अशुभ नामकर्म पाप प्रकृतियाँ हैं इनके नष्ट होने पर वह जीव नियम से उसी भव से मोक्ष को प्राप्त करता है। ज्यों ही मोहनीय आदि कर्म नष्ट होते हैं त्यों ही वह जीव अनंत सुख आदि अनंत चतुष्टय को प्राप्त कर लेता है।

जीवन में प्राणी को त्रस पर्याय, संज्ञी पंचेन्द्रिय की दशा, मनुष्य गति, मनुष्यायु, कर्म भूमि, निरोग शरीर, उत्तम कुल-जाति, सत्संगति, देव-शास्त्र-गुरु का सान्निध्य, धर्म में चित्त की स्थिरता, जिनवाणी व गुरोपदेश का सुनना एवं आत्म हित में बुद्धि का लगना उत्तरोत्तर श्रेष्ठतम पुण्य के फल हैं। बिना पुण्योदय के ये सब अवस्थाएँ असंभव हैं। जिस प्रकार सूर्योदय के बिना सूर्य का प्रकाश असंभव है उसी प्रकार पुण्य के बिना सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र रूपी अत्यंत मूल्यवान चैतन्य रत्नों की प्राप्ति असंभव है। जब बिना पुण्य के भौतिक संपत्ति ही नहीं मिल सकती तब चेतना की स्वाभाविक परिणति रूप जिनगुण संपत्ति की प्राप्ति क्यों कर संभव हो सकती है।

दया के बिना कोई साधर्मी नहीं हो सकता जिस प्रकार एक के बिना दो, तीन, चार आदि गिनती संभव नहीं है, नींव के बिना भवन संभव नहीं है, पुष्पों के बिना इत्र संभव नहीं है, गोक्षीर के बिना गो

घृत संभव नहीं है, स्वर्ण के बिना स्वर्णाभूषण संभव नहीं है उसी तरह दया के बिना धर्म संभव नहीं है। अहिंसा या दया ही धर्म का प्रथम सोपान है और वहीं अंतिम सोपान भी है। अहिंसा या दया का विस्तार ही धर्म का विस्तार है। जैसे नदी में जल का विस्तार ही नदी का विस्तार माना जाता है वैसे ही दया का विस्तार ही विद्वानों ने धर्म का विस्तार माना है।

धर्म के बिना श्रावक नहीं होता। श्रावक शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्यों ने लिखा है जो सम्यक् श्रद्धावान्, विवेकवान् एवं क्रियावान् होता है श्रावक कहलाता है। जैसे मानवता के बिना मानव नहीं होता उसी प्रकार धर्म के बिना कोई श्रावक नहीं होता।

सच्चा मित्र

विज्जा मित्तं विदेसेसुं, इत्थी मित्तं गिहे तहा।
रोयीणं भेसजं मित्तं, धम्मो मित्तं हु सव्वदा॥७॥

अर्थ:-विदेश में विद्या मित्र है, गृह में स्त्री मित्र है, रोगियों के लिए औषधि मित्र है और धर्म सर्वदा मित्र है।

Knowledge is a friend in foreign country, woman is a friend at home, medicines are friends for ailing and religion is always a friend.

भावार्थ:-आर्य पुरुष मित्रों के बिना अपना जीवन सरल, सहज और सुखद नहीं मानते। मित्र वही सच्चे होते हैं जो अपने मित्रों के दु:ख दूर करने के लिए सदैव तत्पर होते हैं। संसार में सब प्रकार के प्राणी हैं सभी अपने-अपने स्वभाव के अनुरूप व्यक्तियों को खोज लेते हैं। जिस प्रकार लोहे की चुंबक लोहे को पकड़ती है, सोने की चुंबक सोने को, चांदी की चांदी को पकड़ती है उसी प्रकार जो जैसा होता है वह वैसा मित्र खोज लेता है। मित्र के साथ रास्ता सुगमता से तय हो जाता है बड़ी-बड़ी दूरियाँ भी सहज में पार कर ली जाती हैं। जीवन में सच्चे मित्रों का महत्त्व माता-पिता गुरुजनों आदि से भी अधिक होता है। जो बात माता-पिता, भाई बंधु को भी नहीं बताई जाती वह बात मित्र के सामने हृदय खोल कर बता दी जाती है। जिस प्रकार सूर्य को देखकर कमल का हृदय, चंद्रमा को देखकर कमलनी का हृदय और स्वाति बूँद को देखकर सीप का मुख खुल जाता है उसी प्रकार सच्चे मित्र के सामने कोई भी मित्र अपने मन में किसी प्रकार की बात को छिपाता नहीं है। न चाहते हुए भी मित्र के सामने वे सब बातें बता दी जाती हैं। इसीलिए सज्जन पुरुष जहाँ कहीं भी जाते हैं मित्रों को साथ अवश्य रखते हैं।

यदि विदेश में जाते समय कोई मित्र, सुदृढ़ बंधु साथ में नहीं है तो उसकी अच्छी विद्या ही मित्र की तरह से उसकी रक्षक और शुभचिंतक होती है। इतना ही नहीं अच्छी विद्याओं और सुकलाओं के माध्यम से कोई भी गुणग्राहक, कलाप्रेमी उसका मित्र बन सकता है। अच्छी विद्या मात्र व्यापार में सफलता नहीं दिलाती वह यश, प्रतिष्ठा, धन एवं चेतन रत्नों से भी सम्मिलन कराती है।

अगली बात कही सद्गृहस्थ को अपना सुखद जीवन व्यतीत करने के लिए अपनी स्त्री को अपना मित्र बनाकर रखना चाहिए। यदि स्त्री शंकालु, ईर्ष्यालु, झगड़ालु और अविश्वस्त है तो घर को नरक बना सकती है, सुख शांति के साधनों को अपने कुटिल स्वभाव, कलह प्रवृत्ति और संक्लेशता रूपी चिंगारी से ध्वस्त करने में समर्थ होती है। जो स्त्री के मन की थाह पाकर उसे अपने अनुकूल बनाने में समर्थ हैं वही स्त्री रत्न रूपी सच्चे मित्र का लाभ लेने में समर्थ होते हैं।

आगे कहा रोगी व्यक्ति के लिए औषधि भी परम मित्र की तरह से होती है। मनोनुकूल वचनों को कहने वाले, विक्षिप्त मन को शांत करने वाले डॉक्टर, वैद्य भी मित्र की तरह हैं। सेवक और परिचारक भी मित्र की तरह से हैं किन्तु उनके अभाव या सद्भाव में औषधि भी मित्रों की तरह लाभकारी और शुभचिंतक होती है।

अन्त में कहा धर्म प्रत्येक प्राणी के लिए, प्रत्येक क्षेत्र, प्रत्येक काल में मित्रों की तरह से गुणकारक, दोषहारक, सुखप्रद, दुखहर एवं शाश्वत शांति की स्थापना करने वाला है। जिसने धर्म को अपना मित्र नहीं बनाया चाहे वह संसार के किसी भी प्राणी को अपना मित्र बना ले किन्तु दु:खों को सहन करना ही पड़ेगा, जब तक धर्म को अपना मित्र नहीं बनाया है तब तक सुखों से वंचित ही रहेगा। आचार्य महाराज ने कहा भी है-

यतोऽत्र परमार्थेन विना धर्म हितंकरः।
प्रियो वा कोऽपि कस्यापि नास्ति तस्मात्तमाचर॥

इस जगत् में धर्म के बिना कोई किसी का हितकारी नहीं है, प्रिय या मित्र नहीं है इसलिए उस धर्म का आचरण करो।

एक राजा था, उसका एक पुत्र था। वह राजकुमार राजकाज में ध्यान नहीं देता था। वह मित्रों के साथ अपना अधिकतम समय व्यतीत करता और वे मित्र भी राजा के बेटे से धन लूटते रहते थे। वे सब मिलकर खूब मौज-मस्ती करते। राजा ने बहुत समझाया देख, ये ठीक नहीं है किंतु फिर भी वह नहीं माना। उसके साथ कुछ मित्र ऐसे भी थे जो मित्र उसके पास कभी-कभी आते थे। उसके उपरांत एक मित्र ऐसा था जो मित्र उसके पास साल में एक बार आता था वो भी दो घंटे के लिए। जो मित्र 24 घंटे उसके पास रहते थे उनके लिए राजकुमार ने बहुत अधिक धन लुटा दिया और जो दूसरे मित्र थे जो कभी-कभार आते थे, उनको भोजन कराता था। तीसरा जो मित्र था वह कभी साल में एक बार आता था उसे ज्यादा अहमियत नहीं देता बस थोड़ा बहुत नाश्ता करा देता।

राजा ने राजकुमार को बहुत समझाया कि मित्रों का साथ छोड़ दे किंतु जब वह नहीं माना तो उसको समझाने के लिए दंड देना निश्चित किया और यह घोषणा कर दी कि राजकुमार को फाँसी की सजा कल प्रातःकाल दी जाएगी और जो इसकी मदद करेगा उसको भी मृत्युदंड दिया जाएगा। राजकुमार माँ के पास जाकर रोने लगा। माँ ने मोह के वश उसे रत्नों की पोटली देते हुए भाग जाने की सलाह दी और चुपके से महल से भगा दिया। वह भागकर सर्वप्रथम उन मित्रों के पास पहुँचा जो 24 घंटे उसके साथ रहते थे। उसको देखते ही उन मित्रों ने द्वार लगा लिया और कहा क्षमा करो, हम तुम्हारी मदद नहीं कर सकते वरना राजा हमें भी फाँसी पर चढ़ा देगा।

तब वह भागता हुआ उन मित्रों के पास पहुँचा जो कभी-कभी आते थे। उन्होंने कहा-'भाई! हम तुम्हें अपने पास नहीं रख सकते किंतु भोजन-पानी दे सकते हैं कुछ और की आवश्यकता हो तो बता दो वरना तुम्हें बचाकर हम मौत नहीं ले सकते।' अंततः वह उस मित्र की याद करता है जो वर्ष में एक बार आता था और उसके पास पहुँचा। उसे सब बताया। उस मित्र ने कहा "तू चिंता मत कर, मेरे होते हुए तुझे कुछ नहीं हो सकता। चाहे मेरी मृत्यु क्यों न हो जाए लेकिन तेरी रक्षा करूँगा? तब राजकुमार को अपने पिता की बातें याद आईं। वह रोने लगा कि मैंने आज तक जिसको ज्यादा महत्त्व नहीं दिया वह मेरी मदद कर रहा है।

यही तो हमारे साथ हो रहा है, वह राजकुमार है हमारी आत्मा। जो मित्र 24 घंटे साथ रहते थे, वह पहला मित्र है-शरीर, जो सबसे पहले साथ छोड़ता है। दूसरा मित्र है-सगे-संबंधी, जो कहते हैं थोड़ी बहुत संपत्ति से तो मदद कर सकते हैं वरना जाओ और तीसरा मित्र जो कभी-कभी आता है वह है-धर्म। जिसके पास धर्म का मित्र है उसका कोई बाल भी बांका नहीं कर सकता। जिस व्यक्ति ने धर्म का आशय लिया है-धर्म ने उसे इह भव और परभव में भी दुःखों से बचाया है। धर्म सर्वत्र और सर्वदा सबका मित्र है। कोई तुम्हारा साथ दे या न दे किंतु धर्म तुम्हारी रक्षा सदैव करेगा।

युगप्रवर्तक की देशना

तित्थयरादि-देवेणं, धम्म-कम्मं च देसिदं।
तम्हा हु मण्णदे बंभा, सो दु जुग-पवट्टगो॥८॥
असी मसी य वाणिज्जं, सिप्प-विज्जा किसी तहा।
विज्जदे इह देसम्मि, आदि-देवस्स देसणा॥९॥

अर्थ:-प्रथम तीर्थंकर श्री आदिनाथ जी ने धर्म और कर्म का निर्देश दिया इसीलिए वे ब्रह्मा माने जाते हैं। वे ही युग प्रवर्तक थे। असि, मसि, कृषि, विद्या, शिल्प तथा वाणिज्य श्री आदिदेव की देशना इस देश में विद्यमान है।

The first Tirthankar Sri Aadinathji was a great leader and the founder of religion. He was also an epoch maker. That is why he is known as Brahma. The teachings of Sri Aadi Dev on asi (education of weapons), masi (reading and writing), krishi (agriculture), vidya (knowledge and skills), shilp (art, craft, technology and architecture) and Vanijya (trade and commerce) are still present in our country.

भावार्थ:-वर्तमान काल में इस लोक की संज्ञा कर्मभूमि है किंतु जैन अनुश्रुति के अनुसार कर्मभूमि से पूर्व यह भूमि भोगभूमि थी और इस पर सर्वत्र कल्पवृक्षों की बहुलता विद्यमान थी। मनुष्य को बिना किसी परिश्रम के आहार उपलब्ध हो जाता था और जीवन नाना प्रकार के सुखोपभोगों से भरपूर था। दस प्रकार के कल्पवृक्षों से जो माँगते वह मिल जाता था, आवश्यक वस्तु मात्र के अनायास उपलब्ध होते रहने से मनुष्य में हिंसा, चौर्य और संग्रह वृत्ति का अभाव था। किन्तु प्रकृति के नियमानुसार सुख-दु:ख, रात-दिन और जल-स्थल परिवर्तित होते ही रहते हैं। परिवर्तन प्रकृति का नियम है। इनका उत्पादव्यय चक्र कभी अवरुद्ध नहीं होता। परिणामत: कल्पमहीरुहों का युग समाप्त हो गया और कृत युग आ पहुँचा।

कल्पयुग में मानस संकल्प मात्र से अभिलषित वस्तुओं की प्राप्ति हो जाती थी और आगे आने वाले इस कृतयुग में मनुष्य के पुरुषार्थ से इच्छित उपलब्धि होने लगी इसीलिए इसे कर्मभूमि की संज्ञा प्राप्त हुई और मानव के कृत से, प्रयत्न से, कार्य से उसे जीवनीय सुखों की प्राप्ति संभव रही। महापुराण में इस बदलते हुए युग में प्रजाओं की मानसिक दशा का वर्णन करते हुए आचार्य श्री जिनसेन स्वामी ने जिन मर्मस्पर्शी तथ्यों की ओर संकेत किया वे इस प्रकार हैं-

कल्पद्रुमेषु कात्स्न्र्येन प्रलीनेषु निराश्रयाः।
युगस्य परिवर्तेऽस्मिन् अभूवन्नाकुलाः प्रजाः॥
तीव्रायामशनायायामुदीर्णाहार संज्ञया।
जीवनोपायसंशीतिव्याकुलीकृतचेतसः॥

"कल्पवृक्ष अदृश्य हो गये, सर्वथा विलीन हो गये। उस समय प्रजा आश्रय विहीन होकर आकुल-व्याकुल हो उठी। भूख की तीव्रता से उन्हें जीवित रहना संदेहास्पद लगने लगा।" वे चिंताकुल होकर सोचने लगे-अहो ! अब हम कैसे जिएँगे ? हा! हमारे पुण्यों का अवसान हो गया। कल्प वृक्षों के स्थान पर उनसे भिन्न पत्र-पुष्प, त्वचा, वर्ण और फलों वाले कुछ वृक्ष दिखाई दे रहे हैं। किंतु कौन जाने ये अमृतमय हैं या विषमय? इनका स्वाद कैसा है? ये मीठे हैं या खट्टे, कड़वे हैं या कषैले। हम भूख से पीड़ित लोगों को मानो इन अपरिचित वृक्षों की फलभार से नम्रीभूत शाखाएँ संकेत देकर बुला रही हैं। क्या करें, कौन बताये इन्हें खा लिया जाये या छोड़ दें? क्षुधा से बुद्धि-विवेक कुण्ठित हो गया है। इनका उपयोग कैसे हो? कहीं इनसे हमें कोई हानि तो नहीं, कहीं किसी अशुभ की सूचना तो नहीं। हा ! संकट में किससे पूछें? कौन मार्ग बताए?

इस प्रकार अनेक दुश्चिंताओं से पराभूत हुए वे प्रजाजन अपनी शंकाओं को दूर करने तथा पथ-प्रदर्शन प्राप्त करने के लिए युगमुख्य नाभिराज के पास पहुँचे। नाभिराज चौदहवें मनु थे। अपार बुद्धि के धनी व प्रजा हितैषी थे। उनके सम्मुख उपस्थित होकर उन्होंने दीनवाणी में कहा-"हे नाथ ! हम कैसे जियें ? और उन्होंने कल्पवृक्षों का अभाव तथा उनके स्थान पर उगे हुए अन्य फलवान् वृक्षों की ओर संकेत करते हुए पूछा क्या हमें भूखों मरना पड़ेगा या इन नवोत्पन्न वृक्षों में लंबमान फलों का सेवन करना हितकर होगा। आप तो हमारे रक्षक हैं, आपकी प्रजा पर प्राणसंकट का अवसर उपस्थित हुआ है, कृपया बताईये हम क्या करें ?"

नाभिराज ने सुना और उनकी कठिनाईयों को समझा। वे केवल 14वें कुलकर ही नहीं थे अपितु प्रथम तीर्थंकर भगवान् आदिनाथ के जनक भी थे।

आदिनाथ के गर्भ में आने से छः माह पूर्व ही देवों ने रत्नवर्षा संध्या कालों में आरंभ कर दी। प्रत्येक संध्याकाल में साढ़े तीन करोड़ रत्नों की वर्षा की जाती थी जो उनके जन्म समय तक चलती रही। उनके गर्भ में आते ही माता मरुदेवी की प्रतिभा भी विलक्षण हो गई। वे जन्म से ही मति श्रुत व अवधि तीन ज्ञान के धारी थे। नाभिराजा ने अवधिज्ञानी पुत्र की ओर संकेत कर कहा कि 'अपनी शंकाओं का समाधान इनसे प्राप्त करो।

भगवान् आदिनाथ ने प्रजा के लिए उपस्थित हुए युगांतरजनित संकट तथा परिवर्तन का अनुभव किया और कहा कि कालचक्र के परिवर्तन से भोगभूमि का अंत हुआ है। अब कर्मभूमि में कर्म करते हुए जीवन मार्ग को श्रेष्ठ बनाने का प्रयत्न करो। उन्होंने असि, मसि, कृषि, विद्या, शिल्प व वाणिज्य इन षट्कर्मों का उपदेश दिया। आदिपुराण में भी कहा है-

असिर्मसी कृषिर्विद्या वाणिज्यं शिल्पमेव च।
कर्माणीमानि षोढास्युः प्रजाजीवन हेतवः॥

अब प्रजाओं को जीविकोपार्जन के लिए कर्म करना होगा। असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प-जीवन में ये छः प्रकार के कर्म आवश्यक हैं। असि अर्थात् तलवार, मसि यानि कलम-स्याही, कृषि अर्थात् पृथ्वी का विलेखन, विद्या यानि शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन, वाणिज्य यानि व्यापार और शिल्प यानि कारीगरी ये छः कर्म प्रजा को बताये। भगवान आदिनाथ के द्वारा दिया गया यह षट्कर्मोपदेश आज भी इस देश में विद्यमान है। व्यक्ति इन्हीं के द्वारा आजीविका अर्जित करता है। इन उपदेशों को देते हुए भगवान् आदिनाथ ने कर्मभूमि की व्यवस्था की। आदिपुराण में कहा है-

आषाढ़मास-बहुलप्रतिपद्दिवसे कृतो।
कृत्वा कृतयुगारंभं प्राजापत्यमुपयिवान्॥

आषाढ़ मास, कृष्ण पक्ष प्रतिपदा के दिन भगवान् आदिनाथ ने कृतयुग का आरंभ किया और इस प्रकार प्रजाओं की रक्षा करने से प्रजापति पद धारण किया। आचार्य भगवन् श्री समंतभद्र स्वामी ने भी भगवान् आदिनाथ की स्तुति प्रजापति कहकर की है।

पुनः 83 लाख वर्ष पूर्व तक राज्य संचालन कर, संसार शरीर भोगों से विरक्त हो दिगम्बरी दीक्षा स्वीकार की। कर्म भूमि के आदि प्रवर्तक होने से युग प्रवर्तक भी इन्हें ही कहा जाता है। कर्म का प्रथम उपदेश भी इन्होंने दिया तो केवलज्ञान की प्राप्ति कर धर्म का प्रथम उपदेश भी इन्होंने ही दिया। धर्म के प्रवर्तक होने से ये ब्रह्मा भी कहलाते हैं।

हरिवंश पुराण में लिखा है-

दर्शयन् वर्त्म वीराणां, सुरासुरनमस्कृतः।
नीतित्रयस्य कर्ता यो, युगादौ प्रथमो जिनः॥३॥

वीर पुरुषों को धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थ का मार्ग दिखाने वाला, सुर-असुरों से पूजनीय, युग की आदि में प्रथम जिन (भगवान आदिनाथ) हुए।

ब्रह्माण्ड पुराण में लिखा है-

इह हि इक्ष्वाकुकुलवंशोद् भवेन नाभिसुतेन मरुदेव्या नन्दनेन महादेवेन ऋषभेण दशप्रकारो धर्म स्वयमेवाचीर्ण: केवल ज्ञान लाभाच्च प्रवर्तित:।

इस आर्यावर्त में इक्ष्वाकु कुल में उत्पन्न नाभिराजा तथा मरुदेवी के पुत्र महादेव ऋषभनाथ ने क्षमा, मार्दव आदि 10 प्रकार का धर्म स्वयं आचरण किया और केवलज्ञान प्राप्त होने से उस धर्म का प्रवर्तन किया।

इसी प्रकार व्यास ऋषि विचरित पुराण ग्रंथों में भगवान ऋषभनाथ का उल्लेख अनेक स्थानों पर मिलता है। भागवत पुराण में विस्तार से विवरण दिया है।

अंतर्राष्ट्रीय महान दार्शनिक विद्वान्, भारत के राष्ट्रपति श्री डॉ. राधाकृष्णन् इण्डियन फिलॉसफी के पृष्ठ 287 पर लिखते हैं-

The Bhagwat purana endorses the view that Rishabh was the founder of jainism.

भागवत पुराण के मतानुसार जैन धर्म के संस्थापक भगवान आदिनाथ थे।

भागवत पुराण के दूसरे स्कंध के सातवें अध्याय पृष्ठ 372 को देखिए-

नाभेरसौ ऋषभ आप्तसुदेवसूनुः,
यो वै चचार समदृग् योगचर्याम्।

यत्पारहंस्यमृषयः पदमानमंति,
स्वस्थः प्रशांतकरणः परित्यक्तसंगः॥१०॥

इस श्लोक की टीका पं. ज्वाला प्रसाद जी मिश्र ने निम्न प्रकार की है-

"ईश्वर अग्नीन्द्र के पुत्र नाभि से सुदेव पुत्र ऋषभदेव जी भये, समदृष्टा जड़की नांई योगाभ्यास करते भये। जिनके परम हंस पद को ऋषियों ने नमस्कार कीनी। स्वस्थ, शांत-इन्द्रिय सब अंग त्यागे ऋषभदेव भये। जिनसे जैन धर्म प्रगट भयो।"

इस तरह कथनानुसार योग मार्ग के आदि प्रवर्तक और धर्म के आदि उपदेशक भगवान आदिनाथ थे। इस प्रकार जैन धर्म जगत का सबसे प्राचीन आदि धर्म है।

मनु स्मृति में भी लिखा है-

अष्टषष्टिषु तीर्थेषु यात्रायां यत्फलं भवेत्।
श्रीआदिनाथदेवस्य स्मरणेनापि तद् भवेत्॥

अड़सठ तीर्थों में यात्रा करने से जो फल होता है उतना फल भगवान आदिनाथ के स्मरण करने से होता है। आदिनाथ भगवान ऋषभनाथ का ही अपर नाम है। आदि जिन, आदीश्वर, अग्रजिन भी भगवान ऋषभनाथ के ही नाम हैं।

हिंदी विश्वकोष, हिंदी शब्द सागर कोष, संस्कृत हिंदी कोष, शब्दकल्पद्रुम कोष, शब्दार्थ चिंतामणि कोष इत्यादि में भगवान आदिनाथ को आदिजिन, प्रथम तीर्थंकर बतलाया गया है।

आचार्य भगवन् श्री जिनसेन स्वामी ने प्रथम तीर्थंकर श्री आदिनाथ की स्तुति ब्रह्मा, ब्रह्मपति, प्रजापति, युगादि पुरुष आदि नामों से की है।

भरत का भारत

पुत्तस्स आदि-देवस्स, छक्खंडस्स य सामिणो।
देसो भरदस्स णामादो, जाणिज्जइ हु भारदं॥१०॥

अर्थ:-श्री ऋषभ देव (आदिनाथ) के पुत्र, षट्खंड के स्वामी भरत के नाम पर देश का नाम भारत पड़ा।

This country is known as Bharata on the name of Bharat who was the son of Sri Rishabh Deva and who ruled over six parts of Bharat Kshetra.

भावार्थ:-20 कोड़ा-कोड़ी सागर का एक कल्पकाल होता है। जिसमें 10 कोड़ा-कोड़ी सागर का एक अवसर्पिणी और 10 कोड़ा-कोड़ी सागर का एक उत्सर्पिणी काल होता है। यह व्यवहार काल कहलाता है। जिसमें मनुष्यों के बल, आयु और शरीर का प्रमाण क्रम से बढ़ता जाऐ उसे उत्सर्पिणी कहते हैं और जिसमें घटते जाऐं उसे अवसर्पिणी कहते हैं। उत्सर्पिणी काल के 6 भेद हैं दु:खमा-दु:खमा, दु:खमा, दु:खमा-सुखमा, सुखमा-दु:खमा, सुखमा व सुखमा-सुखमा। अवसर्पिणी के भी सुखमा-सुखमादि 6 भेद विपरीत क्रम में होते हैं।

इस समय जंबूद्वीप के भरत क्षेत्र में हुण्डावसर्पिणी नाम का दु:खमा काल चल रहा है। प्रत्येक अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी के दु:खमा-सुखमा काल में धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करने वाले तीर्थंकरों का जन्म होता है, शलाका पुरुष या महापुरुषों का जन्म होता है। 24 तीर्थंकर, 12 चक्रवर्ती, 9 बलभद्र, 9 नारायण और 9 प्रतिनारायण ये 63 शलाका पुरुष कहलाते हैं।

जब अवसर्पिणी काल का प्रथम भाग यहाँ बीत रहा था तब उत्तम भोगभूमि की व्यवस्था थी, दूसरे काल में मध्यम व तीसरे काल में जघन्य भोगभूमि हुई। तीसरे काल का जब पल्य के 8वें भाग प्रमाण

काल बाकी रहा तब क्रम से 14 कुलकरों की उत्पत्ति हुई। ये ही मनु भी कहलाते हैं। क्योंकि भोगभूमि के धीरे-धीरे अवसान पर जीने की कला ये ही अपने विशिष्ट वैदुष्य से देते हैं। 14वें कुलकर नाभिराज थे। जब भोगभूमि की व्यवस्था नष्ट हो चुकी थी और कर्मभूमि की रचना प्रारंभ हो रही थी, तब उस संधि काल में अयोध्या के अंतिम मनु-कुलकर श्री नाभिराज के घर उनकी पत्नी मरुदेवी से इस अवसर्पिणी काल के आद्य तीर्थंकर का जन्म हुआ। ये जन्म से मति, श्रुत, अवधि तीन ज्ञान के धारी थे। कल्पवृक्षों के नष्ट हो जाने के बाद बिना बोये धान से लोगों की आजीविका होती थी परंतु कालक्रम से वह धान भी नष्ट हो गया तब लोग भूख-प्यास से अत्यंत क्षुभित हो उठे और सब नाभिराज के पास पहुँचकर त्राहि-त्राहि करने लगे। नाभिराज शरणागत प्रजा को वृषभनाथ के पास ले गए।

लोगों ने अपनी करुण-कथा उनके समक्ष प्रकट की। तब उन्होंने असि (सैनिक कार्य), मसी (लेखन कार्य), कृषि (खेती) विद्या (संगीत-नृत्यगान आदि), शिल्प (विविध वस्तुओं का निर्माण) और वाणिज्य (व्यापार) इन षट्कर्मों का उपदेश दिया।

ऋषभदेव ने लोगों को शस्त्र विद्या दी कि आततायियों से निर्बल मानवों की रक्षा करना बलवान् मनुष्यों का कर्त्तव्य है। जिन्होंने इस कार्य को स्वीकार किया श्री ऋषभदेव ने उनका नाम क्षत्रिय रखा। जिन लोगों ने वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाकर वहाँ के लोगों को सुख-सुविधा पहुँचाने के कार्य को स्वीकार किया उन्हें वैश्य संज्ञा दी गई एवं जिन्होंने सेवावृत्ति स्वीकार की उन्हें शूद्र संज्ञा दी गई एवं साथ ही विवाह व्यवस्था भी मर्यादित की। भगवान के द्वारा प्रदर्शित षट्कर्मों से लोगों की आजीविका चलने लगी। कर्मभूमि का प्रारंभ हुआ इसीलिए इन्हें आदिपुरुष विधाता, ब्रह्मा युगादि प्रवर्तक भी कहा जाता है।

नाभिराज की प्रेरणा से उन्होंने कच्छ व महाकच्छ राजाओं की बहनों यशस्वती व सुनंदा के साथ विवाह किया तथा पिता की आज्ञा से राज्य का भार स्वीकृत किया। आपके राज्य से प्रजा अत्यंत संतुष्ट हुई। कालक्रम से यशस्वती के भरतादि 100 पुत्र व ब्राह्मी नामक पुत्री हुई और सुनंदा के बाहुबली पुत्र व सुंदरी नामक पुत्री हुई। श्री वृषभदेव ने अपने पुत्र-पुत्रियों को अर्थशास्त्र, वास्तुशास्त्र, भूगोल, लिपि अंक, ज्योतिष, नाट्य, संगीत आदि जनकल्याणकारी विद्याएँ पढ़ायी थीं जिनके द्वारा समस्त प्रजा में पठन-पाठन की व्यवस्था का प्रारंभ हुआ था।

नीलांजना का नृत्य-काल में अचानक विलीन हो जाना उनके वैराग्य का कारण बना। उन्होंने बड़े पुत्र भरत को राज्य व अन्य पुत्रों को यथायोग्य स्वामित्व देकर निर्ग्रंथ दीक्षा ग्रहण की। ऋषभदेव ने 6 माह का प्रतिमा योग धारण किया था। पश्चात् आहार के लिए निकले। तब लोग आहारदान की विधि नहीं जानते थे अत: छ: माह तक आहार नहीं हुआ।

13 माह बाद वे हस्तिनापुर की ओर पहुँचे। वहाँ के तत्कालीन राजा सोमप्रभ थे व उनके छोटे भाई श्रेयांस थे। श्रेयांस को जातिस्मरण होने से उन्होंने भगवान् को देखते ही पड़गाह लिया व इक्षु रस का आहार दिया। यह आहार वैशाख सुदी तृतीया को दिया गया था तभी से इसका नाम अक्षय तृतीया पड़ा। 1000 वर्ष के तपश्चरण के बाद उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ और तब सर्वज्ञ दशा में विश्व (भरत क्षेत्र का आर्यखंड) को धर्म का उपदेश दिया। आयु के अंतिम समय कैलाश पर्वत पर पहुँचकर निर्वाण प्राप्त किया।

इनके प्रथम पुत्र भरत, चक्रवर्ती हुए। भगवान् ऋषभदेव तीर्थंकर भी थे और कुलकर भी माने गए। इसी प्रकार भरत महाराज चक्रवर्ती

भी थे और कुलकर भी कहलाते थे। उन्होंने चक्ररत्न के द्वारा षट्खण्ड भरत क्षेत्र को अपने अधीन कर लिया और राजनीति का विस्तार करके आश्रित राजाओं को राज्य-शासन की पद्धति सिखलायी।

भरत चक्रवर्ती से पूर्व हा, मा, धिक् इन तीन प्रकार के दंडों की व्यवस्था थी इतना कहना मात्र दंड था। किंतु भरत चक्रवर्ती के समय लोग अधिक दोष या अपराध करने लगे इसलिए उन्होंने वध, बंधनादि शारीरिक दंड देने की रीति भी चलायी थी।

भरत चक्रवर्ती महलों में रहकर भी योगी पुरुष की तरह उनसे निरासक्त रहे। भरत चक्रवर्ती को तीन शुभ समाचार एक साथ प्राप्त हुए। पिता को केवल ज्ञान की प्राप्ति, उन्हें पुत्र रत्न की प्राप्ति व आयुधशाला में चक्ररत्न की उत्पत्ति। उन्होंने सर्वप्रथम समवशरण में पहुँचकर भगवान् की स्तुति की। पुनः चक्ररत्न की विधिवत् पूजन की उसके पश्चात् पुत्रोत्पत्ति का उत्सव मनाया।

इनका बल व वैभव असीम था। इनके पास नव विधि, चौदह रत्न, 18 करोड़ घोड़े, चौरासी लाख हाथी, 96 हजार रानियाँ थीं। चक्ररत्न लेकर जब भरत दिग्विजय के लिए निकले तब उनकी और उनकी सेना की शोभा अकथनीय थी। सबसे आगे चक्ररत्न चलता था। सर्वप्रथम वे लवण समुद्र के किनारे पहुँचे पुनः जल में स्थल की तरह 12 योजन आगे बढ़कर मागध देव की सभा में अपने नाम से चिह्नित बाण छोड़ा। पहले तो वह देव क्रोधित हुआ पश्चात् चक्रवर्ती भरत का नाम देख गर्वरहित होता हुआ द्वार, सिंहासन, कुंडलादि साथ लेकर चक्रवर्ती के स्वागत के लिए पहुँचा। पुनः दक्षिण दिशा की ओर अन्य राजाओं को वश में करते हुए आगे बढ़े। दक्षिण समुद्र प्रवेश कर वहाँ के अधिपति व्यंतरदेव को जीता। पुनः सम्राट भरत दक्षिण दिशा जीत पश्चिम की ओर बढ़े। वहाँ समुद्र में 12 योजन प्रवेश कर प्रभास नामक व्यंतराधिपति देव को वश में किया। सत्य है पुण्य के लिए

कुछ भी असंभव नहीं है। पश्चिम दिशा जीतकर उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान किया तथा विजयार्द्ध की गुफा के माध्यम से उत्तर भरत में प्रवेश किया। वह गुफा जिसके द्वार को उद्घाटित करना चक्रवर्ती के अतिरिक्त शायद और किसी के बस की बात नहीं।

वहाँ भी समस्त म्लेच्छ खंडों पर विजय प्राप्त की और समस्त भरत क्षेत्र (वर्तमान का संपूर्ण विश्व) पर विजय प्राप्त कर 60,000 वर्ष बाद अयोध्या लौटे। लौटते ही सर्वप्रथम सम्राट भरत ने कैलाश पर्वत पर श्री ऋषभदेव की समवशरण में स्तुति की। पुनः अयोध्या की ओर प्रस्थान किया। अयोध्या नगरी में प्रवेश करते हुए द्वार पर वह चक्र रत्न रुक गया। सभी सोच-विचार में पड़ गए। निमित्तज्ञानी पुरोहित ने बताया की भाईयों को वश करना बाकी है। यह जानकर 99 भाईयों ने जाकर दीक्षा स्वीकार कर ली। किंतु बाहुबली नहीं माने और युद्ध के लिए तत्पर हुए। मंत्रियों ने विचार किया कि इस भाई-भाई की लड़ाई में सेना का व्यर्थ ही संहार होगा अतः दोनों भाईयों के मध्य नेत्र, जल व मल्ल युद्ध हुआ। तीनों में बाहुबली विजयी हुए तब भरत ने उस पर चक्ररत्न चलाया किंतु चक्ररत्न परिवार वालों का घात नहीं करता। बाहुबली तत्क्षण विरक्त हुए व दीक्षा ग्रहण की। 1 वर्ष का घोर तप कर मोक्ष प्राप्त किया।

चक्रवर्ती भरत ने जिनकी सेवा में 32 हजार मुकुटबद्ध राजा तत्पर थे संपूर्ण भरत क्षेत्र पर राज्य किया। वे अत्यंत धार्मिक प्रवृत्ति के थे। जिनेंद्र भक्ति मुनियों को आहार देने आदि पुण्य क्रियाओं में रत रहते थे। 'ये सदा नहीं रहेगा' यह सब नश्वर है यह सोचकर इतने विशाल राज्य में रहते हुए भी उस प्रकार विरक्त रहे जैसे कीचड़ से कमल। एक दिन सम्राट भरत ने सोचा कि हमने जो वैभव प्राप्त किया है उसे कहाँ खर्च करना चाहिए। जो मुनि हैं वे तो धन से निःस्पृह हैं अतः अणुव्रतधारी गृहस्थों को ही धन देना चाहिए। एक दिन चक्रवर्ती भरत ने नगर के सब लोगों को किसी उत्सव के बहाने अपने महल बुलाया।

महल के अंदर पहुँचने के लिए जो मार्ग थे उन्हें हरित अंकुरों से आच्छादित करा दिया। बहुत से लोग उन पर चढ़कर अंदर प्रविष्ट हुए परंतु कुछ लोग बाहर ही खड़े रहे। भरत चक्रवर्ती ने जब उनसे अन्दर न आने का कारण पूछा तो उन्होंने बताया कि मार्ग में घासादि में एकेंद्रिय जीव होते हैं। हम इन पर चलेंगे तो ये मर जाऐंगे। दूसरे मार्ग से उन्हें अंदर बुलाया गया और उन्हें दयालु समझकर श्रावक संज्ञा दी वही ब्राह्मण कहलाए। इस प्रकार चक्रवर्ती भरत ने ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की। इन्हें ब्राह्मणोचित क्रियाकांडादि का उपदेश दिया। गर्भान्वय, दीक्षान्वय व कर्त्रन्वय क्रियाओं का निरूपण किया।

राजसभा में विराजमान अन्य राजाओं के मध्य राजनीति तथा वर्णाश्रम धर्म का उपदेश दिया। वे राजशास्त्र के तत्त्वों को जानते थे, धर्मशास्त्र के जानकार थे व कलाओं के ज्ञान में प्रसिद्ध थे, महान् वैभव के धारी थे। उनका सार्वभौम पद आश्चर्य जनक था। चक्रवर्ती की कीर्तिरूपी पताका चहुँ और फहरी। कैलाश पर्वत पर रत्नजड़ित 72 जिनमंदिरों का भी निर्माण कराया।

संपूर्ण भरत क्षेत्र पर राज्य करने के पश्चात् उन्होंने दिगम्बरी दीक्षा अंगीकार की और ध्यान कर अंतर्मुहूर्त में सर्व कर्म निर्जीर्ण करके मोक्ष प्राप्त किया। इन्हीं, ऋषभदेव के महान् पुत्र भरत चक्रवर्ती के नाम पर इस देश का नाम भारत पड़ा।

आचार्य विद्यानंदि स्वामी ने श्री श्लोक वार्तिक में कहा है-

अनादिसंज्ञा संबंधत्वाद्धा आदि-मदनादि भरतक्षत्रिययोगाद् भरतो वर्षः रूपतोपपत्तेः।

भरत क्षत्रिय (चक्रवर्ती) के योग के कारण से यह भरत क्षेत्र कहलाता है। अनादि से ही इस क्षेत्र की 'भरत' ऐसी संज्ञा है। इस प्रकार भरत क्षत्रिय प्रथम चक्रवर्ती के योग से 'भरत' यह संज्ञा

आदिमान है तथा अनादिकालीन संज्ञा है ऐसा मान लेने पर 'भरत वर्ष' को अनादिस्वरूपपना है। भगवान ऋषभदेव और सम्राट भरत इतने अधिक प्रभावशाली पुण्य पुरुष हुये हैं कि उनका जैनग्रन्थों में तो उल्लेख आता ही है उसके सिवाय वेद के मन्त्रों, जैनेतर पुराणों, उपनिषदों आदि में भी उल्लेख मिलता है। यह दूसरी बात है कि वह कितने ही अंशों में भिन्न प्रकार से दिया गया है। इस देश का भारत नाम भी भरत चक्रवर्ती के नाम से ही प्रसिद्ध हुआ है।

उक्त कथन की पुष्टि निम्न उद्धरणों से होती है-

''नाभिर्मरुदेव्यां पुत्रमजनयत् ऋषभनामानं तस्य भरतः पुत्रश्च तावदग्रजः तस्य भरतस्य पिता ऋषभः हेमाद्रेर्दक्षिणं वर्ष महद् भारतं नाम शशास''॥ (बाराहपुराण अध्याय 7-4)

इसी प्रकार ''विष्णुपुराण द्वितीयांश'' अध्याय 1 में कहा:-

ऋषभाद् भरतो जज्ञे ज्येष्ठः पुत्रशताग्रजः।
ततश्च भारतं वर्षमेतल्लोकेषु गीयते॥३२॥

सौ पुत्रों में सबसे बड़ा पुत्र भरत ऋषभदेवजी से उत्पन्न हुआ। उस भरत से इस देश का नाम भारतवर्ष कहा जाता है।

स्कन्धपुराण माहेश्वर खण्ड के कौमारखण्ड अध्याय 37 में कहा-

''नामेः पुत्रश्च ऋषभः ऋषभाद् भरतोऽभवत्।
तस्य नाम्ना त्विदं वर्ष भारतं चेति कीर्त्यते॥५७॥

इसी प्रकार के अन्य प्रमाण ''मार्कण्डेयपुराण के अध्याय 50 में, ''कूर्मपुराण'' अध्याय 41 में, 'अग्निपुराण' अध्याय 10 में, ''वायुमहापुराण पूर्वार्ध'' के अध्याय 33 में, 'ब्रह्माण्डपुराण पूर्वार्ध अनुषङ्गपाद' के अध्याय 14 में तथा लिंगपुराण अध्याय 47 आदि से भी प्राप्त होते हैं।

राजा के गुण

दाणी सूरो गुणी चागी, णिट्ठावाणो परक्कमी।
दूरदिट्ठा हु गंभीरो, उवयारी पयाइ जो॥११॥
अहिंसगो महाजोद्धा, संतो य वय-संजमी।
सीलड्ढोदार-विण्णाणी, सो आरसिय-भूवदी॥१२॥

अर्थ:-जो दानी, शूर, गुणी, त्यागी, निष्ठावान्, पराक्रमी, दूर दृष्टा, गंभीर, प्रजा का उपकारी, अहिंसक, महायोद्धा, शांत, वाक् संयमी, शीलवान्, उदार व विज्ञानी हो वह ही आदर्श भूपति कहलाता है।

The king who is a philanthropist, courageous, talented, sacrificial, loyal, brave, foresighted serious, kind to subjects, non-violent, a great warrior, calm, restrained in speech, morally strong, generous and a scientist (endowed with special knowledge) is really an ideal king.

भावार्थ:-जब भी व्यक्ति आदर्श के रूप में सामने आता है तब उसमें निश्चित तौर पर कोई न कोई ऐसी विशेषता होती है जो उसे सभी व्यक्तियों से अलग प्रदर्शित करती है। आदर्श व्यक्तित्व वह कहलाता है जो स्वयं गुणों का पुंज हो, निर्मल, उज्ज्वल व धवल हो। जो ऐसे मार्ग पर चला हो कि यदि पीछे आने वाले लोग उसका अनुकरण करें तो फिसले नहीं, मार्ग भटके नहीं। कुछ व्यक्ति आदर्श बनाते हैं और कुछ आदर्श बन जाते हैं। जो आदर्श बनते हैं वे तो सर्वश्रेष्ठ हैं हीं किंतु जो दूसरों को आदर्श बनाते हैं वे भी उत्तम हैं। आदर्श का अर्थ होता है दर्पण। जिस प्रकार स्वच्छ व निर्मल दर्पण के सामने खड़े होकर यदि व्यक्ति अपना चेहरा देखना चाहे वह देख सकता है और यदि चेहरे पर कहीं कोई गंदगी लगी हो तो वह साफ भी कर सकता है। उसी प्रकार जो लोग आदर्श बनाते हैं वे उस आदर्श

को देखकर वैसा ही होने का प्रयास करते हैं अथवा अपनी कमियों को दूर करने का प्रयास करते हैं।

ग्रंथकार यहाँ आदर्श राजा के गुणों का उल्लेख कर रहे हैं अथवा जो राजा आदर्श बनना चाहता है वह किन गुणों को अपने अंदर अंगीकार करे। सर्वप्रथम बताया राजा दानी हो। उदार चित्त वाला ही दान कर सकता है। राजा के दर पर कोई भी आए किंतु वह खाली हाथ न लौटे। पहले भी राजाओं की परंपरा रही है किमिच्छिक दान देने की। यदि राजाओं से किसी ने भिक्षुक बनकर राज्य भी माँगा है तो सत्य व धर्म की रक्षा हेतु वह भी दिया है। वैदिक परंपरानुसार राजा हरिश्चंद्र जिन्होंने स्वप्न में विप्र को संपूर्ण राज्य दान दिया तो पुनः जागने पर उस राज्य का परित्याग कर दिया क्योंकि दान में दी गई वस्तु भोग के योग्य नहीं होती।

दान में राजा युधिष्ठिर, राजा कर्ण भी प्रसिद्धि को प्राप्त हुए। राजा वज्रजंघ, राजा श्रीषेण, राजा मेघरथ, चक्रवर्ती भरत अथवा अन्य राजाओं ने भी दान के माध्यम से इह-पर लोक सुख को प्राप्त किया। राजा छत्रसाल का पुत्र जो अत्यधिक दान देता था एक बार उनकी माँ ने उनसे पूछा, "बेटा ! यदि सामने वाला यह मदारटूंगा का पहाड़ सोने का हो जाए तो तुम्हारे दान देने के लिए कितने दिन का काम चल जाएगा।" बेटे ने विनम्रता पूर्वक उत्तर दिया "माँ ! मेरे लिए तो यह एक जुबान का है, अब यह ले जाने वाले पर निर्भर है कि वह कितने दिन में ले जाता है।" यह बात सुन उनकी माँ आश्चर्यचकित रह गई और अपने पुत्र की इस उदारता को देख उनके नयन अश्रुपूरित हो गए। राजा द्वारा प्रजा को दान दिया जाना राजा की उदारता, प्रजा के प्रति वत्सलता का प्रतीक है।

राजा शूरवीर हो, पराक्रमी हो, श्रेष्ठ योद्धा हो। ऐसा राजा बाह्य शत्रुओं से अपने राज्य को सुरक्षित रखने में समर्थ होता है। राजा की

शूरवीरता उसका आभूषण है। यदि राजा शूरवीर नहीं होगा तो वह अपनी प्रजा की सुरक्षा किस प्रकार कर सकेगा। इतिहास में वे राजा जो अत्यंत पराक्रमी रहे उनकी वीर गाथा स्वर्णाक्षरों में अंकित है। पराक्रमी राजा अपने राज्य का विस्तार करने में, स्व पर चक्र से रक्षा करने में समर्थ हो सकता है। तभी वह प्रजा के लिए विश्वसनीय भी होगा। जिस राजा की छत्रछाया में प्रजा निर्भीक और निश्चिंत रह सके निःसंदेह वह राजा योग्य है और राजा के शक्तिशाली होने पर प्रजा निश्चिंत हो सकती है, उसे यह विश्वास हो कि हमारा राजा प्रत्येक संकट का सामना करने में सक्षम है। अन्य गुणों के साथ-साथ शक्तिशाली व्यक्ति ही शासन करने में समर्थ होता है।

भार्गव नामक विद्वान ने कहा है-

वर्तते योऽरिमित्राभ्यां यमेन्द्राभः भूपतिः।
अभिषेको व्रणस्यापि व्यञ्जनं पट्टमेव वा॥

राजा शत्रुओं के साथ काल के सदृश और मित्रों के साथ इंद्र के समान प्रवृत्ति करने वाला होता है, कोई व्यक्ति केवल अभिषेक और पट्ट बंधन से राजा नहीं हो सकता-उसे प्रतापी, पराक्रमी और शूरवीर होना चाहिए। अन्यथा अभिषेक (जल से धोना) और पट्ट (पट्टी) बांधना आदि चिह्न तो घाव के भी किए जाते हैं उसे भी राजा कहना चाहिए।

अगली बात कही राजा गुणी हो। शासन करने वाला व्यक्ति गुणों से संपन्न होना चाहिए तभी वह शासित को गुणवान् बना सकता है। अपने से अधिक गुणी व्यक्ति के सामने झुकने की प्रवृत्ति सज्जनों में होती है। भय से प्रजा का सिर झुकवाया तो जा सकता है पर अवसर मिलने पर वे ही विद्रोह करने से पीछे नहीं रहेंगे। किंतु गुणाधिकता को देखकर, स्नेह व प्रेम से झुके सिर अपने स्वामी के लिए शीश

कटाने में भी विचार नहीं करेंगे। राजा न्यायी, पक्षपात से रहित, मर्यादाओं सुपरंपराओं का पालन करने वाला, सभ्यता और संस्कृति की रक्षा करने वाला हो। जिसकी जीवन चर्या से ही प्रजा उपदेश ग्रहण कर सके। वह सबके लिए एक आदर्श बन सके। राजा के अंदर गुण उस प्रकार से हों जिस प्रकार रत्नाकर कहलाने वाला वह समुद्र अपने अंदर अनंत रत्नों को छिपाकर रखता है। प्रत्येक भेंट में राजा का कोई नया गुण उस व्यक्ति को प्राप्त हो। गुणवान् व्यक्ति ही शासन करने का अधिकारी है।

अन्याय, अनीति, भ्रष्टाचार, अत्याचार, हिंसा से दूर वह राजा अहिंसा, प्रेम, करुणा, मैत्री, एकता, शांति का प्रस्थापक हो और यह तभी संभव है जब वह स्वयं इन गुणों से संपन्न हो। राजा का गुणी होना प्रजा के लिए उसके प्रति विशेष आस्था का भी कारण होता है। राजा तो वह है पीठ पीछे जिसके विरोधी या शत्रु भी उसकी प्रशंसा करें। राजा का व्यक्तित्व आकर्षक होना चाहिए। वह बहुमुखी व्यक्तित्व का धनी हो।

पिता माता गुरुर्भ्रात बंधुवैश्रवणो यमः।
नित्यं सप्तगुणैरेषां युक्तो राजा न चान्यथा॥

पिता, माता, गुरु, भाई, बंधु, कुबेर और यम-इन सातों के दर्शनीय सद्गुणों से नित्य युक्त होने पर ही शासक सचमुच राजा कहलाने योग्य होता है, वरना नहीं।

एक राजा को पिता, माता, गुरु, भ्राता, बंधु, कुबेर और यम-इन सातों के गुणों को अपनाकर राजकार्य करना चाहिए। पिता पालक होता है। वह कुछ भी करके अपने परिवार का पालन करता है। माँ के हृदय की ममता जिस प्रकार अपने बालक के सुख-दुःख को अपना लेती है, उसी प्रकार राजा को अपनी प्रजा से प्यार करना चाहिए। कहा भी है-

गुणसाधन संदक्षः स्वप्रजायाः पिता यथा।
क्षमयित्र्यपराधानां माता पुष्टिविधायिनी॥

जैसे अपनी संतान को गुणवान् बनाने में पिता निपुण होता है वैसे ही राजा को भी अपनी प्रजा को गुणवान् बनाने में निपुण होना चाहिए। जिस प्रकार माता अपनी संतान के अपराधों को क्षमा करने वाली तथा पुनः संतान का सम्यक् मार्ग निर्देशन करने वाली होती है, उसी प्रकार राजा को भी होना चाहिए।

राजा को गुरु की भाँति प्रजा का शिक्षक होना चाहिए। भाई के समान हितैषी होना चाहिए। बंधु के समान उसके सुख-दुःख का ध्यान रखना चाहिए। कुबेर के समान उसके आर्थिक पक्ष को समृद्ध करना चाहिए और यम के समान उसके मन में राज्य दंड का भय बनाए रखना चाहिए।

अगली बात कही राजा त्यागी हो। कुछ भी प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम त्याग आवश्यक है। राजा को भी अपनी कई इच्छाओं, प्रिय वस्तुओं आदि का त्याग राष्ट्र हित के लिए करना पड़ता है किंतु हर कोई ऐसा करने में समर्थ नहीं होता और जो ऐसा करने में समर्थ है वही आदर्श राजा है। त्याग या बलिदान राजा का महान गुण है। अतीत में देखने पर पाते हैं कि कितने ही राजाओं ने राष्ट्रहित के लिए अपनी इच्छा, वस्तु, यहाँ तक कि पारिवारिक राज सदस्यों का भी परित्याग कर दिया। जब परिस्थिति पड़ने पर राजा स्वयं सुख-सुविधाओं का त्याग करने में पीछे नहीं रहेगा तब सुरक्षाकर्मी अथवा प्रजा भी त्याग कर राष्ट्रहित कार्य में संलग्न होगी।

आगे कहा राजा निष्ठावान् हो। भगवान पर, गुरुओं पर, धर्म पर श्रद्धा करने वाला हो। धर्म के प्रति उसकी श्रद्धा प्रजा को भी धर्म के प्रति अग्रसर होने की प्रेरणा देती है। राजा प्रत्येक कार्य से पूर्व भगवान

की पूजार्चना करता हो, प्रत्येक कार्य का प्रारंभ मंगलाचरण से हो अथवा भगवान का नाम लेकर हो, जो उसकी निष्ठा और शिष्टाचार का प्रतीक भी है।

राजा दूरदृष्टा और गंभीर हो। कोई भी निर्णय लेने से पूर्व वह उसके भावी कारणों पर भी विचार कर ले। दूरदृष्टि राजा का विशेष गुण है। जो राजा दूर के परिणामों को ज्ञात कर कार्य करता है उसे पछताना नहीं पड़ता। दूरदृष्टि रखने वाला राजा अपने देश को कई भावी संकटों से बचा सकता है और उसके उत्थान में सहायक बन सकता है। एक गलत निर्णय उसके कई अच्छे कार्यों को धूल में मिला सकता है और ऐसे घातक परिणाम भी प्राप्त हो सकते हैं जिनको सुधारने का अवसर भी उसे प्राप्त न हो।

राजा समुद्र के समान गंभीर हो। क्रोध का निमित्त उपस्थित होने पर भी नदी सा उफान उसमें न आए या प्रसन्न होने पर भी अपनी मर्यादा न लाँघ दे। जिस प्रकार आर्णव गंभीर और मर्यादित होता है उसी प्रकार राजा को भी होना चाहिए। राजा प्रजा का उपकारी हो। प्रजा के हित के लिए कार्य करने वाला हो। प्रजा का हित करने वाला राजा प्रजा की शुभ भावनाओं का ग्राहक तो होता ही है और प्रजा के लिए पिता या भगवान कहलाने वाले अर्थों को सार्थक भी करता है। पिता की भाँति अपनी प्रजा का संरक्षण करने वाला हो, उनका सम्यक् मार्ग निर्देशन करने वाला हो। प्रजा को समीचीन मार्ग दर्शाने वाला राजा अपने देश का उत्थान करने में समर्थ हो सकता है।

आगे कहा राजा अहिंसक हो। राजा स्वयं तो हिंसा से विरक्त हो ही और अपने देश के नागरिकों को भी हिंसा कर्म से दूर रखे। हिंसा से प्रयोजन यहाँ शौक या पंचेंद्रियों के विषय या स्वाद, श्रृंगार आदि के लिए की गई हत्याओं से है। राजा का अहिंसक होना, संभव है

उसकी प्रजा को भी हिंसा से दूर रखे। राजा प्रजा का रक्षक माना जाता है और यदि रक्षक ही भक्षक बन जाए तब तो प्राणी अपनी रक्षा करने में समर्थ नहीं हो सकेंगे। अहिंसक राजा ही देश में शांति की स्थापना कर सकता है।

राजा का महायोद्धा होना भी उसका एक विशेष गुण है। अपनी प्रजा व देश के हित के लिए यदि उसे युद्ध भी करना पड़े तो वह पीछे न हटे बल्कि उन सबको दंडित कर यह दिखा सके इस देश का राजा इतना समर्थ है कि उसके होते हुए कोई इस राज्य पर आक्रमण का विचार भी न करे। राजा का बल प्रजा को भी बल प्रदान करता है।

राजा शांत प्रकृति का हो, वचनों पर संयम रखने वाला हो। कई बार राजा के समक्ष ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं जब उसे अत्यधिक क्रोध उत्पन्न होता है परंतु वहाँ किया गया क्रोध किसी कार्य को बिगाड़ सकता है अत: वह शीघ्र उत्तेजित या आवेशित होने वाला न हो। शांति से प्रत्येक समस्या का समाधान खोजा जा सकता है। उत्तेजना या आवेश स्वयं की कमजोरी को प्रदर्शित करता है, वैसे भी शांति से बैठकर, शांत चित्त होकर लिया गया निर्णय सर्वहितकारी होता है। जिस प्रकार ठंडा लोहा, ठंडे लोहे और गर्म लोहे दोनों को काटने में समर्थ होता है उसी प्रकार शांत प्रकृति वाला हर समस्या का समाधान ढूँढ सकता है। गर्म लोहा न गर्म लोहे को काट सकता और न ठंडे लोहे को। ऐसे ही उत्तेजित व्यक्ति भी सर्वहितकारी समाधान नहीं कर सकता। राजा की शांत प्रकृति भी उसका बल है।

वह राजा वचनों पर संयम रख सकता हो। स्वयं को संयमित करने वाला हो। स्वयं पर अनुशासन करने वाला ही दूसरों को संयमित और अनुशासित कर सकता है। राजा के शब्द नपे-तुले होने चाहिए।

राजा का प्रत्येक शब्द प्रमाणभूत माना जाता है। असंयमित वाणी राजा के धवल चारित्र पर एक कलंक का काम कर सकती है। अत: वाणी का संयमित होना राजा का एक विशेष गुण है।

राजा शीलवान् हो, उदार चेता हो। राजा अपनी रानियों में ही संतुष्ट रहने वाला हो इसके अतिरिक्त सभी स्त्रियों को माता, बहन या बेटी की तरह जानकर अपने कर्त्तव्य का पालन करे। राजा अपने हृदय में समान रूप से सबको स्थान दे सके।

''अयं निज परोवेत्ति गणनां लघु चेतसां''।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुंबकम्''॥

यह मेरा है, यह तेरा है यह लघु चित्त वालों की प्रवृत्ति होती है, उदार चित्त वाले मनुष्यों के लिए संपूर्ण वसुधा ही परिवार के समान है और राजा का चित्त भी ऐसा उदार होना चाहिए जो वह संपूर्ण प्रजा का पुत्रवत् पालन कर सके, संपूर्ण राज्य को परिवार मान उनके हित के लिए तत्पर हो सके।

उदार चित्त व्यक्ति की सोच भी विराट होती है वह संकीर्णता से बाहर निकल खुले आकाश में जीता है। उदार चित्त वाला ही संधि, मैत्री, क्षमा आदि को अपना सकता है। अच्छे कार्यों के लिए सामने वाले को प्रोत्साहित कर सकता है और यह सब करना राजा को शोभा देता है जो चित्त की उदारता होने पर ही संभव है।

अंतिम बात कही राजा विज्ञानी अर्थात् विशेष ज्ञान से युक्त हो। अधिकतम कलाओं में प्रवीण हो क्योंकि ये ही विशेषताएँ एक व्यक्ति को राजा के रूप में अग्रगण्य करती हैं। इन विशिष्ट गुणों से युक्त राजा ही आदर्श राजा कहलाता है।

राजा के लक्षण

देवभत्तो सयायारी, दाणी धीरो गुणायरो।
णायप्पियो दयालू णिब्बलाण बल-दायगो॥१३॥
रक्खगो सव्व-साहूणं, सज्जणाणं च गाहगो।
पंडिदो जो राया सो, धम्मीणमुवगारगो॥१४॥

अर्थ:-प्रभु भक्त, सदाचारी, दानी, धीर, गुणों का समुद्र, नित्य निर्बलों को बल प्रदान करने वाला, न्यायप्रिय, दयालु, सभी साधुओं की रक्षा करने वाला, सज्जनों का ग्राहक, धर्मियों का अनुग्रह करने वाला राजा निश्चय से पंडित है।

The king who is a devotee, virtuous, liberal, patient, ocean of the virtues, giving power to the powerless persons, a good judge, defender of all hermits, receiver of virtuous persons, patron of the religious people, is surely a scholar (pandit) in the true sense.

भावार्थ:-कुछ शब्दों का अर्थ रूढ़ि से चलता है अर्थात् लोक व्यवहार में उसका वही अर्थ लिया जाता है जो चल रहा है चाहे उसके अन्य कितने भी अर्थ हों। गौ के जिनवाणी आदि अर्थ होने पर भी गौ कहने से गाय अर्थ ग्रहण किया जायेगा। व्यसन का अर्थ आदत होता है परंतु आज व्यसन का अर्थ बुरी आदतों से लिया जाता है। इस प्रकार लोक व्यवहार में पंडित उसको कहा जाता है जो यज्ञ, हवनादि क्रियाएँ संपन्न करता हो। परंतु यहाँ पंडित से आशय है बुद्धिमान्, धीमान्, चतुर, कुशल।

कैसा राजा पंडित होता है उसके लक्षण ग्रंथकार यहाँ बता रहे हैं। सर्वप्रथम वह राजा प्रभु भक्त हो। प्रभु या गुरु का भक्त किसी भी परिस्थिति का डटकर सामना करने में सक्षम होता है। प्रभु गुरु पर आस्था रखने वाला नास्तिक नहीं आस्तिक होगा, धर्म पर विश्वास

रखने वाला होगा और राजा के आस्तिक होने पर प्रजा भी आस्तिक होगी। कोई कितना भी बड़ा राजा रहा हो परंतु उसकी किसी न किसी प्रभु पर विशेष आस्था रही है। आज भी प्राचीनकाल के राजाओं द्वारा बनवाये गए मंदिर इस बात के प्रतीक हैं और प्रभु पर आस्था रखने वाले राजाओं ने उन्हीं का नाम लेकर युद्ध में विजय प्राप्त की है। भगवान का नाम नि:संदेह भव तरणी नौका के समान है। जब भी देश पर संकट आया है तब-तब उस देश के राजा ने प्रभु की अर्चना कर उस संकट को टालने का प्रयास किया है। विद्या आदि सिद्धियों का कथन भी शास्त्रों में आता है। राजा की तीन शक्तियों में एक मंत्र शक्ति भी प्रसिद्ध है। चाहे उदयसिंह हो या महाराणा प्रताप, शिवाजी हो या कनककुमार, राजा भोज हो या चंद्रगुप्त मौर्य, महाबल हो या महीपाल, युधिष्ठिर हो या श्रीपाल सबकी प्रभु के प्रति विशेष आस्था थी।

अगली बात राजा सदाचारी, शिष्टाचारी हो। सदाचार का अर्थ है अच्छा आचरण। चलना, उठना, बैठना, बोलना, सोना, खाना-पीना सब श्रेष्ठ होना चाहिए। वह यत्नपूर्वक अपनी प्रत्येक क्रिया-चर्या करता हो। सदाचारी राजा ही अपनी प्रजा को सदाचारी बना सकेगा। यदि राजा कदाचारी, अत्याचारी होगा तो प्रजा में भी असंतोष फैलेगा, वह सुख-शांतिपूर्वक अपना जीवन व्यतीत नहीं कर सकेगी और प्रजा भी कदाचारी हो जाएगी। जिस देश का राजा ही कदाचारी होगा वह अपनी प्रजा को क्या शिक्षा देगा ? उस देश का गौरव अन्य देशों के सामने नहीं रह सकेगा। राजा के अत्याचारी होने का अर्थ देश ही अत्याचारी कहलाता है। राजा तो सभी के लिए आदर्श रूप होना चाहिए और आदर्श बनने के लिए सदाचारी होना आवश्यक है। व्यक्ति के आचरण से उसके कुल और जाति का पता लगाया जा सकता है। जो जिस स्थान पर हो उस अनुरूप ही उसका आचरण होना चाहिए।

एक समय राजा, मंत्री आदि सभी लोग जंगल में घूमने गए। संयोगवशात् वन में सभी लोग अलग-अलग हो गए। तभी एक व्यक्ति को जंगल में कुटिया दिखाई दी। वह वहाँ पहुँचा और एक महात्मा को वहाँ बैठे देख पूछा "ओ अंधे ! यहाँ से कोई व्यक्ति गया है क्या?" महात्मा जी बोले नहीं कोतवाल जी, अभी तो यहाँ से कोई व्यक्ति जाता प्रतीत नहीं हुआ। कोतवाल यह सुन आगे बढ़ गया। कुछ समय बाद दूसरा व्यक्ति वहाँ पहुँचा। उन्होंने उस महात्मा से पूछा "अरे सूरदास जी" ! क्या यहाँ से कोई व्यक्ति निकला है? महात्मा जी बोले "हाँ मंत्री जी", अभी कोतवाल जी यहाँ से गए हैं। यह सुन मंत्री उसी दिशा में आगे बढ़ गया। कुछ समय बाद वहाँ एक व्यक्ति और पहुँचा। उन्होंने महात्मा जी से पूछा "हे प्रज्ञा चक्षु श्रमण! क्या यहाँ से कोई व्यक्ति निकले हैं।" महात्मा जी बोले "हे राजन् ! अभी मंत्री और कोतवाल यहाँ से निकले हैं।" राजा ज्यों ही आगे बढ़ने को हुआ उसने कहा "महात्मा जी, क्षमा करें किंतु नेत्र ज्योति न होते हुए भी आपने ये कैसे जाना कि जो गए हैं वे मंत्री और कोतवाल थे।" महात्मा जी मुस्कराते हुए बोले राजन् ! व्यक्ति को पहचानने के लिए नेत्रों की आवश्यकता नहीं होती उनके आचरण से, व्यवहार से उन्हें पहचाना जा सकता है। आप लोगों के बोलने के तरीके व आपके व्यवहार ने हमें पहचान करवायी।

राजा का आचरण तो उच्च व श्रेष्ठ ही होना चाहिए। निम्न कुल में जन्म लेने वालों के कोई सींग नहीं होते और उच्च कुल में जन्म लेने वालों के कोई कमल नहीं खिलते अपितु उनके आचरण से उनकी पहचान हो जाती है। जहाँ सदाचार की बगिया होती है वहाँ गुणों के पुष्प स्वयं खिल जाते हैं। यदि राजा सदाचारी होगा तो प्रजा भी प्रायः सदाचारी होगी और इसी से देश सदाचारी कहलायेगा। एक सदाचारी व्यक्ति ही दूसरों को सदाचार की शिक्षा दे सकता है।

आगे कहा राजा दानी, धीर और गुणों का आकर हो। राजा विशेष उत्सवादि पर प्रजा को पुरस्कृत करता है। राजा के दरबार से कोई खाली हाथ नहीं जाना चाहिए। वह राजा धीर अर्थात् धैर्यवान् होता है। पहले बात पर विचार करता है उसके पश्चात् प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। जिस प्रकार हल्का तवा जल्दी गरम हो जाता है उस प्रकार की प्रवृत्ति राजा की नहीं होती। वह भारी व्यक्तित्व वाला होता है अथवा होना चाहिए। यदि आपत्तिकाल में राजा ही धैर्य छोड़ दे तो राज परिवार व प्रजा को कौन सम्हाल सकता है। जिस प्रकार आँधी तूफानों के मध्य शैल अडिग रहते हैं उसी प्रकार राजा को भी सब आपत्ति-विपत्तियों का सामना डटकर करना चाहिए, प्रशस्त लक्ष्य पर या मार्ग पर अडिग रहना चाहिए। किसी भय या लोभ से ऐसे व्यक्तियों का साथ न दे जो उसके स्वयं के, प्रजा अथवा देशादि के अहित का कारण हैं अथवा अंत में पश्चाताप ही करना पड़ता है।

राजा गुणों का समुद्र होना चाहिए। जिस प्रकार समुद्र अपने अंदर कीमती रत्नों को गर्भित किए हुए है उसी प्रकार मर्यादित राजा अपने अंदर गुण रूपी रत्नों को गर्भित करने वाला हो। जब भी कोई व्यक्ति उससे भेंट करे तो हर बार एक नव गुण रूपी रत्न चमकता दिखाई दे। उसका व्यक्तित्व लोक को भी आश्चर्यचकित करने वाला हो। चाहे वह गुण वात्सल्य हो अथवा दूसरों को दंडित करने वाला, चाहे वीरता का हो या वाक् पटुता का, युद्ध का हो या संधि का। रामचंद्र जी का चरित्र जिसमें एक ही व्यक्तित्व में कई गुण उभर कर आते हैं। जहाँ माता-पिता के आज्ञाकारी थे वहाँ गुरुभक्त भी, मर्यादा पुरुषोत्तम थे तो धीर, वीर, गंभीर भी। वात्सल्य रत्नाकर भी थे तो राजधर्मी भी। इस प्रकार वह राजा कई गुणाभूषणों से अलंकृत हो।

अगली बात कही राजा निर्बलों को बल प्रदान करने वाला भी हो। यदि प्रजा में कोई निर्बल अथवा छोटा गाँवादि निर्बल है तो उसकी

सभी प्रकार की सुरक्षा हेतु राजा को वहाँ जिस प्रकार के बल की आवश्यकता हो उस प्रकार का बल अर्थात् शिक्षा बल, शारीरिक बल, सैन्य बल, आर्थिक बल अथवा अन्य प्रकार के बल प्रदान करना चाहिए। घाव शरीर के किसी भी अंग में हो दर्द तो पूरे शरीर को ही होता है। व्यक्ति किसी विशेष अंग का नहीं अपितु सभी अंगों का जहाँ परेशानी हो उपचार करता है। इसी प्रकार कुशल राजा को अपने देश के प्रत्येक ग्राम, कस्बा, नगरों आदि में शांति की स्थापना करना चाहिए। उनकी पीड़ाओं को सुन उनके कष्ट दूर करने का प्रयास करना चाहिए।

राजा न्यायप्रिय व दयालु हो। न्यायप्रियता राजा का एक विशेष लक्षण है। तभी तो नीतिकारों ने कहा है-

राजा मित्रो भवति केन दृष्टं वा श्रुतं वा।''

अर्थात् राजा किसी का मित्र हो ऐसा कभी देखा अथवा सुना है। क्योंकि मित्रता निभाने वाला न्यायप्रिय नहीं बन सकता और न्याय प्रिय व्यक्ति कभी मित्रता नहीं निभा सकता। राजा तो समय आने पर यदि अपराधी राजपरिवार का भी हो तो उसे भी दंडित करता है। राजा उस चंद्रमा की तरह होता है जिसकी चाँदनी बिना भेद भाव के नगर के सभी घरों पर पहुँचती है। न्याय करते समय राजा को कभी घबराना नहीं चाहिए। एक न्याय से चूकना अनीति और अत्याचार को बढ़ावा देना है। मेगस्थनीज ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि राजा चंद्र गुप्त के समय घरों में ताले नहीं डाले जाते थे वहाँ चोरी का उस समय कोई भय ही नहीं था। आज भी कुछ स्थान ऐसे हैं जहाँ चोरी, डकैती आदि का डर नहीं है। नारियाँ सुरक्षित हैं। यह सब भी राजा पर निर्भर करता है। यदि किसी अपराधी को उसके अपराध के लिए पहले ही दंडित कर दिया तो अन्य कोई उसे करने की हिम्मत नहीं करेगा और यदि अपराधी को क्षमा कर दिया तो पीछे 10 अपराधी और तैयार हो

जाऐंगे। इसीलिए राजा की न्यायप्रियता अनिवार्य है वरना राज्य का संचालन सुख-शांतिपूर्वक नहीं किया जा सकता।

एक राजा ने अपने कर्मचारी को भेजकर नमक मँगवाया। जब वह वापिस आया तब राजा ने उसका मूल्य पूछा ? वह सेवक हँसने लगा और बोला "राजन् ! जब नमक आपके लिए चाहिए था तो कौन पैसे लेता। सबने कहा राजा के लिए नमक है हम इसका मूल्य नहीं लेंगे।"

राजा ने जैसे ही यह सुना वे गंभीर आवाज में बोले "जाओ और अभी जाकर पैसे देकर आओ।" जब राजा ही बिना मूल्य चुकाए सामान लेगा तो प्रजा पर क्या प्रभाव पड़ेगा। कल कोई भी जाकर इसका गलत फायदा उठा सकता है। जब राजा स्वयं न्यायी होगा तभी तो प्रजा को न्यायपूर्वक ढंग से जीना सिखाएगा।"

अगली बात कही राजा दयालु प्रवृत्ति का हो। सभी जीवों पर करुणा करने वाला हो। चाहे उसकी प्रजा हो अथवा उस राज्य में रहने वाले पशु-पक्षी सबके प्रति दयावान् हो, उनके प्राणों की रक्षा करने वाला हो। राजा मेघरथ जिनकी दया, करुणा, अहिंसा की प्रशंसा स्वर्गों तक थी। एक बार दो देव आश्चर्य में पड़कर की क्या कोई व्यक्ति इतना दयालु हो सकता है, परीक्षा लेने धरती पर आये। एक ने बाज और एक ने कबूतर का रूप बनाया। राजा मेघरथ अपने कक्ष में बैठे हुए थे कि अचानक एक कबूतर उनके पास डरता हुआ सा आ बैठा। राजा उसे देख ही रहे थे कि तुरंत एक बाज वहाँ आ पहुँचा। कबूतर की भावनाओं को राजा ने तुरंत जान लिया। बाज बोला यह मेरा शिकार है इसे मुझे ले जाने दो। राजा बोला नहीं, यह मेरी शरण में आया है मैं तुम्हें इसे नहीं दे सकता, इसकी प्राण रक्षा करना मेरा कर्त्तव्य है।

बाज बोला मुझे बहुत भूख लगी है। राजा ने कहा इस बेचारे पशु का वध अपनी भूख मिटाने के लिए करना उचित नहीं है। मैं इसे तो तुम्हें नहीं दूँगा हाँ ! इसके बदले तौल कर अपना माँस दे सकता हूँ। बाज बोला ठीक है। राजा ने कबूतर को तराजू के एक पलड़े पर रखा और दूसरे पलड़े पर अपनी जांघ का माँस निकालकर रखता गया परंतु वह पलड़ा जरा भी न झुका। जब बहुत अधिक माँस निकाल दिया तब दोनों देव अपने सही रूप में प्रकट हुए हाथ जोड़कर बोले धन्य हैं धन्य हैं आप जैसे दयालु राजा को, जैसी आपके विषय में स्वर्ग लोक में चर्चा थी आप वैसे ही हैं। तो राजा को अपने राज्य में रहने वाले प्रत्येक प्राणी चाहे पशु पक्षी हो या मानव सबकी रक्षा करनी चाहिए।

आगे कहा राजा सभी साधुओं की रक्षा करने वाला हो। राजा के देश में जितने साधु साधना करते हों, स्व-पर कल्याणी हों, अपनी परिशुद्ध चर्या का पालन करते हों, उन सबकी रक्षा करना राजा का धर्म है। साधुओं की रक्षा कर वे धर्म की ही रक्षा करते हैं। साधुओं को उसकी साधना में कष्ट न हो, यह ध्यान रखते हुए राजा जिन प्रतिकूलताओं को दूर करने में समर्थ हो उनको भी दूर करना चाहिए। राजा सज्जन पुरुषों का ग्रहण करने वाला हो। राज्य में सज्जन पुरुषों को स्थान दे, प्रोत्साहन दे। दुर्जन पुरुषों का निग्रह और सज्जन पुरुषों का संग्रह करना राजा का कर्त्तव्य है। जिस प्रकार एक कुशल संचालक अपने समूह में योग्य व्यक्तियों का संग्रह करता है उसी प्रकार राष्ट्र शांति व उन्नति के हेतु श्रेष्ठ राजा भी सज्जन पुरुषों का संग्रह करता है।

आचार्य भगवन् श्री सोमदेव सूरी कहते हैं-

योऽनुकूलप्रतिकूलयोरिन्द्रयमस्थानं स राजा।

जो अनुकूल चलने वालों अर्थात् राजकीय आज्ञा का पालन करने वालों की इंद्र के समान रक्षा करता है तथा प्रतिकूल चलने वालों या अपराधियों को यमराज के समान सजा देता है उसे राजा कहते हैं।

राजा धर्मियों पर अनुग्रह करने वाला हो, उनका उपकार करने वाला हो। आचार्य भगवन् श्री समंतभद्र स्वामी ने लिखा है ''न धर्मो धार्मिकै र्विना'', बिना धार्मिक व्यक्तियों के धर्म नहीं ठहरता अथवा धार्मिक व्यक्तियों के बिना धर्म नहीं होता। गुण गुणी को अलग नहीं किया जा सकता। मिठास और शक्कर, ज्ञान व आत्मा, खारापन व नमक, ऊष्मा व अग्नि, शीतलता व जल को अलग-अलग नहीं किया जा सकता। इनको अलग-अलग कहा तो जा सकता है परंतु करा नहीं जा सकता। इसी प्रकार धर्म धर्मी से अलग नहीं किया जा सकता अर्थात् जिसकी आत्मा में धर्म का वास होता है वह धर्मी कहलाता है। ऐसा धर्मी केवल मंदिर में ही धर्म की क्रियाएँ नहीं करता अपितु वह कहीं भी हो घर या दुकान, बाजार या ऑफिस हर जगह धर्म का पालन करता है, धर्म विरुद्ध कोई कार्य नहीं करता।

धर्मी के धर्म सदा मन में,
राम चंद्र अरु सीता रानी।
जाए बसे दंडक वन में,
धर्मी के धर्म सदा मन में।।

आचार्य भगवन् श्री सोमदेव सूरी राजा के लक्षण बताते हुए कहते हैं-जो धर्मात्मा, कुलाचार व कुलीनता के कारण विशुद्ध, भाग्यशाली, नैतिक, दुष्टों से कुपित व शिष्टों से अनुरक्त होने में स्वाधीन और आत्मगौरव युक्त तथा प्रचुर संपत्तिशाली हो उसे राजा कहते हैं।

शुक्र विद्वान् ने भी राजा के लक्षण को इस प्रकार निर्देशित किया है-

धार्मिको यः कुलाचारै-र्विशुद्धः पुण्यवान्नयी।
स स्वामी कुरुते राज्यं विशुद्धं राज्यकंटकैः॥

धार्मिक, कुलाचार से विशुद्ध, पुण्यवान् राजा ही निष्कंटक राज्य करता है।

इस प्रकार प्रभु परमात्मा का भक्त, न्यायप्रिय, सज्जनों का ग्राहक, धर्मियों का अनुग्रह करने वाला, दानादि गुणों से संपन्न राजा निश्चय से पंडित है, राष्ट्र शांति की स्थापना करने में समर्थ है।

राजा के कर्त्तव्य

सयायारं हु रक्खेज्जा, कयायारं च उज्झदु।
परिपालेज्ज धम्मत्थी य, अज्जदु णायपुव्वगं॥१५॥
उवयरेज्ज पाणी हु, णीदी गुणा य वड्ढदु।
सव्व-धम्मा वि रक्खेज्जा, सुद्धु-रायो हु सव्वदा॥१६॥

अर्थ:-राजा को सदाचार की रक्षा करनी चाहिए, कदाचार को छोड़ना चाहिए, धर्मियों का पालन करना चाहिए एवं न्यायपूर्वक धन का अर्जन करना चाहिए। श्रेष्ठ राजा का कर्त्तव्य सब धर्मों की रक्षा करनी चाहिए है, अच्छे गुण और नीति का संवर्द्धन करना चाहिए तथा प्राणी मात्र का उपकार करना चाहिए।

Duties of an ideal king is to protect all the religions, to enhance the virtues and good policy. He should be a benefactor and a well wisher of every creature. The king should protect good conduct and leave bad conduct. He should look after the pious people and earn money justly.

भावार्थ:-राजा शब्द दो अक्षरों के मेल से बना है। जिसमें प्रथम 'रा' अक्षर का अर्थ है लक्ष्मी, स्नेह, आनंद, अनुशासन, मनोरंजन, प्रकाश, आधार। दूसरे 'जा' अक्षर का अर्थ है उत्पन्न करने वाला। जो लक्ष्मी का कारक हो, जिसमें प्रजा का एवं जिसका प्रजा में स्नेह हो, वैभव संपन्न हो। स्वयं अनुशासित हो और दूसरों पर अनुशासन करने में समर्थ हो। ज्ञानी, गुणी हो और दूसरों के लिए चैतन्य ज्ञान दीपक की तरह से हो, दूसरों के चित्त को आनंद देने वाला हो, दूसरों के भय को निवारण कर अभय प्रदान करने वाला हो। सभी जनों का (ज्ञानी, अज्ञानी, गुणी, अवगुणी, सुरूप, कुरूप, अमीर-गरीब, छोटा-बड़ा) आधार रूप हो। जिस प्रकार समुद्र सभी नदियों (खारी, मीठी) को

स्थान देना वाला होता है उसी प्रकार राजा भी सबको आधार देने वाला होता है। प्रजा के मध्य ऐसा शोभता है जैसे पृथ्वी पर पर्वत और क्षितिज पर तारों के मध्य चंद्रमा।

राजा के पर्यायवाची नामों में नृप, भूपाल, महीपाल, नरेन्द्र, महाराज इत्यादि शब्दों का अर्थ है मनुष्यों का पालक, प्रजा का पालक, सभी प्राणियों का पालक, स्वामी, विभु, रहस्यपूर्ण बातों का जानकार, श्रेष्ठ गुण, वैभव और पुण्य को भोगने वाला। प्रजा का संचालन करने वाला जो राजा पद पर आसीन है उसे चाहिए कि वह स्व-पर के हित का रक्षण करने की भावना से सभी धर्मात्माओं की अहिंसात्मक भावनाओं की रक्षा करे, विश्व के सभी अहिंसापरक धर्मों की रक्षा करे, अहिंसात्मक कार्यों का संवर्द्धन करे।

भारत की मूल संस्कृति, सभ्यता, पुरातत्त्व, पुरा संपदा एवं मानव हित के सिद्धांतों का संरक्षण एवं संवर्द्धन करे। जो राजा धर्म का संरक्षण करने में असमर्थ होता है वह अपनी संस्कृति, सभ्यता, संस्कार एवं पुरा संपदा का विध्वंसक तो होता ही है, स्व-पर का घातक भी सिद्ध होता है। अतः राजा को निरपेक्ष भाव से जीवदया आदि धार्मिक यज्ञ, अनुष्ठान एवं विधि-विधानों का संवर्द्धन व रक्षण करना चाहिए।

मनु विद्वान् कहते हैं-

वर्णाश्रमाणां यो धर्म नश्यन्तं च प्ररक्षति।
षष्ठांशं तस्य धर्मस्य स प्राप्नोति न संशयः॥

जो राजा समस्त वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करता है-उसे नष्ट होने से बचा लेता है वह उस धर्म के षष्ठं (6वें) अंश के फल को निःसंदेह प्राप्त होता है।

प्रजा में गुणों का संवर्द्धन करने के लिए गुणों की प्रशंसा, गुणीजनों का सम्मान एवं प्रोत्साहन देना चाहिए। गुणों के प्रचार-प्रसार के लिए सद्साहित्य, शिक्षा केन्द्र, विद्यालय आदि की स्थापना करना चाहिए, विद्वानों की गोष्ठी, सम्मेलन, भाषण व्याख्यानादि के आयोजन भी रखना चाहिए। न्याय नीति के मार्ग पर चलने वाले नागरिकों का सम्मान, पुरस्कार एवं विशेष सुविधाएँ देनी चाहिये। जो धर्म की मर्यादाओं के साथ खिलवाड़ करें, लोक कल्याणदायी भावनाओं का संहार करें, लोक नीति, धर्म नीति तथा संस्कृति की मान-मर्यादा पर कुठाराघात करें ऐसे व्यक्तियों को राजा कठोर से कठोर दंड देवे।

राज्य का संचालन करना बहुत बड़ी तपस्या व साधना है इस प्रकार के अच्छे कार्य करने पर संभव है कुछ लोग राजा के विरोधी व शत्रु भी बन सकते हैं किन्तु श्रेष्ठ राजा या आदर्श नायक इन सब बातों की किंचित् भी परवाह नहीं करता क्योंकि वह जानता है अच्छाई का फल बुराई नहीं हो सकता और बुराई का फल शाश्वत अच्छाई नहीं हो सकता। इसलिए वह सदैव बुराई के मार्ग से बचता है और प्रजा को बचाता है तथा अच्छाई के मार्ग पर चलता है और प्रजा को चलाता है।

राजा प्राणी मात्र के हित का ध्यान रखता है। केवल मनुष्य ही उसकी प्रजा नहीं होती है पशु-पक्षी आदि भी उसकी प्रजा ही होती है। इसीलिए राजा वृक्षों की रक्षा भी करता है नूतन वृक्षारोपण भी कराता है। वन में विचरण करने वाले पशु-पक्षियों के लिए भी जलाशयादि का निर्माण कराता है। पक्षियों को चुग्गा एवं पशुओं को चारादि की व्यवस्था भी कराता है। इतना ही नहीं जंगल में विचरण करने वाले हिंसक जानवरों के लिए राष्ट्रीय उद्यानों का निर्माण व संरक्षण कराता है।

यदि शत्रु देश के प्रजाजन भी इसके राज्य में शरण लेते हैं तो शत्रुता छोड़कर उनको भी प्राण रक्षा हेतु शरण देता है। चाहे भले ही उन शरणार्थियों ने राजा के साथ बाद में छल किया हो। इतिहास इस बात का साक्षी है अतीतकाल में भारतीय राजा, महाराजा व सम्राटों ने विदेशी व्यक्तियों को शरण दी और उन विदेशी व्यक्तियों ने अपने देश को गुलाम करने की चेष्टा की, जिसमें वे सफल भी हुए। भारत को लूटा एवं निरीह प्राणियों पर अत्याचार भी किए। इसके बावजूद भी भारतीय शासकों ने विदेश से भागे हुए शरणार्थियों को जीवन रक्षा हेतु शरण दी और आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि भारतीय शासक भविष्य में भी शरणार्थियों को शरण देते रहेंगे किंतु अतीत के सम्राटों, राजा-महाराजाओं ने जो गलतियाँ की संभव है वे उन्हें दोहराऐंगे नहीं।

राजा को सदाचार की रक्षा करनी चाहिए और कदाचार को दूर करना चाहिए। सद् आचार अर्थात् समीचीन, सही आचरण। प्रत्येक व्यक्ति को अच्छा आचरण करना चाहिए यदि व्यक्ति सदाचार को अपना ले तो धरती पर पापों की संख्या नगण्य हो जाएगी। आचार्यों ने प्राचीन काल से ही सभी प्रकार की शिक्षा करुणा कर मानव जाति को प्रदान की-

कधं चरे कधं चिट्ठे, कधमासे कधंसये।
कधं भुंज्जेज्ज भासेज्ज, कधं पावं ण वज्जइ॥

किस प्रकार चलें, किस प्रकार ठहरें, कैसे बैठें, कैसे सोयें, कैसे भोगें और कैसा बोलें? तब आचार्य महाराज कहते हैं जिस प्रकार पाप का बंध न हो, जीवों की रक्षा हो उसी प्रकार चलना, ठहरना आदि चाहिए।

राजा को भी अपनी प्रजा को सदाचार की शिक्षा देनी चाहिए। सदाचार की रक्षा करना चाहिए।

एक बार छत्रपति शिवाजी की सेना ने कल्याण राज्य पर आक्रमण किया और विजय प्राप्त की। सेना को देखकर शिवाजी प्रसन्न हुए और बधाई देते हुए पूछा कि इस विजय अभियान में तुम हमारे लिए क्या लाए हो। सेना ने अत्यंत प्रसन्नता से कहा "आज हम हिंदुस्तान की सर्वश्रेष्ठ वस्तु आपको समर्पित करना चाहते हैं।" इतना कहकर उन्होंने कल्याण नरेश की पुत्रवधु को शिवाजी के सामने खड़ा कर दिया। शिवाजी यह देखकर स्तब्ध रह गए। उन्होंने अपने सेनापति को धिक्कारते हुए कहा कि "इतना बड़ा अनर्थ ! मेरे रहते हुए इतना जघन्य कृत्य, धिक्कार है। किसी की कुलवधु को हाथ लगाते हुए तुम्हें शर्म नहीं आई ? क्या कल्याण नरेश की पुत्रवधु हमारी पुत्रवधु के समान नहीं है ? वह आप में से किसी की माँ और किसी की बहन समान है। आज तुम सबने मातृशक्ति का अपमान किया है। यदि तुम्हारी माता या बहन के साथ ऐसा व्यवहार हो तो तुम्हें कैसा लगेगा? जाओ ! मैं आदेश देता हूँ कि कल्याण नरेश की पुत्रवधू आज से मेरी ही नहीं पूरे मराठावाड़ की बहन है। अपने बहन के शील की रक्षा करते हुए उसे ससम्मान उसके राज्य तक पहुँचा दिया जाए।

इस प्रकार राजा ने सदाचार की रक्षा की और कदाचार का अंत किया। राजा को कदाचार करने वाले को दंडादि नीतियों के द्वारा उस पर रोक लगाकर सदाचार को बढ़ावा देना चाहिए।

राजा सुधर्मियों का पालक हो। उसके राज्य में रहने वाले के सुख-दु:ख में भागीदार बनकर उनका हित चिंतन करे। शुक्र नीति में कहा है-

दुष्टनिग्रहणं दानं प्रजाया: परिपालनं।
यजनं राज सूयादे: कोशानां न्यायतोऽर्जनम्॥
करदीकरणं राज्ञां रिपूणां परिमर्दनम्।
भूमेरुपार्जनं भूयो राजवृत्तं तु चाष्टधा॥

दुष्टों का नाश करना, दान देना, प्रजा का परिपालन, राजसूयादि यज्ञ करना, न्यायपूर्वक कोश बढ़ाना, राजाओं से कर वसूल करना, शत्रुओं का मान-मर्दन करना तथा राज्य को बार-बार बढ़ाना-ये आठ प्रकार के राजाओं के आचरण हैं।

आचार्य भगवन् श्री सोमदेव सूरी राजा के कर्त्तव्य बताते हुए लिखते हैं-

राज्ञो हि दुष्ट निग्रहः शिष्टपरिपालनं च धर्मः।

अपराधियों को सजा देना और सज्जन पुरुषों की रक्षा करना, राजा का धर्म है।

वर्ग नामक विद्वान् ने कहा है-

विज्ञेयः पार्थिवो धर्मः शिष्टानां परिपालनं।
दण्डश्च पापवृत्तिनां गौणोऽन्यः परिकीर्तितः॥

शिष्टों की रक्षा करना और पापियों, प्रजाकण्टकों, अपराधियों को सजा देना, राजा का प्रधान धर्म समझना चाहिए। इससे दूसरे कर्त्तव्य उसके लिए गौण कहे गए हैं।

और अंत में ग्रंथकार कहते हैं कि किसी भी राष्ट्र को धन की आवश्यकता होती है। अतः राजा का कर्त्तव्य है वह धन का अर्जन करे और वह धन का अर्जन न्यायपूर्वक करे। जिससे राज्य के किसी व्यक्ति को कष्ट न हो, दया से युक्त होकर वह धन अर्जित करे। धनार्जन में किसी भी प्राणी चाहे वह पशु-पक्षी ही क्यों न हों उनको पीड़ा नहीं हो इसका भी राजा ध्यान रखे। आश्रितों की रक्षा करना राजा का धर्म है और पशु आदि भी राजा के आश्रित होते हैं। अतः वह राज्यकोश की वृद्धि न्यायपूर्वक करे।

राजा के मित्र

दिक्खं गहंति रायेणं, सह मित्ताणि जे जणा।
ते जगे सेट्ठ-मित्ताइं, गच्छंति य परे भवे॥१७॥

अर्थ:-जो मित्र, बंधु लोग राजा के साथ दीक्षित होते हैं वे ही उनके इस जग में सच्चे मित्र हैं व पर भव में भी साथ जाते हैं।

Friends or companions who become monks with the king are his true friends in this world and transmigrate to the other world with him.

भावार्थ:-लोक व्यवहार में माना जाता है जो राजदरबार में, उत्सव में, धार्मिक अनुष्ठान में एवं श्मशान तक साथ देता है वह बंधु जन मित्र माना जाता है किंतु ये सभी बंधु-बांधव बंधन के ही कारण हैं, संसार में भ्रमण कराने वाले हैं। इनके साथ में रहकर न तो परलोक में सुख और शांति मिलती है और इस लोक में सुख-शांति मिलना भी नियामक नहीं है। बंधु-बांधव इतने हितकारी और उपकारी नहीं होते जितने कि सच्चे मित्र होते हैं। मित्रों के लक्षण बताते हुए नीतिकार कहते हैं-

पापान्निवारयति योजयते हिताय,
गुह्यं निगुह्यति गुणान् प्रकटीकरोति।
आपद्गतं न च जहाति ददाति काले,
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः॥

पाप का निवारण करता है, हित की योजना करता है, गुप्त बात को छिपाता है, गुणों को प्रकट करता है, आपत्ति में पड़े हुए को छोड़ता नहीं है तथा समय पर साथ देता है; ये उत्तम मित्र के लक्षण हैं, ऐसा सत्पुरुष कहते हैं।

शुक्र नीति में उत्तम मित्र के लक्षण बताते हुए कहा है-

यस्य सुद्रवते चित्तं परदुःखेन सर्वदा।
इष्टार्थे यततेऽन्यस्य प्रेरितः सत्करोति यः॥
आत्मस्त्रीधन गुह्यानां शरणं समये सुहृत्।
प्रोक्तोत्तमोऽयमन्यश्च द्वित्र्येकपदमित्रकः॥

जिसका मन दूसरे मित्र के दुःख से सदैव रो उठता है, जो दूसरे मित्र के अभीष्ट कार्य की सिद्धि के लिए सदा प्रयत्न करता है तथा बिना प्रेरणा के स्वयं मित्र का स्वागत करता है एवं अपने मित्र की स्त्री, धन व गुप्त विषयों की समय पड़ने पर रक्षा करने वाला होता है, वह उत्तम मित्र कहलाता है।

किंतु राजा का कोई मित्र हो ही नहीं सकता या राजा किसी का मित्र नहीं हो सकता। फिर भी यहाँ मित्र से तात्पर्य राजा के प्रति निष्ठा रखने से है और जैसे संभव हो वैसे समीचीन मार्ग पर उसका साथ देने से है।

ग्रंथकार सच्चे मित्र के संबंध में कहते हैं सच्चा मित्र परमेष्ठी ही हो सकते हैं जो अपने मित्र को परम पद तक साथ ले जाने में समर्थ होते हैं। सच्चा मित्र वही है जो अपने मित्र के लिए सुख की अभिलाषा करता है। आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थ सिद्धि में कहा भी है-

दूसरों के दुःख की अनभिलाषा मैत्री है।

मित्रों के साथ रहने से मार्ग सुलभता से पार हो जाता है। बिना मित्र के छोटा रास्ता भी भार जैसा दिखता है। लोक व्यवहार में भी देखा जाता है सहयात्री के बिना यात्रा निरापद भी आपद रूप प्रतिभासित होती है। सात कदम चलने वाला भी मित्र बन जाता है। श्री पद्म पुराण में रत्नचूल और मणिचूल का उदाहरण सुप्रसिद्ध है, अपने वचन का निर्वाह करके मित्रता को आदर्श रूप स्थापित कर

दिया। राजकुमार वारिषेण और पुष्पडाल का उदाहरण भी मित्रता के क्षेत्र में विशेष स्थान रखता है। श्री रामचंद्र और सुग्रीव की मित्रता को कौन नहीं जानता। प्रथम तीर्थंकर महाराज ऋषभदेव जब दीक्षित हुए तब उनके साथ अनेक मित्र राजाओं ने भी दीक्षा ली थी। श्री अमितगति आचार्य ने धर्म परीक्षा ग्रंथ में मनोवेग और पवनवेग, मित्रों का वर्णन किया जिसमें मनोवेग ने पवनवेग को सम्यक् मार्ग प्रदर्शित किया। पवनंजय और प्रहस्थ, महाराज दशरथ और जनक, अद्रिकुमार और अभयकुमार इत्यादि पुरुषों ने गृहस्थ जीवन में रहते हुए भी मित्रता निभायी विरक्त होने पर दीक्षा को स्वीकार कर आत्म कल्याण को प्राप्त किया।

राजा का सच्चा मित्र तो वह है जब तक राजा राज्य का संचालन कर रहा हो उसका राज्य संचालन में राजा की आवश्यकतानुसार साथ दे, राजा के द्वारा दिए गए निर्देशों का पालन करे, राजा का अनुसरण करे। उसे सम्यक् कार्यों के लिए प्रेरित करे, मुसीबत में उसका साथ दे, अच्छी सलाह दे। अर्थात् जब तक राजा राज्य का संचालन कर रहा है तब तक तो उसके साथ हर परिस्थिति में रहे, वह मित्र ही क्या जो साथ छोड़ दे अतः वह मित्र राजा का सहयोग हमेशा करे और जब वह राजा राज्य त्याग कर सन्यास ग्रहण करे तब उसका वह मित्र भी उसका अनुसरण करे। ऐसा मित्र इस भव में ही नहीं बल्कि अगले भव में भी और कभी निर्वाण पर्यंत भी साथ रहता है।

राजनीति

गूढ-सिक्खा हु रज्जस्स, तहा सव्व-हियंकरी।
पयं सुपालिदुं सक्का, रायणीदी विजाणदु॥१८॥

अर्थ:-सभी का हित करने वाली व प्रजा का अच्छी तरह पालन करने में समर्थ राज्य की गूढ़ शिक्षा ही राजनीति कहलाती है।

Profound education of the state which is beneficial for everyone and is able to cherish the subjects, is called politics.

भावार्थ:-नीतियाँ सुव्यवस्थित संस्कारित शिष्टाचारी एवं सभ्य समाज के कायदा, कानून व नियमों का नाम है। प्रत्येक क्षेत्र में अलग-अलग प्रकार के नियम और कानून होते हैं। उस विषय में संबंध रखने वाले व्यक्ति को तत्संबंधी नियम, कानून और मर्यादाओं का अवश्य ध्यान रखना चाहिए। नीति के मुख्य रूप से दो भेद हैं धर्मनीति और राजनीति। धर्मनीति मात्र स्वपर के हित पर आधारित है जिस कार्य से प्राणियों का कल्याण न हो वह धर्म नीति नहीं हो सकती है। धर्मनीति व्यक्तिगत भी होती है और सामूहिक भी। किन्तु राजनीति कभी व्यक्तिगत रूप में नहीं चलती।

राजनीति दो या दो से अधिक व्यक्तियों के बीच में चलती है जब वह धर्मनीति के साथ रहती है तो वह सुरक्षित व लोकोपकारी बन जाती है किंतु जब उसका उपयोग व्यक्तिगत स्वार्थ की सिद्धि के लिए किया जाता है तब वह राजनीति दूषित हो जाती है, स्व-पर के लिए घातक सिद्ध होती है। कूटनीति भी राजनीति का एक अंग है। साम, दाम, दंड, भेद इस प्रकार से राजनीति के मुख्य चार भेद हैं। अवसर के अनुसार राजनैतिक व्यक्ति की नीतियाँ ही नहीं सिद्धांत भी बदल जाते हैं। ऐसा राजनैतिक लोकप्रिय और विश्वस्त नहीं हो पाता।

बादशाहित शासन पद्धति में व्यक्ति प्रजा की सेवा करने का जब संकल्प लेता है, सबके हित में कार्य करने के लिए प्रतिज्ञा बद्ध होता है तो वह संत महात्मा की तरह से सम्मानीय, लोक माननीय होता है। बादशाहित शासक पद्धति को सर्वथा दूषित नहीं कहा जा सकता और प्रजातंत्र शासक पद्धति को सर्वथा अच्छा नहीं कहा जा सकता। ग्रंथकार का अनुभव तो शायद यह है जहाँ भी शासक और शासित प्रजा ईमानदारी के साथ स्व-पर के हितों का ध्यान रखते हुए प्रभु इबादत की तरह से राजकीय कार्य करता है तब उसे उन कार्यों से नियमतः आत्म संतोष व शांति की प्राप्ति होती है।

प्रत्येक राजनीति का उद्देश्य प्रजा को अधिक से अधिक सुख शांति देने का है। जिस राजनीति के परिणाम स्वरूप प्रजा को सुख-शांति का लाभ नहीं हो रहा हो तो वह राजनीति व्यर्थ है अथवा उसे राजनीति की श्रेणी में नहीं रखना चाहिए। जिन नीतियों का पालन करने से राजा-प्रजा दोनों ही पीड़ित होते हैं उन राजनीतियों का भी आदर्श राजा को त्याग कर देना चाहिए। राजनीति एक ऐसी गूढ़ शिक्षा है जो हर किसी की समझ में नहीं आ सकती। राजनीति धर्म, मानव धर्म से भी श्रेष्ठ होता है।

अनेक बार इतिहास की पुस्तकों, पौराणिक धर्म ग्रंथों एवं राजनीतिक शास्त्रों के उदाहरणों से ज्ञात हुआ है कि राजाओं ने राजधर्म का पालन करने के लिए अपने पारिवारिक धर्म को गौण कर दिया। जैसे कि रामचंद्र जी ने लोकापवाद के कारण सीता का परित्याग कर दिया, राज्य का परित्याग नहीं। हरिश्चंद्र ने भी सत्य की रक्षा व राजधर्म का पालन करने के लिए अपने राज्य का परित्याग किया, बाद में अपनी पत्नी व पुत्र को दूसरी जगह नौकरी करने के लिए नियुक्त किया। मगधाधिपति महाराज श्रेणिक/बिंबसार ने अपने ही पुत्र वारिषेण की असलियत का पता लगाए बिना लोगों के कहने को प्रमाण

मानकर दंड की घोषणा कर दी। महाराज नल ने दमयंती के साथ राज्य का परित्याग कर परिवार निरीह होकर संघर्षों का सामना किया। भीष्म पितामह, राजा मेघरथ, नारायण श्री कृष्ण, महाराणा प्रताप, पृथ्वीराज चौहान, वीर शिवाजी, चन्द्रगुप्त, रानी लक्ष्मीबाई इत्यादि शासकों ने राजधर्म को ही प्रधानता दी। अपने पारिवारिक धर्म को गौण ही नहीं किया, कई बार तो ऐसा प्रतीत हुआ जैसे भुला ही दिया हो।

वे राजा आदर्श रूप से सम्मानीय, अभिवंदनीय इतिहास में स्वीकार किए गए हैं जिन्होंने राजधर्म का पालन करने हेतु पारिवारिक धर्म का बलिदान कर दिया। राजनीति का लक्ष्य अपनी प्रजा को प्रसन्न रखना और उनकी रक्षा करना है।

योग्य मंत्री

सगदेसम्मि उप्पण्णो, जो पयाइ हियंकरो।
देसभत्तो सयायारी, दूरदिट्ठो दया-जुदो॥१९॥
णिब्भीओ राय-बाहोव्व, सेदू राय-पयाइ य।
देसुण्णदीइ आकंखी, धीमाणो सचिवो गुणी॥२०॥

अर्थ:-जो अपने देश में उत्पन्न है, निर्भीक है, राजा की भुजा के समान है, देशभक्त, सदाचारी, दूरदृष्टा एवं दया से युक्त है। प्रजा के हित का आकांक्षी है, राजा व प्रजा के बीच सेतु का कार्य करता है, सदा देशोन्नति का आकांक्षी है वह ही गुणवान् और ज्ञानी मंत्री होता है।

A person who is born in his own country, who is fearless, like the arm of the king, who is a patriot, virtuous, foresighted, kind, desirous of the prosperity of the country, talented, who acts as a strong connection (bridge) between the king and the subjects, is the talented scholar minister.

भावार्थ:-संसार में ऐसे लोग सर्वाधिक हैं जो स्व और पर के अहित में संलग्न हैं। उनसे कम संख्या उन लोगों की जो अपना हित करने के लिए दूसरों का अहित करने में लगे हुए हैं। वो लोग तो बहुत कम हैं जो अपना हित करते हुए दूसरों के हित की कामना, वांछा और भावना रखते हैं किंतु अच्छे व्यक्ति वे हैं जो पहले दूसरों का हित करने की सोचते हैं, बाद में अपना हित और सत्यता तो यह है दूसरों के हित की भावना भाने वालों का तो हित स्वयं ही हो जाता है।

बिना मंत्री मंडल के राजा उसी प्रकार असमर्थ होता है जिस प्रकार राजा के बिना मंत्री। रथ के संचालन में जो भूमिका घोड़ों की होती है, रथ के पहियों की भूमिका उससे कुछ कम नहीं होती। राजा

और युवराज दोनों अश्व की तरह माने जाते हैं तो मंत्री मंडल अनेक चक्रों की तरह से है। चक्रों के टूट जाने पर अश्व रथ को खींचने में असमर्थ हो जाते हैं तो अश्वों के बिना अखंड चक्र भी चलने में असमर्थ होते हैं। ग्रंथकार यहाँ पर कुशल मंत्री या सचिव के लक्षणों का वर्णन कर रहे हैं जिसमें ग्रंथकार की मंत्री से सर्वप्रथम अपेक्षा यही है कि वह अपने देश में उत्पन्न हो, अपने देश का निवासी हो।

आचार्य सोमदेव सूरि मंत्री का लक्षण बताते हुए कहते हैं-

ब्राह्मणक्षत्रियविशामेकतमं स्वदेशजमाचाराभिजनविशुद्धमव्यसनिनम-व्यभिचारिणमधीता-खिलव्यवहारतंत्रमस्त्रज्ञमशेषोपाधि-विशुद्धं च मंत्रिणं कुर्वीत॥

राजा का प्रधान मंत्री द्विज, स्वदेशवासी, सदाचारी, कुलीन, व्यसनों से रहित, स्वामी से द्रोह न करने वाला, नीतिज्ञ, युद्ध-विद्या-विशारद और निष्कपट, इन नौ प्रकार के गुणों से विभूषित होना चाहिए तभी उसके राज्य की चंद्रवत् उन्नति या वृद्धि हो सकती है अन्यथा नहीं।

आचार्य महाराज ने भी स्वदेशवासी गुण को प्रमुख बताया है।

समस्तपक्षपातेषु स्वदेशपक्षपातो महान्।

समस्त पक्षपातों में अपने देश का पक्षपात प्रधान माना गया है। राजमंत्री के गुणों में से 'अपने देश में रहने वाला' यह गुण मुख्य माना गया है क्योंकि दूसरे देश का मंत्री अपने देश का पक्ष लेने के कारण कभी राज्य का अहित भी कर सकता है अतएव मंत्री को अपने देश का निवासी होना आवश्यक है अर्थात् जिस देश में जन्मा हो वहीं का निवासी भी हो।

हारीत नामक विद्वान् ने भी लिखा है-

स्वदेशजममात्यं यः कुरुते पृथिवीपतिः।
आपत्कालेन सम्प्राप्तेन स तेन विमुच्यते॥

जो राजा अपने देशवासी मंत्री को नियुक्त करता है, वह आपत्ति काल आने पर उससे मुक्त हो जाता है।

ग्रंथकार ने अगला लक्षण मंत्री का कहा कि वह निर्भीक हो। यदि मंत्री ही भयभीत होगा तो वह किस प्रकार अपने कर्त्तव्यों का निर्वहन करने में समर्थ हो सकेगा। निर्भीक व्यक्ति ही समीचीन निर्णय लेकर कार्य कर सकता है। आपत्ति के समय निर्भीक व्यक्ति ही राजा का साथ दे सकता है।

मंत्री राजा की दाँयी भुजा के समान हो। हर परिस्थिति में राजा का साथ देता हो। दाँयी भुजा का आशय उसके प्रति निष्ठावान् और प्रत्येक समीचीन कार्य को संपूर्ण करने वाला या उसके अधिकतम कार्य को उसके संकेतानुसार स्वयं संपन्न करने वाला। जिस प्रकार एक व्यक्ति अपने दाएँ हाथ से अधिकतम कार्य संपन्न करता है उसी प्रकार वह राजा का विश्वासपात्री हो।

आगे कहा मंत्री देशभक्त हो। राज्य प्रेमी या राष्ट्रप्रेमी हो। देश से प्रेम करने वाला कभी देशद्रोह नहीं कर सकता। शुक्र विद्वान् ने कहा है–

किं तेन मंत्रिणा योऽत्र व्यसने समुपस्थिते।
व्यभिचारं करोत्येव गुणैः सर्वयुतोऽपि वा॥

जो विपत्ति पड़ने पर द्रोह करता है, उस मंत्री से राजा का क्या लाभ है? चाहे वह समस्त गुणों से विभूषित ही क्यों न हो? आचार्य श्री सोमदेव सूरी ने भी कहा है कि उस मंत्री, मित्र या सेवक से क्या लाभ है जो विपत्ति के समय अपने स्वामी या मित्र की सहायता नहीं करता किंतु इसके विपरीत उससे द्रोह करता है, चाहे वह कितना ही विद्वान् और व्यवहार कुशल ही क्यों न हो।

"किं तेन केनापि यो विपदे नोपतिष्ठते"

अत: मंत्री देशद्रोही नहीं देशभक्त व देशप्रेमी हो, मंत्री सदाचारी हो। आचार्य महाराज कहते हैं दुराचार-खोटा आचरण या कुत्सित व निंदा कर्मों में प्रवृत्ति विष भक्षण की तरह समस्त गुणों को नाश कर देती है। जिस प्रकार विष का भक्षण जीवन नष्ट कर देता है उसी प्रकार दुराचार भी विद्या, कला और नीतिमत्ता आदि मानवोचित गुणों को अथवा राज्य की वृद्धि और रक्षा करने वाले संधि और विग्रह आदि षट् गुणों को नष्ट कर देता है।

अत्रि विद्वान् ने कहा है-

दुराचारममात्यं यः कुरुते पृथिवीपतिः।
भूपार्हांस्तस्य मंत्रेण गुणान् सर्वान् प्रणाशयेत्॥

जो राजा दुराचारी मंत्री को नियुक्त करता है, वह उसकी खोटी सलाह से अपने राजोचित सद्गुणों को खो बैठता है। अत: मंत्री दुराचार से मुक्त हो, जुआ, मद्यपान, माँस सेवन, परकलत्र सेवन आदि व्यसनों से मुक्त हो।

आगे कहा मंत्री दूरदृष्टा और दया से युक्त हो। आपत्ति आने से पूर्व उसका अनुमान लगा ले और उसके परिहार हेतु योजनाएँ भी क्रियान्वित कर सके। यही उसकी दूरदर्शिता है। मंत्री दया से युक्त हो। दया युक्त मंत्री अन्याय व अत्याचार होता नहीं देख सकता। दया से युक्त मंत्री जीवों के प्राणों की रक्षा करता है, सबके दु:खों को समझकर उनको दूर करने का प्रयास करता है।

प्रजा के हिताकांक्षी मंत्री ही लोकप्रिय, कर्त्तव्य निष्ठ एवं देशोन्नति में समर्थ होते हैं। कुशल मंत्री प्रजा के हितों का संरक्षण, संवर्द्धन करने में जितना निपुण हो सकता है शायद उतना राजा भी नहीं। इसीलिए देश में राजा भले ही एक हो किंतु मंत्री राज्य के विस्तार को देखते हुए अनेक नियुक्त किए जाते हैं।

वर्तमान काल में मंत्रियों में यह गुण या लक्षण कम मात्रा में पाया जाता है वे प्रजा के हित की आकांक्षा या तो रखते ही नहीं या रखते हैं तो किसी अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए। उन्हें सौंपा गया दायित्व कुछ वर्षों के बाद जनता के द्वारा उनसे छीन लिया जाता है। वर्तमान प्रणाली में मंत्री आदि का चयन 5 वर्ष के लिए किया जाता है। जो मंत्री प्रजा का विशेष हिताकांक्षी होता है वह मंत्री मंडल का सामान्य सदस्य तक बनते-बनते मुख्यमंत्री के प्रधान पद तक को प्राप्त कर लेता है। इतना ही नहीं कई बार तो प्रजा उस मंत्री की कार्यकुशलता व प्रजा के प्रति हिताकांक्षा की भावना को देखकर उसे देश का राष्ट्रपति तक बना देती है। किंतु जो मंत्री प्रजा के हित की आकांक्षा रूपी अग्नि परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो जाते हैं, प्रजा उन्हें भूलकर भी पुनः उस पद पर स्थापित नहीं करती।

यद्यपि मंत्रियों में गुण-दोष पूर्वकाल में भी विद्यमान रहते थे किंतु उस समय बादशाहित पद्धति या राजा-प्रजावाद की भूमिका में मंत्री आदि का चयन व निष्कासन करने का अधिकार राजादि को ही होता था। वर्तमान में प्रजातंत्र शासन प्रणाली है इसमें मंत्री मंडल को चयन करने का अधिकार प्रजा को होता है और राजा को चयन करने का अधिकार प्रजा के द्वारा चयनित सांसद सदस्य एवं राज्यसभा के सदस्यों को होता है।

कुशल सचिव का अगला लक्षण ग्रंथकार की दृष्टि में राजा और प्रजा के बीच में सेतु का कार्य करना है। क्योंकि प्रजा अपनी बात को राजा से कहने में असमर्थ होती है अतः वह अपनी समस्या या समाधान, सुझाव मंत्री तक पहुँचाते हैं। यह परंपरा और नीति-रीति पूर्व शासकों में भी थी।

वर्तमान में भी लगभग उसी रूप में आज भी देखने को मिलती है। सेतु के बिना इस किनारे पर खड़ा व्यक्ति उधर पहुँच नहीं सकता

और उस किनारे पर खड़ा व्यक्ति इधर नहीं आ सकता। राजा रूपी राजमहल में आने-जाने के लिए प्रजा और राजा के मध्य नदी वा झील को पार करने के लिए मंत्री रूपी नौकाओं की आवश्यकता हमेशा रही है। बिना मंत्री के कोई भी राजा, जनता से अपने आदेश का पालन कराने में सक्षम नहीं हो सकता। मंत्री मंडल प्रजा का सुरक्षा कवच है तो राजा की व्यवस्था विधि का एक अंग।

कुशल मंत्री का कर्त्तव्य यह है कि वह निरंतर शांति और उन्नति के संबंध में विचार करे, नए-नए सुझाव राजा के समक्ष प्रस्तुत करे एवं समस्याओं का सर्वोपयोगी समाधान खोज करके लाए। अतः शासन व्यवस्था में आज भी और पूर्वकाल में भी कर्त्तव्यनिष्ठ और बुद्धिमान मंत्रियों की अपेक्षा ही रही है। मंत्री को चाहिए वह अपना आचरण आदर्श बना करके रखे। मंत्री जितना ज्ञानी, गुणी और कार्यकुशल होगा प्रजा उतनी ही संतुष्ट रहेगी और देश उतना ही समृद्ध।

प्राग्वैदिक काल में भी राजा इस पृथ्वी का पालन अपने सहायक, विश्वस्त एवं अनुभवी मित्रों के साथ करते थे आज की भाषा में उन्हें भी मंत्री कहा जा सकता है। चाहे सुषमा काल हो या दुषमा काल अथवा वैदिक परंपरानुसार सत्युग रहा हो या त्रेता युग, द्वापर हो या कलयुग हर काल में शासक को मंत्री की आवश्यकता रही है। भारतीय संस्कृति में उपलब्ध जैन दर्शनादि दर्शनों में विद्यमान शास्त्रों में देव और असुरों की शासन व्यवस्था का जहाँ वर्णन किया है वहाँ पर भी मंत्री मंडल का कथन है। अतः द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के बदलते हुए जब तक समूह रूप में जनता निवास करेगी तब तक उनका कोई न कोई मुख्य संचालक भी होगा और वह संचालक अपने साथ कुछ सहायक भी रखेगा। उस सहायक मंडल को चाहे कुछ भी नाम दिया जाए किंतु वह सहायक मंडल, मंत्री मंडल का ही कार्य करेगा।

शुक्र नाम के विद्वान् ने लिखा है कि जो राजा राजनीति में निपुण महामात्य-प्रधान मंत्री की नियुक्ति करने में कोई विकल्प नहीं करता, वह अकेला होने पर भी राज्य श्री को प्राप्त करता है जिस प्रकार चंद्रगुप्त मौर्य ने अकेले होने पर भी चाणक्य नामक विद्वान् महामात्य की सहायता से राज्य श्री को प्राप्त किया था।

इतिहास बताता है कि नन्द वंश का राजा महापद्मानंद मगध का सम्राट था। बाद में उसका पुत्र घनानंद मगध का राजा बना। नंद वंश के राजा अत्याचारी शासक थे, इसलिए उनकी प्रजा उनसे अप्रसन्न हो गई और अंत में विष्णुगुप्त-चाणक्य नाम के ब्राह्मण विद्वान् की सहायता से इस वंश के अंतिम राजा को चंद्रगुप्त मौर्य ने 322 ई.पू. में गद्दी से उतार दिया और स्वयं राजा बना। मेगस्थनीज नामक यूनानी राजदूत ने जो कि चंद्रगुप्त के दरबार में रहता था, चंद्रगुप्त के शासन प्रबंध की बड़ी प्रशंसा की है। इसने 24 वर्ष पर्यंत नीति न्यायपूर्वक राज्य शासन किया। कथा सरित सागर में भी लिखा है कि नंद राजा के पास 99 करोड़ स्वर्ण मुद्राएँ थीं अतएव इसका नाम नवनंद था। इसी नंद को मरवाकर चाणक्य ने चन्द्रगुप्त मौर्य को मगध की राजगद्दी पर बैठाया। किंतु इतने विशाल साम्राज्य के अधिपति की मृत्यु के बाद सरलता से साम्राज्य को हस्तगत करना कठिन था। नंद के मंत्री राक्षस आदि उसकी मृत्यु के बाद उसके वंशजों को राजगद्दी पर बिठा कर मगध को उसी वंश में रखने की चेष्टा करते रहे। इन मंत्रियों ने चाणक्य तथा चंद्रगुप्त की सम्मिलित शक्ति का विरोध बड़ी दृढ़ता से किया।

कवि विशाखदत्त मुद्राराक्षस में लिखते हैं कि शक, यवन, कम्बोज व पारसीक आदि जाति के राजा चंद्रगुप्त और पर्वतेश्वर की सहायता कर रहे थे। करीब 5-6 वर्षों तक चंद्रगुप्त को नंदवंश के मंत्रियों ने पाटलिपुत्र में प्रवेश नहीं करने दिया, किंतु चाणक्य के

सामने इन्हें सिर झुकाना पड़ा। अंत में विजयी चंद्रगुप्त ने चाणक्य की सहायता से नंदवंश का मूलोच्छेद करके सुगांगप्रासाद में बड़े समारोह के साथ प्रवेश किया।

आशय यह है कि चाणक्य ने अपने शिष्य चंद्रगुप्त को मगधप्रांत के सम्राट पद पर आसीन किया।

समय-समय पर कर्त्तव्य च्युत होते राजाओं को एवं बिखरती प्रजा को कुशल और बुद्धिमान मंत्रियों ने ही संभाला है। सुयोग्य मंत्री, माला के उस धागे की तरह से हैं जो धागा माला के मोतियों को भी सम्हालता है और सुमेरू रूपी गण चिह्नों को भी। भारतीय संस्कृति में आदर्श मंत्रियों के रूप में अनेक नाम स्मरणीय हैं जैसे कर्णाटक के महाराज राचमल्ल के महामात्य चामुण्डराय, मगधाधिपति चंद्रगुप्त के महामंत्री वररुचि, मगध सम्राट महाराज बिंबसार के मंत्री अभयकुमार, राजा महाबल के मंत्री स्वयंबुद्ध, सम्राट अकबर का मंत्री बीरबल, महाराज नरवाहन का मंत्री मतिसागर इन सभी ने अपने राजा का साथ अंत तक निभाया।

राज्य के संचालन में मंत्री का मुख्य स्थान है। अतः वह मंत्री जो राज्य के हित में कार्य करे, दूरदर्शितादि गुणों से सहित हो, श्रेष्ठ मंत्री कहलाता है।

श्रेष्ठ पुरोहित

सुइ-कम्मी दयावाणो, दक्खो मंताइसुं तहा।
भूव-पया-हियाकंखी, पुरोहो खलु मण्णदे॥२१॥

अर्थ:-पवित्र कार्य करने वाला, दया धर्म का पालन करने वाला, मंत्र-तंत्र में प्रवीण, राजा और प्रजा का हिताकांक्षी श्रेष्ठ पुरोहित माना जाता है।

A priest who is doer of good deeds, merciful, proficient in incantations or knower of magical spells, well wisher of the king and the subjects, is an ideal priest.

भावार्थ:-जिस प्रकार शिष्य के जीवन में गुरु का महत्त्व होता है, सेना के लिए सेनापति का महत्त्व होता है, विद्यार्थियों के लिए अध्यापक का महत्त्व होता उसी प्रकार राजदरबार में पुरोहित का महत्त्व होता है। पुरोहित, राजा, मंत्री आदि को शुभ मार्ग में चलाने के लिए प्रेरक निमित्त होता है। पुरोहित के लक्षण बताते हुए ग्रंथकार कहते हैं पुरोहित को उच्च कुलीन होना चाहिए, सात्विक होना चाहिए, मर्यादा में रहने वाला सरल-सहज, सदाचारी, सदाचार का पोषक, धर्मनिष्ठ, गुणी, ज्ञानी, बहु विद्या, कला, मंत्र आदि का ज्ञायक, लोक हितकारी बुद्धि का संधारक, अनुपम सूझ-बूझ से सहित एवं न्यायप्रिय, प्रजावत्सल तथा कष्ट सहिष्णु होना चाहिए।

आचार्य भगवन् श्री सोमदेव सूरी पुरोहित के गुण-लक्षण बताते हुए कहते हैं-

पुरोहितमुदितोदितकुलशीलं षडंगवेदे दैवे निमित्ते दंडनीत्यामभिविनीतमापदां दैवीनां मानुषीणां च प्रतिकर्तारं कुर्वीत।

जो कुलीन, सदाचारी और छह वेदांग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद व ज्योतिष), चार वेद, ज्योतिष, निमित्तज्ञान और दंडनीति

विद्या में प्रवीण हो एवं दैवी (उल्कापात, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि) तथा मानुषी आपत्तियों के दूर करने में समर्थ हो, ऐसे विद्वान् पुरुष को राजपुरोहित-राजगुरु बनाना चाहिए।

शुक्र विद्वान् ने कहा है-

दिव्यान्तरिक्षभौमानामुत्पातानां प्रशान्तये।
तथा सर्वापदां चैव कार्यो भूपैः पुरोहितः॥

राजाओं को देवता व आकाश से उत्पन्न हुए एवं पृथ्वी पर होने वाले समस्त उपद्रव और सभी प्रकार की आपत्तियों (शारीरिक बुखार-गलगंडादि, मानसिक, आध्यात्मिक, आधि भौतिक-व्याघ्रादि जनित पीड़ा और आधिदैविक-आकस्मिक पीड़ाएँ आदि) की शांति के लिए पुरोहित नियुक्त करना चाहिये।

ग्रंथकार के शब्दों में पुरोहित का प्रथम लक्षण पवित्र कार्य करने वाला है, ग्रंथकार पवित्र कार्य इस शब्द से मात्र कार्य पर जोर नहीं दे रहे अपितु योगों की पवित्रता पर जोर दे रहे हैं। जिसकी मन, वचन, काय से शुद्ध क्रिया ही होती है, अशुद्ध कार्य, वचन व विचार जिसके स्वप्न में नहीं आते जो कभी अपवित्र कार्य, विचार और वचनों का पोषण भी नहीं करता वह स्वयं पवित्र रहते हुए दूसरों की पवित्रता का निमित्त पुरोहित होता है।

पुरोहित का दूसरा लक्षण है दया धर्म का पालन करना। दया, अहिंसा, करुणा, रहम ये पुरोहित के आंतरिक प्राण हैं। उसके प्रत्येक धार्मिक अनुष्ठान करुणा, दया, अहिंसादि पर निर्भर रहते हैं। अगला लक्षण है मंत्र-तंत्र में प्रवीणता पुरोहित स्थिर-चित्त से प्रभु उपासना, मंत्राराधना या तंत्र आदि की साधना करने वाला हो। मंत्राराधन स्वोपकार के लिए किया जाता है, तंत्राराधना पर कल्याण के लिए एवं प्रभु आराधना स्व-पर कल्याण के लिए की जाती है। मंत्र-तंत्र आदि

के माध्यम से देश पर आए आकस्मिक संकट आदि को निवारण करने में वह तत्पर रहता है। शत्रु द्वारा किए गए दैविक उपसर्गों को वह मंत्र-तंत्र का ज्ञाता पुरोहित दूर करने में समर्थ होता है।

आचार्य भगवन् श्री सोमदेव सूरी भी कहते हैं-

अमानुष्योऽग्निरवर्षमतिवर्षमरकी दुर्भिक्षं सस्योपघातो जन्तूत्सर्गो व्याधिभूत-पिशाच- शाकिनी-सर्प-व्याल-मूषक-क्षोभश्चेत्यापदः।

उल्कापात-बिजली गिरना, अनावृष्टि, अतिवृष्टि, महामारी, रोग, दुर्भिक्ष अकाल, टिड्डी वगैरह से धान्य नाश, हिंसक जीवों के छूटने से होने वाली पीड़ा, बुखार-गलगंडादि शारीरिक रोग, भूत, पिशाच, शाकिनी, सर्प और हिंसक जन्तुओं से होने वाली पीड़ा और मूषकों की प्रचुरता से होने वाला कष्ट-प्लेग की बीमारी वगैरह आपत्तियाँ हैं। अर्थात् राज-पुरोहित को राष्ट्र पर होने वाली दैवी-मानुषी आपत्तियों का प्रतीकार करने में समर्थ होना चाहिए।

पुरोहित जो राजगुरु भी कहलाता है वह राजा को उचित व सम्यक् मार्ग तो प्रशस्त कराता ही है और प्रजा पर आयी हर प्रकार की आपत्तियों को मंत्र-तंत्र के माध्यम से दूर करने का प्रयास करता है। जिस प्रकार चाणक्य ने तीन पीढ़ियों तक देश के प्रति अपने कर्त्तव्यों का निर्वहन किया वह अविस्मरणीय है। उसकी असीम देशभक्ति अखंड भारत की स्थापना करने में समर्थ रही। चंद्रगुप्त मौर्य व उसका पोता अशोका ये दोनों तो पराक्रमी राजा रहे ही और चाणक्य की नीतियों एवं सम्यक् मार्ग निर्देशन से साम्राज्य की स्थापना कर सके किंतु चंद्रगुप्त मौर्य का पुत्र बिंदुसार जब चंद्रगुप्त की रानी गर्भवती थी तब एक बार उसने विष युक्त भोजन कर लिया। चाणक्य ने सोचा कि रानी को तो बचाया नहीं जा सकता किंतु उत्तराधिकारी बचाना अत्यंत आवश्यक है तब बहुत शीघ्रता से बच्चे

को निकाला गया किंतु शीघ्रता में भी विष की एक बूंद उस बालक के सिर पर गिर गयी थी जिससे उसका नाम बिंदुसार रखा गया। उसके दुष्प्रभाव ने उसे इतना पराक्रमी व बुद्धिमान नहीं होने दिया किंतु राजगुरु के पद पर आसीन चाणक्य ने कुशलतापूर्वक राज्य का संचालन करवाया और वह राज्य किसी अन्य के हाथ नहीं लगने दिया।

पुरोहित राजा व प्रजा का हिताकांक्षी होता है। जहाँ तक प्रजा और राजा की दृष्टि नहीं पहुँच पाती वहाँ तक दूरदृष्टा पुरोहित अपने ज्ञान की कुशलता से देखने में समर्थ होता है।

सजग कोतवाल

सुजोग्गो कोट्टवालो सो, देसस्स संति-कारगो।
पदिट्ठं रक्खदे पाणं, धणं धण्णं परिग्गहं॥२२॥

अर्थ:-देश की शांति का कारक, धन-धान्य, परिग्रह, प्रतिष्ठा-प्राण की जो रक्षा करता है वह निश्चय से सुयोग्य कोतवाल है।

A police man who is the cause of peace of the country and defends wealth, property, cattles, reputation and the life of the people, is an ideal policeman.

भावार्थ:-जिस प्रकार बूँद-बूँद से घड़ा भरता है, एक-एक अंक जुड़कर संख्या बढ़ती चली जाती है, महत्त्वहीन सा दिखने वाला वह शून्य भी यदि किसी अंक के आगे लग जाए तो वह संख्या सीधे दस गुनी दिखाई देती है उसी प्रकार राष्ट्र में शांति स्थापित करने में प्रत्येक इकाई महत्त्वपूर्ण है। सिर्फ राजा या केवल प्रजा या मात्र सैनिक या मंत्री कोई एक देश को समृद्धशाली नहीं बना सकते बल्कि सबका मिलकर कार्यरत होना, देश हित में कार्य करना वही सुख-शांति की स्थापना कर सकता है।

कोतवाल-अपने क्षेत्र की सुरक्षा का भार जिस पर होता है वह देश की शांति का कारक हो। कोतवाल का उद्देश्य रक्षा करने का ही होना चाहिए। जागरुक रहकर वह ध्यान रखे कि कोई भी असामाजिक तत्त्व या उस क्षेत्र में किसी को भी नुकसान पहुँचाने के उद्देश्य से कोई भी व्यक्ति प्रवेश न पा सके।

कोई भी टीम या ग्रुप तभी उन्नति करती है जब उसके नायक के साथ-साथ प्रत्येक सदस्य भी अपने कार्य के प्रति निष्ठावान् हो, जागरूक हो। कोतवाल पर सुरक्षा का भार सौंप राजा भी निश्चिंत हो जाता है और कोतवाल को भी अपना कार्य पूर्ण निष्ठा व समर्पण के

साथ करना चाहिए। ''जब तक यह कोतवाल यहाँ नियुक्त है तब तक यहाँ किसी प्रकार की असुरक्षा का भय नहीं है'' इस प्रकार का विश्वास सभी उस पर करें ऐसा कोई कार्य उसे करना चाहिए। देश में शांति की स्थापना हो, कोई संदिग्ध वस्तु बाहर से क्षेत्र में या क्षेत्र से बाहर बिना जाँच के न आ जा सके।

जिस देश में, राष्ट्र में हम निवास करते हैं उस देश की, राष्ट्र की सुरक्षा करना हम सभी का दायित्व है। फिर भी विशेष कार्यों के लिए विशेष व्यक्ति की नियुक्ति यदि की जाती है तो व्यक्तिगत भावनाओं से ऊपर उठकर उसे उस पद का निर्वहन करना चाहिए फिर चाहे वह पद कोई भी हो। राष्ट्र सेवा के लिए उसे सदैव तत्पर रहना चाहिए।

कोतवाल अपनी सूक्ष्मदृष्टि प्रत्येक गतिविधियों पर रखे। क्षेत्र के निवासियों के प्राणों की रक्षा करना, धन और धान्य की रक्षा करना, उनके सामान की रक्षा करना और इतना ही नहीं उनकी मान मर्यादा, प्रतिष्ठा की रक्षा करना भी एक कोतवाल का कर्त्तव्य है। यदि कोतवाल अपने समस्त दायित्वों की पूर्ति करने में समर्थ है तो प्रजा की निष्ठा, विश्वास व समर्पण नि:संदेह राजा के लिए भी वृद्धिंगत होता है और इन्हीं गुणों से युक्त सुयोग्य कोतवाल राष्ट्र में सुख-शांति की स्थापना करने में समर्थ है।

सैनिक के गुण

रक्खगो सग-देसस्स, रट्ठभत्तो णिरालसो।
णिब्भीओ विक्कमी धीरो, विवेगी सेणिगो गुणी॥२३॥

अर्थ:-अपने देश का रक्षक, राष्ट्रभक्त, निरालसी, निर्भीक, विक्रमी, धीर, विवेकी ही गुणवान् सैनिक है।

A soldier should be the defender of his country, should be a patriot who is energetic, fearless, valiant, patient, discerning and virtuous.

भावार्थ:-प्राचीनकाल से देश की रक्षा, युद्धादि में सैनिकों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। सैनिक जितने अधिक और पराक्रमी होते थे सेना उतनी ही अधिक शक्तिशाली मानी जाती थी। आज भी सीमा पर खड़े सैनिक देश की सुरक्षा का उत्तरदायित्व सम्हाल रहे हैं। सर्वाधिक सुरक्षा की आवश्यकता सीमा पर होती है जिससे बाहरी तत्त्व अंदर प्रवेश न पा सकें। स्वयं रातों को जागकर देश के प्रत्येक नागरिक को चैन की नींद प्रदान करने वाले सैनिक ही तो हैं।

जिस प्रकार खेत के चारों ओर लगायी गयी बाढ़ खेत को सुरक्षा प्रदान करती है, आत्मा पर संयम की बाढ़ आत्मा को सुरक्षा प्रदान करती है उसी प्रकार सीमा पर सैनिकों का पहरा नागरिकों को सुरक्षा प्रदान करता है। इतने बड़े उत्तरदायित्व को पूरा कर रहे सैनिक कुछ विशिष्ट गुणों से युक्त होते हैं अथवा होने चाहिये तभी वे अपने कर्त्तव्य का निर्वाह समीचीन प्रकार से कर सकते हैं।

सर्वप्रथम वह सैनिक देश की रक्षा करने वाला हो, देश भक्ति से ओत-प्रोत हो। वह कोई ऐसा कार्य न करे जिससे देश को किंचित् भी हानि पहुँचने की संभावना हो। वह प्रति समय जागरुक रहे। अपनी अंतिम श्वाँसों तक देश रक्षा हेतु पूर्ण समर्पित हो। उसका मुख्य लक्ष्य

देश में सुख-शांति की स्थापना हेतु उसकी रक्षा करना हो। देश रक्षा के लिए सदैव तत्पर रहे और अपने दूसरे साथियों को भी देश रक्षा हेतु प्रेरणा दे। अपनी मातृभूमि की रक्षा करने वाला वास्तव में धन्य है। उसकी आत्मा के प्रत्येक प्रदेश में अपने देश, अपनी मातृभूमि की रक्षा का जुनून हो। इतिहास ऐसे देशप्रेमियों, देशभक्तों से भरा है जिन्होंने स्वयं तो मृत्यु को गले लगा लिया किंतु अपने जीवित रहते देश पर आँच तक न आने दी।

अगली बात कही सैनिक मातृभूमि भक्त हो। मातृभूमि की रक्षा में शीश कट तो सकता है किंतु झुक नहीं सकता यह विचार एक देशभक्त का ही हो सकता है। सैनिक कहीं भी चला जाए परंतु अपने देश के लिए पूर्ण ईमानदार हो, वफादार हो। ऐसा कोई कार्य न करे जिससे देश के मान को ठेस पहुँचे। देशभक्तों के नाम इतिहास में स्वर्णाक्षरों से आज भी अंकित हैं। ऐसे देशभक्त मरने के बाद भी अमर रहते हैं और इसके विपरीत विश्वासघाती लोग जीते हुए भी मृत समान ही हैं। जिस भूमि पर जन्म लिया है उसका संरक्षण और संवर्द्धन करना सभी का कर्त्तव्य है। अपनी मातृभूमि को सदैव गौरवान्वित करने का प्रयास करे परंतु ऐसा कोई कार्य न करे जिससे वह स्वयं को भी क्षमा न कर पाए।

एक भारतीय सैनिक जिसके अच्छे कर्म से प्रसन्न होकर राजा ने उसे भारतीय पगड़ी प्रदान की। कुछ समय पश्चात् उसे किसी विदेशी राजा के पास जाना पड़ा। वहाँ की पद्धति थी कि सभी व्यक्ति सिर ढककर सभा में प्रवेश करते थे। वह सैनिक भी वहाँ पहुँचा और पगड़ी उतारकर राजा को प्रणाम किया। राजा यह देख अत्यंत क्रुद्ध हुआ कि इसने हमारे सामने सिर उघाड़ दिया। राजा ने गुस्से में पूछा कि "ऐसा तुमने क्यों किया?" वह सैनिक बोला "क्षमा करें राजन्! यह पगड़ी मेरे देश की है, मेरे राजा द्वारा प्रदत्त है। मैं तो आपके सामने

झुक सकता हूँ किंतु यह पगड़ी कभी नहीं।'' यह सुनकर वह राजा अत्यंत प्रसन्न हुआ और बोला ''तुम धन्य हो सैनिक! जिस देश के पास तुम जैसे देशभक्त सैनिक हों उस देश का कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता।''

अगला गुण कहा वह सैनिक निरालसी हो, उसका एक क्षण का प्रमाद भी सुरक्षा व्यवस्था को ढीला कर सकता है। उसका प्रमाद शत्रुओं के लिए मंगलकारी हो सकता है अर्थात् शत्रु उसके प्रमादी होने का लाभ उठा देश को नुकसान पहुँचा सकते हैं। थोड़ा सा संदेह होने पर भी तुरंत जाँचकर निश्चिंत होना चाहिए। वह सैनिक निर्भीक भी होना चाहिए। भयभीत व्यक्ति दूसरों को अभय किस प्रकार प्रदान कर सकता है। शत्रुओं से लोहा वही ले सकता है जो साहसी हो, निर्भीक हो। किसी भी प्रकार के संदेह को दूर करने में निर्भीकता आवश्यक है। सैनिकों को कई बार कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है, कई बार भयोत्पादक स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं, उन सभी का सामना वे निर्भीकता पूर्वक करें। यदि यहीं भयभीत हो जाऐंगे तो सुरक्षा का भार कैसे वहन कर पाऐंगे। शत्रुओं का सामना वही कर सकता है जो निर्भीक हो, प्राणों को हाथ पर लेकर घूमता हो।

वह सैनिक शस्त्र कला में निपुण, वीर, विक्रमी, पराक्रमी हो। जिनकी वीरता शत्रुओं को भयभीत करने वाली हो। उनका पराक्रम शत्रुओं को धूलित करने वाला हो। पराक्रमी सैनिक ही शत्रुओं से अपनी मातृभूमि की रक्षा कर सकते हैं। सैनिकों की निर्भीकता और उनका पराक्रम शत्रुओं को शीघ्र पराजित कर देता है। अस्त्र-शस्त्र में निपुणता वो ही प्राप्त कर सकता है जो पराक्रमी हो। इतिहास में देखते हैं तो पाते हैं कि शरीर पर कई घावों को लेकर भी वे युद्ध में डटे रहे। इतना ही नहीं अंगोपांग हीन होने पर भी शत्रुओं के प्राणांत कर ही प्राण छोड़े।

सैनिक धीर अर्थात् धैर्यवान्, विवेकी व गुण संपन्न हो। सैनिक जटिल से जटिल परिस्थिति में भी अपनी धीरता न खोएँ अपितु अपने विवेक का प्रयोग करके समस्या का समाधान निकाल उस परिस्थिति से निकलने का प्रयास करे। यदि समस्या है तो उसका समाधान भी जरूर है। धीरवान्, विवेकी व्यक्ति ही उस समाधान को खोजने में समर्थ होते हैं। व्यक्ति जहाँ से अपना धैर्य, विवेक खो देता है वहाँ से उसकी पराजय का मार्ग प्रारंभ हो जाता है। अतः धीरता, वीरता, निर्भीकता आदि गुणों से सम्पन्न वह सैनिक हो।

नीतिकार भी कहते हैं-

जो नीति (कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य) शास्त्र, शस्त्र-अस्त्र चलाना, व्यूह रचना नीतिविद्या (शत्रुओं को नीचा दिखाना) इन सब विषयों का विद्वान हो, लड़कपन से रहित, तरुण, शूरवीर, सैन्यशिक्षा प्राप्त, दृढ़ शरीर वाला, अपने धर्म में लगा हुआ, नित्य स्वामी में भक्ति रखने वाले, उनके शत्रुओं से द्वेष रखने वाले, शूद्र, क्षत्रिय, वैश्य, म्लेच्छ या सङ्कीर्ण जाति वाले हों, उन्हें विजय चाहने वाला राजा अपना सेनाध्यक्ष या सैनिक बनाए।

कैसा हो शासन का सेवक ?

कम्मी कत्तव्वसीलो हि, णियकज्जेसु संजमी।
सच्चवाई खमासीलो, चागी सासण-सेवगो॥२४॥

अर्थ:-कर्त्तव्यशील, कर्मठ, निज कार्यों में संयमी, सत्यवान्, क्षमावान्, गुणी व त्यागी ही शासन का सेवक होना चाहिए।

A Government servant should be dutiful, assiduous, self-restrained, truthful, forgiving, virtuous and sacrificial.

भावार्थ:-राज्य संचालित करने में जो शासन की सेवा करता है वह शासन का सेवक भी राज्य का एक अंग माना जा सकता है। कोई भी संस्था या समूह का संचालन एक व्यक्ति नहीं कर सकता। उस समूह में जितने अधिक कर्मठ एवं आपसी तालमेल बैठाने वाले लोग होंगे वह संस्था उतना ही अधिक कार्य करने में सक्षम होगी। समूह (टीम) जितना अच्छा होता है उतना ही अच्छा कार्य उसके माध्यम से किया जा सकता है। एक कंपनी में डायरेक्टर आदि, यूथ में नायक आदि, बैंक में मैनेजर आदि, संस्था में अध्यक्ष, मंत्री, कोषाध्यक्ष आदि, शासन में राजा, मंत्री, भंडारी, दंडनायक आदि पद होते हैं। शासन कुछ लोगों को कार्य करने हेतु नियुक्त करता है वे शासन के सेवक ईमानदारी से शासनिक कार्य करने का प्रयास करते हैं।

शुक्र नीति में कहा है-

यदा यदुचितं कर्तुं वक्तुं वा तत्प्रबोधयन्।
तद्वक्ति कुरुते द्राक्तु स सद्भृत्यः सुपूज्यते॥

जिस समय जो कार्य करने के लिए एवं जो बात बोलने के लिए उचित लगती हो, उसी को समझता हुआ और स्वयं भी शीघ्रता से उसी को कहता है एवं उसी कार्य को करता भी है, वही सुसेवक होता है। अर्थात् समयानुसार चर्या व चर्चा करता है वही राजा का प्रिय भी होता है।

यहाँ ग्रंथकार राष्ट्र शांति हेतु सभी को उनके कर्त्तव्यों का निर्वाह करने का निर्देशन दे रहे हैं। सर्वप्रथम कर्त्तव्यशीलता को प्रथम रखा गया क्योंकि यदि छोटे से लेकर बड़े तक सभी व्यक्ति ईमानदारी से अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हैं तो संभव है अन्याय, कदाचार, भ्रष्टाचार, अत्याचार आदि शब्द सिर्फ किताबों में पढ़ने को मिलें। इतिहास साक्षी है जिस व्यक्ति ने भी अपने कर्त्तव्य पालन में चूक की है उस एक व्यक्ति की गलती संपूर्ण राज्य को ही भुगतनी पड़ी है। अतः ग्रंथकार कर्त्तव्य पालन की प्रेरणा देते हुए उसे धर्म मार्ग पर अग्रसर कर रहे हैं। कहा भी है "कर्तव्यमेव हि धर्मः" कर्त्तव्यों का पालन करना ही धर्म है।

यत्कार्ये यो नियुक्तः सभूयात्तत्कार्य तत्परः।
नान्याधिकारमन्विछेन्नाभ्यसूयेच्च केनचित्॥

जो जिस कार्य पर नियुक्त किया गया हो, वह उस कार्य को करने में तत्पर रहे। किसी दूसरे के अधिकार छीनने की इच्छा न करे और किसी के साथ मात्सर्य न करे।

यदि कोई व्यक्ति कर्त्तव्यों के पालन में चोरी कर रहा है तो वह नियुक्त पद को तो अपमानित करता ही है और धर्म से भी च्युत है। प्रशासन या शासन ने जो भी कार्य सौंपे हैं तो कहीं न कहीं विश्वास की उसमें महत्त्वपूर्ण भूमिका है। कार्य सदैव विश्वास के साथ सौंपे जाते हैं। जानते हैं दिए गए कार्य को यह समय से पूरा करेगा। परंतु यदि ऐसा नहीं होता तो वह विश्वास पर चोट है या विश्वासघात भी कहा जा सकता है। शिष्टाचारी पुरुषों की जिंदगी में ये शब्द कहने और सुनने वाला तो हो सकता है परंतु करने वाला कभी नहीं। कहा भी है-

न भारा पर्वता भारा, न भारा सप्त-सागराः।
निंदका हि महाभारा, तथा विश्वास-घातकाः॥

यह धरती करुण स्वर में कह रही है कि मेरे ऊपर इतने पर्वत हैं, इतने सागर हैं किंतु मुझे इनका भार, भार प्रतीत नहीं होता। निंदक और विश्वास घातक ही मेरे लिए महाभार स्वरूप हैं। इसीलिए तो नीतिकारों या साहित्य सृजकों के माध्यम से इन्हें "पृथ्वी पर बोझ" इस प्रकार कहा जाता है।

आचार्य महाराज भी कहते हैं जीवन में किसी व्यक्ति का विश्वास कभी नहीं तोड़ना और कुछ बनाये रखना या नहीं परंतु विश्वास सदैव बनाये रखना। अत: सभी सज्जनों को तन्मयता के साथ कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए और कर्त्तव्यों का पालन करने वाला व्यक्ति ही अधिकारों को प्राप्त कर सकता है। कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति को अधिकार माँगने नहीं पड़ते वे तो स्वत: उसे प्राप्त हो जाते हैं। अभी तो मूल में ही भूल है कर्त्तव्यों का पालन किया नहीं और अधिकारों की लड़ाईयाँ लड़ते रहे। कर्त्तव्यशील होते तो अधिकारों को प्राप्त करने हेतु संघर्ष की आवश्यकता नहीं होती। अत: शासन के सेवकों का प्रथम कर्त्तव्य है अपने कर्त्तव्यों का पालन करना। जिस कार्य के लिए उन्हें नियुक्त किया गया है उसको समय पर ईमानदारी से करना।

गणित में प्रत्येक इकाई का महत्त्व है, शून्य का भी महत्त्व है अत: शासकीय सेवक छोटा हो या बड़ा सभी का प्रभाव पूरे राजतंत्र या प्रजातंत्र पर पड़ता है। जिस प्रकार कई मीटर लंबे तार में कहीं एक स्थान पर शॉर्ट हो जाऐ तो वह मीटरों लंबा तार विद्युत प्रवाह करने में असमर्थ होगा उसी प्रकार यदि पूरे राज्य या प्रजा तंत्र में एक भी व्यक्ति अपने कर्त्तव्य से च्युत होगा तो अभीप्सित परिणाम प्राप्त करना संभव नहीं अत: ग्रंथकार का कहना है कि प्रत्येक शासकीय सेवक अपने कर्त्तव्यों का पालन करे।

दूसरा लक्षण कह रहे हैं कि शासकीय सेवक को कर्मठ होना चाहिए। प्रमादी व्यक्ति अपने कर्त्तव्यों का पालन यदि करना भी चाहे

तो भी कर नहीं पाता। अतः शासकीय सेवक प्रमाद को त्याग कर अच्छी कार्य क्षमता वाले हों। वे अपना कार्य शीघ्रता से कर सकें और इतना ही नहीं यदि आवश्यकता पड़े तो अधिक कार्य भी कर सकें। यदि दो व्यक्ति कर्मठ हों तो वे एक और एक मिलकर ग्यारह हो जाते हैं। इसी प्रकार यदि कर्मठ व्यक्तियों का समूह मिलकर कार्य करे तो वह संस्था, टीम, संघ, राज्य, देश या राष्ट्र तक की दिशा व दशा परिवर्तित कर सकता है, समीचीन रूप दे सकता है। परंतु अकर्मठ व्यक्ति चाहे हजार भी हों यदि व कार्य ही न करें तो किस प्रकार कार्य समाप्ति को प्राप्त होगा।

करिष्यामीति ते कार्य न कुर्यात्कार्यलम्बनम्।
द्राक्कुर्यात्त समर्थश्चेत्साशं दीर्घं न रक्षयेत्॥

किसी से 'मैं तुम्हारा कार्य करूँगा' कहकर उसके कार्य करने में देर न करें। यदि स्वयं समर्थ हों तो शीघ्र पूरा कर दें। लंबे समय तक उसे आशा में लटकाकर न रखें।

तीसरा लक्षण कह रहे हैं शासकीय सेवक निज कार्यों में संयमी हो। मन पर, वचन पर, काय पर संयम रखते हुए अपने कार्यों को करता हो। असंयम से कभी कार्य बिगड़ भी जाते हैं अतः कार्यों में संयम रखना आवश्यक है। वह शासन के प्रति ईमानदार हो। एक बार चाणक्य राजकीय कार्य में व्यस्त थे। एक व्यक्ति उनके पास आकर बैठा। कार्य करने के पश्चात् उन्होंने अपना लालटेन बुझाया और दूसरा जलाया। वह व्यक्ति भी यह देख रहा था उसने पूछा आपने एक लालटेन बुझाया फिर दूसरा चालू किया क्यों? चाणक्य बोले मैं अभी राजकीय कार्य कर रहा था और उस लालटेन में तेल राज्य का ही था परंतु अब मैं तुमसे चर्चा करूँगा इसीलिए अब वह लालटेन बुझाकर अपने निजी तेल की लालटेन जलायी है। अपने व्यक्तिगत कार्य के लिए राज्य का अतिरिक्त खर्च मैं नहीं कर सकता।

शासकीय सेवक सत्यवान् व क्षमाशील हो। वह सत्य का साथ देने वाला हो। हमारे देश का जयघोष भी है ''सत्यमेव जयते''। सत्य की सदैव विजय होती है। चाहे विलंब से ही सत्य सामने आए परंतु वह कभी छिपता नहीं। अत्याचार कदाचार की उत्पत्ति असत्य से ही होती है, सत्य का साथ देकर व्यक्ति कभी गलत कार्य पर अग्रसर नहीं हो सकता। जब कभी व्यक्ति गलत राह पर चलता है उसे असत्य का सहारा लेना ही होता है। अत: ग्रंथकार यहाँ शासकीय सेवकों को सत्यवान् बनने की प्रेरणा दे रहे हैं।

''क्षमा वीरस्य भूषणं'' क्षमा वीरों का आभूषण है। क्रोध करने से अधिक शक्ति, अधिक बड़ा हृदय क्षमा करने के लिए चाहिए। शासकीय सेवकों को क्षमाशील होना चाहिए ऐसा इसीलिए कहा है क्योंकि शासन के कार्य करने वाले यदि क्रोध करते हैं तो क्रोध में किए गए कार्यों का फल समीचीन प्राप्त नहीं होता। क्रोध विवेक की मृत्यु करके आता है, धीरता, वीरता, गंभीरता को पराजित करके आता है, शिष्टाचारी प्रवृत्ति को भंग, बुद्धि को नष्ट करके आता है। यदि क्रोध के आने पर ये सब नष्ट हो जाते हैं तब वह समीचीन कार्य कैसे कर सकता है।

न न्यून लक्षयेत्कस्य पूरयेत स्वशक्तितः।
परोपकरणादन्यन्न स्यान्मित्रकरं सदा॥

किसी की गलती पर ध्यान देने से बेहतर है अपनी शक्ति से उसी गलती को दूर करें क्योंकि दूसरे के साथ उपकार करने से बढ़कर मित्रता करने वाला दूसरा कोई कार्य नहीं है।

और दूसरे की गलती तभी नजरअंदाज की जा सकती है जब वह क्षमावान् हो।

शासन की जिम्मेदारी हर एक शासकीय सेवक पर है उसकी एक गलती सभी के लिए घातक हो सकती है। यह क्रोध एक अग्नि

के गोले के समान है जो दूसरों को जलाए या न जलाए किंतु स्वयं को तो पहले भस्म कर ही देता है। बैठे हुए जो श्वासोच्छ्वास लगभग 12 अँगुल होती है वह क्रोध में 108 अँगुल हो जाती है। यह क्रोध व्यक्ति के स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव डालता है। अत: स्वास्थ्य और शासन की सुरक्षा हेतु क्रोध का परित्याग करना चाहिए। क्रोध से स्वयं का व्यक्तित्व भी मलिन होता है अत: क्षमा को धारण करना सर्वश्रेष्ठ है।

आगे कहा शासकीय सेवक गुणी व त्यागी हो। बिना त्याग किए व्यक्ति पूर्ण समर्पण के साथ कार्यरत नहीं हो सकता। त्याग करना होता है निजी स्वार्थों का, कई बार परिवार से दूर भी रहना होता है, कभी समझौता भी करना होता है। अर्थात् प्राथमिकता कार्य को दी जानी चाहिए। कार्य को पूर्ण निष्ठा व समर्पण के साथ सम्पन्न करें। पन्ना धाय जिसकी निष्ठा, सेवा, त्याग ने उसे उसकी मृत्यु के बाद भी अमरता प्रदान की। उदय सिंह जब छोटा था तब एक बार वह कक्ष में सोया हुआ था और किसी प्रकार से उसकी व राज्य की रक्षा करना संभव नहीं था। तब पन्ना धाय ने अपने पुत्र को उसकी जगह सुलाया और उदयसिंह को छिपा लिया। तब शत्रुओं ने पन्ना धाय की आँखों के सामने उस ही के पुत्र को मार दिया। परंतु राज हित व राजा के प्रति निष्ठावान् उस पन्ना धाय ने राजकुमार की रक्षा की। इससे बड़ा त्याग और क्या हो सकता है। उपर्युक्त गुणों से युक्त शासकीय सेवक स्वयं के लिए और दूसरों के लिए एक आदर्श स्थापित करता है।

आयात-निर्यात

धम्म-सुत्ताण णिज्जायं, धण्णादीणं च होज्ज हु।
देसब्भुट्ठेत्तु-वत्थूणं, आयायं तह सव्वदा॥२५॥

अर्थ:-निर्यात धर्म सूत्रों का हो और निर्यात धन-धान्य का हो तथा देश की वृद्धि में कारण वस्तुओं का आयात हो।

Export should be of virtues, spirituality religious matters, money and food. And that thing which may be the medium of enhancement and development of the country, should be imported.

भावार्थ:-देश के बाहर दूसरे देश में उसकी आवश्यकता पूर्ति हेतु एवं अपने देश की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ करने हेतु जिन वस्तुओं को भेजा जाता है वह निर्यात कहलाता है। तथा अपने देश में बाहर के देशों से आवश्यकता की वस्तुओं को मँगाना जो देश की समृद्धि में कारण हों आयात कहलाता है। ये देश के व्यापारिक संबंध कहलाते हैं। किसी भी गृह का संचालन करने के लिए, सुचारू रूप से चलाने के लिए व्यापार किया जाता है, उसी प्रकार देश के संचालन के लिए भी व्यापार अत्यावश्यक है। देश का आर्थिक स्थिति से मजबूत होना भी जरूरी है। इसके बिना देश का संचालन सुचारू रूप से नहीं किया जा सकता।

नीतिकार कहते हैं:-**"न स्यात् स्वधर्महानिस्तु यया वृत्त्या च सा वरा"।**

जिस आजीविका से अपने धर्म की हानि न हो, वही आजीविका उत्तम है।

ग्रंथकार देश की समृद्धि व उसकी सुख-शांति के लिए कहते हैं कि देश से बाहर धन-धान्य, धर्म सूत्रों का निर्यात होना चाहिए।

संभवतः जब भारत देश की आध्यात्मिकता अन्य देशों में पहुँची तभी इस देश को विश्व गुरु का स्थान दिया गया। धन-धान्य यदि अधिक हो अर्थात् जिसका उत्पादन अधिक मात्रा में होता है, देश में पूर्ति के पश्चात् उसे निर्यात कर देना चाहिए। उससे प्राप्त धन देश को सुदृढ़ बनाने में सहायक होता है। परंतु यह सदैव ध्यान रखना चाहिए कि धन जिस प्रकार से अर्जित किया जाता है, वह उसी प्रकार से खर्च भी हो जाता है।

किसी का वध करके, किसी को सताकर, पीड़ा या कष्ट देकर अर्जित किया गया धन कभी भी उन्नति में सहायक नहीं होता। ऐसा धन युद्ध, बीमारी, चोरी आदि में ही चला जाता है। धन ऐसा कमायें जो घर की सुख-शांति में सहायक हो और किसी को दुःख देकर कमाया गया धन कभी सुख-शांति और समृद्धि नहीं दे सकता। जो धन सुख-शांति-समृद्धि न दे सके ऐसे धन को अर्जित करने का अर्थ ही क्या रहा। आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज 'तच्च-सारो' में लिखते हैं-

णायमग्गाउ गच्छंति, णायेण अज्जिदं धणं।
अण्णायादो हु गच्छंति, अण्णायेण य अज्जिदं॥

न्याय से अर्जित धन न्याय मार्ग से जाता है तथा अन्याय से अर्जित धन अन्याय मार्ग से जाता है।

एक बार एक वेश्या विचार करती है कि मैंने पूरी जिंदगी बुरे कार्य करके धन कमाया है अब कम से कम कुछ दान-पुण्य ही कर लूँ। कनागतों के समय उसने एक पक्ष तक किसी ब्राह्मण को भोजन कराने का संकल्प लिया। वह गंगा के किनारे पहुँची। वहाँ जाकर किसी ब्राह्मण को एक पक्षीय भोजन का निमंत्रण दे दिया। उस ब्राह्मण ने 15 दिन तक वहाँ भोजन किया। अंतिम दिन जब वह भोजन कर

उठने लगा तो उस वेश्या ने कहा "हे भिक्षुक ! मैं आपको एक सत्य बताना चाहती हूँ, मुझे क्षमा करें और मुझे आशीर्वाद प्रदान करें। मैं जानती हूँ मेरा धन दान-पुण्य के योग्य नहीं किंतु मैंने छल से उसका प्रयोग पुण्य कार्य में किया। मैं एक वेश्या हूँ।" यह सुनते ही वह व्यक्ति हँसा और बोला यदि तू एक वेश्या है तो मैं भी कौन सा भिक्षु हूँ। मैं तो 15 दिन के लिए भिक्षु बना था खीर-पकवान खाने को, मैं तो भांड हूँ।

सोलह तिथि पूरी भयी, खायी खीर और खांड।
पौ को धन पौ में गयो, तुम वेश्या हम भांड॥

अन्याय से अर्जित धन अन्याय पूर्वक ही निकल जाता है। अत: देश से धन-धान्य आदि उत्तम वस्तुओं का निर्यात करना चाहिए। उससे अर्जित धन देश में सुख-शांति-समृद्धि की वृद्धि करने में समर्थ है।

देश में आयात उन वस्तुओं का हो जो देश की वृद्धि में कारण हों। प्रजा के प्रतिकूल वस्तुओं को देश में नहीं मँगाना चाहिए। रोग उत्पन्न करने वाली, नशीली वस्तुओं आदि का आयात कभी नहीं करना चाहिए। अत: राष्ट्र शांति हेतु ग्रंथकार ने यहाँ कहा कि निर्यात धर्म सूत्रों व धन-धान्य का होना चाहिए और आयात देश की समृद्धि-वृद्धि उन्नतिकारक वस्तुओं का होना चाहिए।

अर्थप्रबंधन

आय-वयाण विण्णाणी, अत्थस्स हु पबंधगो।
कमंडलुव्व होदव्वो, अत्थस्स सुपबंधणं॥२६॥

अर्थ:-अर्थ के प्रबंधक को आय-व्यय का विज्ञानी होना चाहिए, अर्थ का सुप्रबंधन कमंडलु की तरह होना चाहिए।

Manager of money should be the scholor of economics (income and expenditure). Good management of money should be like kamandalu.

भावार्थ:-किसी भी कार्य को श्रेष्ठ बनाने के लिए प्रबंधन की आवश्यकता होती है। वह प्रबंधन जितना अच्छा होता है कार्य उतना ही सफल होता है। बड़ी-बड़ी कंपनियाँ, व्यापार, कॉलिज, संस्थाएँ अस्पताल आदि सब प्रबंधन पर आधारित हैं। श्रेष्ठ प्रबंधन उन्नतिकारक होता है। कई बार यह बंधन सा प्रतीत होता है परंतु यह बंधन सा प्रतीत होने वाला प्रबंधन ही आगे बढ़ने में सहायक होता है।

एक बार एक पिता अपने बेटे के साथ छत पर पतंग उड़ा रहे थे। बेटे ने पूछा पिता जी यह पतंग इतनी ऊपर कैसे जाती है। पिता ने कहा बंधे होने के कारण। बेटे को अपने पिता की यह बात समझ में नहीं आयी। पिता ने कहा 'अब जो मैं करूँ उसे ध्यान से देखना'। पिता ने वह डोरी जहाँ से पकड़ी थी वहाँ से तोड़ दी। वह पतंग कुछ देर तो हवा में उड़ी और फिर आगे जाकर गिर गयी। पतंग जिसको अपना बंधन समझ रही थी वह ही उसकी उन्नति का कारण था उसी प्रकार प्रबंधन कई बार बंधन सा तो प्रतीत होता है किंतु वह ही उसकी उन्नति में कारण है। व्यक्ति को प्रत्येक कार्य समीचीन प्रबंधन के साथ करना चाहिए।

ग्रंथकार यहाँ अर्थ प्रबंधक के विषय में बताते हुए कहते हैं कि अर्थ का प्रबंधन करने वाले व्यक्ति को आय-व्यय का पूर्ण ज्ञानी

होना चाहिए। आय के स्रोत कौन से हैं, कहाँ से कितनी आय सम्भव है, किस प्रकार आय का वर्द्धन किया जा सकता है इन सबका ज्ञान रखना चाहिए। समीचीन प्रकार से, न्यायपूर्वक आय वृद्धिंगत करने का प्रयास करे। आय अधिक हो, न्याय मार्ग से हो और व्यय कम हो, अच्छे-शुभ कार्यों में हो।

अहिंसक अर्थशास्त्र से ही हम सुखी हो सकते हैं। चाहे गृहस्थ हो चाहे उद्योगपति हो, चाहे व्यापारी वर्ग हो वह अनुशासन बद्धता से अपने आय-व्यय का हिसाब रखे। यह अहिंसक अर्थशास्त्र से संभव है।

यदि आय कम और व्यय अधिक हुआ तो आर्थिक संतुलन बिगड़ जाएगा। आर्थिक स्थिति की दृढ़ता हेतु आय अधिक व व्यय कम होना चाहिए।

हारीत ने कहा है:-

अतिव्यय च योऽर्थस्य कुरुते कुत्सितं सदा।
दारिद्र योपहतः स स्याद्धनदोऽपि न किं परः॥

अर्थ:-जो मनुष्य आमदनी से अधिक खर्च व अपात्रदान करता है, वह कुबेर समान धनाढ्य होने पर भी दरिद्र हो जाता है पुनः साधारण व्यक्ति का दरिद्र होना स्वाभाविक है।

अहिंसक अर्थशास्त्र का अर्थ है-जैसे कमंडलु, अर्थ का प्रबंधन कमंडलु की तरह होना चाहिए। कमंडलु साधुओं द्वारा प्रयोग में लाए जाने वाला एक उपकरण है जिसमें पानी भरा जाता है। जहाँ से कमंडलु में पानी भरा जाता है वह मुख तो चौड़ा होता है जबकि जल निकालने का स्थान बहुत छोटा होता है। जो इस बात का प्रतीक है कि आय का स्रोत बड़ा और व्यय कम मात्रा में होना चाहिए। इस कमंडलु में भूमंडल का अर्थशास्त्र छिपा हुआ है। जिससे आय और

व्यय का संतुलन नियंत्रित है, वह अपनी गृहस्थी, अपने परिवार और देश को सुचारू रूप से चला सकता है। **''आय-व्यय मुखयोर्मुनेरिव कमंडलु''**। मुनियों के कमंडलु में दुनिया का अर्थशास्त्र भरा हुआ है।

खाने में संयम, कमाने में संयम, खर्च करने में संयम। भारतीय संस्कृति का महान् सिद्धांत है-संयम। अशोक ने अपने शिलालेखों में लिखा है कि संयमित जीवन से ही टकराव खत्म हो सकते हैं। अतः संयमियों का यह उपकरण सब प्रकार से संयम की प्रेरणा देता है।

अन्यायार्जित धन से हानि

अण्णायेणं हु पस्सेज्जा, विड्ढी लाह-सुहाण य।
गुणाण दिस्सदे मेत्तं, हसदे णियमेण हि॥२७॥

अर्थ:-जो सदा अन्याय द्वारा लाभ, गुण और सुख वृद्धिंगत दिखता है वह केवल बढ़ता हुआ दिखता ही है वास्तव में नियम से हानि को प्राप्त होता है।

If profit, quality and pleasure is seen to be increasing unjustly, it only seems to be increasing but in reality it is damaging or harming.

भावार्थ:-संसार में देखा जाता है व्यक्ति मूलभूत द्रव्य अवस्था को छोड़कर उसके प्रतीक, छाया या बिंबों को पकड़ करके रह गया है इस रहस्य को हर व्यक्ति नहीं जान सकता। संभव है ज्ञानी और अज्ञानी की प्रवृत्ति एक समान भी हो फिर भी दोनों के भावों में महान अंतर होता है। कई बार तो ऐसा होता है जो देखने में आ रहा है सो है नहीं, जो होता है सो दिखता नहीं। यह संसार की मोहिनी विद्या मोही प्राणियों को मोहने में ही समर्थ होती है। निर्मोही जीवों के चित्त को मोहने में असमर्थ होती है। दर्पण में मुख और संसार में सुख दिखता है पर है नहीं।

आत्मा में सुख और दर्पण में दर्पण (बिंब को प्रतिबिंबित करने की निर्मलता) है किंतु दिखती नहीं अथवा तीव्र गति से चलने वाली गाड़ी में बैठकर यात्रा करने पर बाहर के दृश्य वृक्षादि चलते हुए दिखाई देते हैं ऐसा लगता है वे वृक्ष पहाड़ादि पीछे को दौड़ रहे हैं किंतु सत्यता यह होती है कि वे पहाड़ादि नहीं दौड़ रहे अपितु हम गतिशील होते हैं। जो गतिशील है वह गतिशील नहीं लगता और जो स्थिर है वह गतिशील लगता है।

कई बार बालकों को चंद्रमा की चाँदनी में दौड़ते देखा है, बालक आकाश में देखते हुए कहते हैं चंद्रमा मेरे साथ दौड़ रहा है। पंखे की तीन पाँखुड़ी जब पंखा चल रहा होता है तब दिखाई नहीं देती वृत्ताकार एक पहिया जैसा घूमता दिखाई देता है यद्यपि वह वहाँ होता नहीं। उसी प्रकार राजा या प्रजा अन्याय के द्वारा अपने देश की सीमा का विस्तार, अपने राज्य की समृद्धि, देश में सुख-शांति की स्थापना आदि करना चाहते हैं तो उनकी वह धारणा, भावना और कल्पना निर्मूल वृक्ष की तरह से है अथवा बालू को पेलकर तेल निकालने की तरह या जल मंथन कर नवनीत निकालने की तरह निष्फल है।

अन्याय, अनीति और अत्याचार के माध्यम से न तो कोई भी देश आज तक सम्पन्न हो सका, न ही किसी भी देश में सुख शांति की स्थापना हो सकी और जीववध से कभी-भी कोई दीर्घजीवी कुशल जीवन नहीं पा सकता। जिस देश में जीववध किया जाता है, माँस का भक्षण किया जाता है, सुरा-सुंदरी को जीवन का अभिन्न अंग मान लिया जाता है वहाँ पर आध्यात्मिकता सिसकती रहती है, सत्य अंतिम श्वॉस गिनने लगता है, धर्म मृत्यु की कगार पर जाकर बैठ जाता है, परोपकार, वात्सल्य, मैत्री, करुणा, दया केवल साहित्य में अंकित रह जाते हैं। उस वातावरण में क्षेम-कुशल, सुख-शांति, अमन-चैन की कल्पना तो की जा सकती है स्थापना नहीं।

अतएव आदर्श रूप श्रेष्ठ शासक व राजाओं का कर्त्तव्य है वे स्वयं सत्य का आचरण करें, अहिंसा, करुणा, दया को जीवन का आधार बनाएँ, सदाचार, प्रेम, वात्सल्य और मैत्री भावना आदि को अपने जीवन के अनिवार्य अंग मानें तभी वे स्व-पर हितैषी आदर्श शासक कहे जा सकते हैं।

मन की अशांतिः-अनैतिक धनार्जन

अण्णायेणं हु वड्ढंति, धणं सोक्खं जसं बलं।
तयावि सुद्धु-रायो य, ण गहेज्जा कया वि तं॥२८॥
जणा जे के वि अज्जेज्जा, अण्णायेणं धणं जहिं।
तम्हि खेत्ते सुहं संती, णो विज्जदे णिही धणं॥२९॥

अर्थः-यदि अन्याय के द्वारा धन, सुख, यश, बल बढ़ता है तब श्रेष्ठ राजा को कदाचित् भी उन्हें ग्रहण नहीं करना चाहिये। क्योंकि जहाँ जो कोई भी जन अन्याय पूर्वक धनार्जन करते हैं उस क्षेत्र में शांति, निधि (समृद्धि), सुख विद्यमान नहीं होता।

If wealth, pleasure, fame and strength increases unjustly then an ideal king should never accept it. Where the people earn money with injustice, there peace, happiness, tranquility and prosperity never reigns.

भावार्थः-कोई व्यक्ति कितना भी भूखा हो फिर भी कालकूट विष का सेवन नहीं कर सकता और यदि किसी व्यक्ति के प्राण प्यास की वेदना के कारण कंठगत ही क्यों न हो रहे हों तब भी हलाहल विष का सेवन नहीं करेगा। क्या कोई सुधी पुरुष अपनी वासना की पूर्ति के लिए अपनी दुहिता या जननी या भगिनी का सेवन करता है। यदि कोई व्यक्ति सूर्य के आताप से तपा हुआ है उसे सघन शीतल छाँव प्राप्त नहीं हो रही है तब क्या वह शीतलता की खोज में अग्नि कुंड में प्रवेश करेगा अर्थात् नहीं।

इसी प्रकार कोई भी आदर्श राजा अन्याय के द्वारा यश, बल, धन, सुख प्राप्त करना नहीं चाहता। वर्तमान में कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कुछ व्यक्ति पाप करते हुए भी सुखी दिखाई दे रहे हैं, निंद्य कार्य करते हुए भी उनका यश फैल रहा है, निर्धन को सताते हुए भी उनका बल वृद्धि को प्राप्त हो रहा है, धन का दुरुपयोग करते हुए या

हिंसक व्यापार करते हुए भी किन्हीं का धन वृद्धि को प्राप्त दिखता है।

ऐसा देखने में आना असंभव बात नहीं है, ऐसा हो सकता है किंतु इसका अर्थ यह कदापि नहीं लगा लेना चाहिए कि अन्याय, अनीति, अत्याचार, कदाचार, हिंसादि पाप या व्यसनों का सेवन करने से इस प्रकार की सुख-शांति आदि उपलब्ध हो रही है। क्योंकि वर्तमान काल में किये हुए कर्मों का फल वर्तमान काल में नहीं मिलता। वर्तमान काल में किए कर्मों का फल नियम से भविष्य में मिलेगा, भूत में किए हुए शुभाशुभ कर्मों का फल वर्तमान में मिल रहा है। कौन नहीं जानता यदि किसान बीज बोते हुए फल खा रहा है तो वह फल उस बीज का कदापि नहीं हो सकता।

यदि रोटी तवे पर सेकी जा रही है तो वह भविष्य में खायी जाएगी और जो खायी जा रही है वह भूत में सेकी जा चुकी है। आटा तो बाजरे का हो, रोटी भी बाजरे की ही सेकी जा रही हो परंतु वह थाली में पहुँचते-पहुँचते गेहूँ की हो जाए ऐसा कदापि नहीं हो सकता। तुमने जैसा आटा गूँथा, जैसी रोटी बनाई है वैसी ही खाने को मिलेगी। चने के आटे से चने की रोटी खाने मिलेगी, मक्का की नहीं अथवा एक बहुत मोटा पाईप जिसमें किसी ने पहले खूब दूध भरा, फिर घी भरा, पुनः तेल भरा और अब नाली का गंदा पानी भर रहा है तो वह गंदा पानी अभी नहीं निकलेगा अभी तो दूध, घी, तेल निकलेगा उसके बाद गंदा पानी निकलेगा।

इसी प्रकार व्यक्ति जो कर रहा है वह उसके सामने वर्तमान में ना भी आए किंतु भविष्य में आएगा जरूर। वर्तमान में कई बार देखने में आता है कि पापी व्यक्ति या हिंसक कार्य या व्यापार आदि करने वाला, व्यसनों का सेवन करने वाला सुखी है और रोज प्रभु की पूजार्चना, भक्ति, स्तवन, कीर्तन करने वाला, ईमानदार, निश्छल,

सच्चा व्यक्ति दुखी है। समाधान आप जान चुके होंगे कि व्यक्ति ने आज नहीं किया किंतु पूर्व में जरूर किया है। पूर्व में किए हुए कर्मों को आज भोग रहा है और वर्तमान में किए कर्मों को भविष्य में भोगेगा।

यदि कर्म नाम की कोई चीज नहीं होती तो कोई बचपन से ही अमीर या गरीब, सुरूप या कुरूप, विकलांग या सांगोपांग जन्म क्यों लेता? यह सब वास्तव में उसका शुभ-अशुभ कर्म ही है।

एक नगर में रहने वाले दो भाई जिनमें बचपन में बहुत प्रेम था किंतु कालचक्र अपनी गति से गतिमान रहा व दोनों युवावस्था को प्राप्त हुए। एक भाई सत्संगति के प्रभाव से देवदर्शन, परोपकार, जपादि कार्यों में संलग्न रहा। जबकि कुसंगति में पड़कर दूसरा भाई व्यसनों में लिप्त हो गया। बड़े भाई ने अपने छोटे भाई को बहुत समझाया किंतु वह नहीं माना, कुमार्ग पर ही अग्रसर रहा। एक समय बड़ा भाई मंदिर के लिए चला उसी समय छोटा भाई जुआरी के अड्डे की ओर बढ़ा। बड़े भाई के पैर में लोहे की कील घुस गई जिससे उसका पैर लहूलुहान हो गया और छोटे भाई को रत्नों की पोटली प्राप्त हुई। संध्याकाल में दोनों को एक-दूसरे के समाचार ज्ञात हुए।

अगले दिन बड़ा भाई महात्मा के पास पहुँचा और बोला "गुरुवर! मैं पुण्य करता हूँ अच्छे कार्य करता हूँ, मैंने कभी किसी को कष्ट नहीं दिया तब भी मेरा पैर लहूलुहान हो गया, किंतु मेरा भाई जो व्यसनों में लिप्त है उसे रत्नों की पोटली मिली, आखिर ऐसा क्यों?" मुनिवर अवधिज्ञानी थे उन्होंने बताया कि यह फल आज के कृत्य का नहीं है। पूर्व में तुमने चिड़िया के पैर में शूल चुभाया था जिसका फल तुम्हें आज प्राप्त हुआ और तुम्हारे भाई ने पूर्व में दानादि किया था, गरीब की सहायता की जिससे उत्तम रत्नों की प्राप्ति हुई।

वैदिक परंपरा में भी एक मार्मिक उदाहरण भीष्म पितामह का आता है। अंतिम समय में शर शैय्या पर लेटे भीष्म पितामह ने श्री कृष्ण से पूछा कि ''पूर्व सौ भवों तक तो मैं स्वयं देख सकता हूँ किंतु मुझे ऐसा कोई पाप दिखाई नहीं दे रहा जिसका फल इस शर शैय्या पर पीड़ा सहन करना हो। आप ही कुछ बताइये।'' श्री कृष्ण ने उत्तर दिया कि ''एक सौ एक भव पूर्व आप एक राजकुमार थे। आप वाटिका के बीच से निकल कर जा रहे थे रास्ते में साँप आया तो आपने अपनी छड़ी से अलग कर उछाल दिया। आपने ध्यान नहीं दिया किंतु वह कटीलीं झाड़ियों पर जाकर गिरा। उसी कर्म का फल आप यहाँ भोग रहे हैं।''

पाप करते समय यदि व्यक्ति उसके फल का विचार कर ले तो वह पाप नहीं कर पाएगा। पाप करना आसान है किंतु उसका फल भोगना बहुत मुश्किल। वर्तमान को तो सामान्यतः बदला नहीं जा सकता किंतु भविष्य तो हमारे स्वयं के हाथों में है। वर्तमान में तन, मन, धन, वचन से अच्छे कार्य कर या उनका सदुपयोग कर भविष्य का निर्माण अवश्य किया जा सकता है।

अतः राजा हो या अन्य कोई भी व्यक्ति उसे लोभ-लालच या अन्य किसी प्रकार भी अन्याय का धन ग्रहण नहीं करना चाहिए। भले ही वह धन, सुख, यश या बल की वृद्धि करने वाला प्रतीत होता है किंतु वह हेय ही है। अन्याय का धन अन्यायपूर्वक ही निकल जाता है वह उसका सदुपयोग नहीं कर पाता। जहाँ धन अन्यायोपार्जित है वहाँ नियम से दुख, शोक, रोग आदि बढ़ते हैं और वह धन उन्हीं के निदान में निकल जाता है। ग्रंथकार का राजा को संबोधित करने का आशय संपूर्ण देश व राष्ट्र की समृद्धि, सुख व शांति है।

यदि देश में, राष्ट्र में, परिवार में अन्याय द्वारा अर्थात् हिंसा द्वारा, किसी प्राणी को सताकर, पीड़ा देकर धन का अर्जन किया जा रहा

है तो वह धन भी वहाँ युद्ध में, लड़ाई-झगड़े में, रोगों के निदान आदि कार्य में निकल जाएगा। अन्याय का धन कभी न्याय मार्ग से और न्याय का धन अन्याय मार्ग से खर्च नहीं होता। अतः राष्ट्र के प्रति शुभ भावनाएँ रखते हुए, करुणा-दया से परिपूरित हुए ग्रंथकार राष्ट्र शांति के लिए अन्याय के धन को स्वीकार न करने का निर्देशन दे रहे हैं। राष्ट्र, देश जैसे धन को स्वीकार करेगा वैसी भावना प्रजा जनों की होगी अतः उनकी शुभ भावनाएँ बलवती हों इसके लिए न्यायमार्ग से धनार्जन करें।

सुखी प्रजा

जत्थ देसे पयातंतं, सचिओ सुह-चिंतगो।
धम्मणिट्ठो तहा रायो, तत्थ होज्ज सुही पया॥३०॥

अर्थ:-जिस देश में प्रजातंत्र हो, सचिव (मंत्री) शुभ चिंतक हों, राजा धर्म निष्ठ हो वहाँ प्रजा सुखी होती है।

The state where there is democracy, where the minister is a well wisher and the king is devout, there citizens always remain blissful.

भावार्थ:-प्रजातंत्र का अर्थ होता है अपने ही अनुशासन में रहना। दूसरों के द्वारा बनाया हुआ अनुशासन या निर्मापित नियम या निर्धारित नीति मानव को बोझ जैसी प्रतीत होती है और वह दूसरों के द्वारा बनाए हुए नीति नियमादि को निष्ठा से पालन नहीं कर सकते। जिस नियम का पालन व्यक्ति स्वेच्छा से और निष्ठा से करता है तो उसमें उसे आनंद आता है। उसी कायदा, कानून व नियम का पालन दूसरों के आदेश से करता है तो उसमें उसे पीड़ा कष्ट एवं पराधीनता की अनुभूति होती है। प्रजातंत्र में थोपा हुआ या आरोपित संयम नहीं है। प्रजातंत्र योगी की तरह से स्वयं स्वीकार कर नीति, नियमादि का पालन कर आनंद का अनुभव करता है।

बादशाहित परंपरा में अपेक्षाकृत दोष अधिक दृष्टिगोचर होते हैं जबकि प्रजातंत्र प्रणाली में दोषों को निर्वासित किया जा सकता है और सुख-शांति की स्थापना की जा सकती है। प्रजातंत्र में चयनित राजा अधिक कर्मठ, कर्त्तव्यनिष्ठ एवं न्यायप्रिय हो सकता है। क्योंकि उसे यह ज्ञात है कि मेरा चयन जनता ने किया है यदि मैं लोक हित का ध्यान न रखूँगा तो प्रजा मुझे गद्दी से नीचे उतार सकती है। बादशाहित परंपरा में पिता की संपत्ति का पुत्र मालिक हो जाता है

चाहे वह योग्य हो या अयोग्य। बादशाहित परंपरा में योग्यताविहीन राजा को भी झेलना पड़ता है और राजा के मनोनुकूल ही चलना पड़ता है किंतु प्रजातंत्र व्यवस्था में जो अपनी अधिक योग्यता प्रस्तुत करने में समर्थ है प्रजा उसे राजा बना सकती है।

प्रजातंत्र व्यवस्था में भी मंत्री मंडल का शुभ चिंतक होना बहुत आवश्यक है। शुभचिंतक मंत्री ही राजा को दुख सागर से उबारने में समर्थ होते हैं। अन्यथा राजा के चापलूस मंत्रियों से राजा का हित नहीं होता। कई बार ऐसा भी देखा गया है कि मंत्री मण्डल ने प्रजा के हित की रक्षा करने के लिए राजाओं की नीति और रीतियों का भी विरोध किया है चाहे उसका परिणाम कुछ भी निकला हो। वर्तमान काल में प्रजा का शुभ चिंतक मंत्री ही देश में व विश्व में शांति की स्थापना करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं और जिस क्षेत्र में शांति होती है, अमन चैन होता है, प्रजा संतोष की श्वॉस लेती है वही देश उन्नत और समृद्ध माना जाता है। जहाँ एक-दूसरे के हिस्से व अधिकारों को छीनने के लिए युद्ध चलते रहते हैं वहाँ सुख-शांति की स्थापना असंभव है।

जहाँ पर राजा धर्मनिष्ठ होकर प्रजा की सेवा या रक्षा उस तरह करना चाहता है जिस प्रकार एक भक्त भगवान की पूजा करता है, शिष्य गुरु की सेवा करता है, योगी संयम की साधना करता है, पिता पुत्र की रक्षा करता है, एक वणिक् अपनी वाणिज्य की समृद्धि करता है, कृषक अपनी खेती की रक्षा व संवर्द्धन करता है ऐसा धर्मनिष्ठ राजा ही प्रजा के लिए प्रभु के समान माना गया है।

इन तीनों कारणों की अनुकूलता पर ही प्रजा की सुख-शांति निर्भर करती है। जिस प्रकार तिपाई पर रखे मंगल कलश के लिए उस तिपाई में तीनों पैरों का होना आवश्यक है तभी वह सकुशल ठहर

सकती है अथवा किसी आत्म साधक या योगी के लिए रत्नत्रय के तीनों रत्न अनिवार्य होते हैं तथा दूसरी मंजिल पर चढ़ने वाले के लिए नसैनी के तीनों पार्ट आवश्यक होते हैं दोनों बल्ली बीच में पैंड उसी तरह तीनों घटकों के बिना शांति की स्थापना असंभव है।

यथा राजा तथा प्रजा

सुट्ठु होदि जहिं रायो, तहिं आरसिया पया।
पयाए सह पप्पोदि, धम्मी रायो सुहं सिवं॥३१॥

अर्थ:-जहाँ राजा श्रेष्ठ होता है, वहाँ प्रजा भी आदर्श होती है, धर्मशील राजा प्रजा के साथ मोक्ष प्राप्त करता है।

Where the king is excellent and most eminent their subjects are also ideal. A pious king attains liberation with his subjects.

भावार्थ:-अच्छी मिट्टी से अच्छे खिलौने बनाए जा सकते हैं और अच्छे रंगों से अच्छे चित्र खींचे जा सकते हैं। दूध जितना ज्यादा शक्ति युक्त होता है उसमें घी की मात्रा उतनी ही अधिक होती है। अच्छे आटे से ही अच्छी रोटी बनती है धूल मिट्टी युक्त आटे से अच्छी रोटियाँ नहीं बनतीं। सब्जी यदि सड़ी गली हो तो घी या मसाले डालने से अच्छी नहीं बन जाएगी। चाहे कोई कितना भी कुशल शिल्पी क्यों न हो कच्चे पाषाण से सुदृढ़ मूर्तियाँ कैसे बना सकेगा। बुंदेलखण्ड की सुप्रसिद्ध कहावत है

"जैसे जाके नदिया नाले तैसे ताके भरिका।
जैसे जा के बाप महतारी, वैसे वा के लरिका।"

हंसों के कुल में कौओं का जन्म नहीं होता तो उल्लूओं के कुल में कभी हंसों का जन्म नहीं होता। बाजरा की रोटी में गेहूँ का स्वाद नहीं मिलता तो शक्कर में से कड़वाहट पैदा नहीं होती। ईख की खेती में पैदा हुआ सेंठा भी कुछ मिष्टता को ग्रहण कर ही लेता है और नीम के पेड़ पर चढ़ी हुई अंगूर की बेल भी कड़वी हो जाती है। पुष्पों की टोकरी पर ढके हुए कपड़े में से भी पुष्पों की गंध आती है तो प्याज के खेत की समीपता से गुजरने पर नासिका के छिद्र प्याज की दुर्गंध

से परिपूरित हो जाते हैं। कपूर के डिब्बे में हींग की गंध कहाँ ? तो हींग की पोटली में गुलाब की गंध नहीं मिलती।

इन सभी उपर्युक्त उदाहरणों से यह तो आप समझ ही गए हैं कि आधार के गुण आधेय में भी आते हैं और संगति में रहने से प्रबल व्यक्ति के संस्कार अल्प शक्ति वाले को दबा ही लेते हैं। चंदन के उद्यान में भले ही सब वृक्ष चंदन के न हों किंतु फिर भी उनमें से चंदन की गंध आती है और नीम के उद्यान में भले ही सब वृक्ष नीम के न हों किंतु नीम के वृक्ष पर चढ़ी हुई तोरी, लौकी, टिंडे की बेलों पर लगे इनके फल नीम की संगति से कड़वे हो ही जाते हैं। कहावत भी है-

''करेला और नीम चढ़ा''।

गुरु का प्रभाव या उनका जीवंत व्यक्तित्व शिष्यों में, माता-पिता का स्वभाव व लक्षण पुत्र और पुत्रियों में जिस प्रकार देखने को मिलता है उसी प्रकार राजा के गुण-दोषों से उसकी शासित जनता अछूती नहीं रह पाती। हाँ ! क्वचित्-कदाचित् अपवाद भी देखने में आ जाते हैं किंतु उन्हें राजमार्ग नहीं कहा जा सकता। जैसे लंका में भी राम भक्त विभीषण सदृश पुरुष का उत्पन्न होना। अतः यह सब सिद्ध है जैसा राजा वैसी प्रजा। ग्रंथकार का मानना तो शायद यही है प्रजा राजा की परछाई है। कोई भी प्रतिबिंब अपने बिंब का विरोधी नहीं होता।

जैसे-अयोध्या में राजा दशरथ, राम सत्यवादी रहे सत्य के लिए उन्होंने संघर्षों का सामना किया। प्राणों से प्रिय पुत्र को ही नहीं छोड़ा अपितु अपने प्राणों का भी मोह छोड़ दिया। संसार से भी नाता तोड़ दिया तभी तो अयोध्या की प्रजा पाप भीरू व आदर्श नागरिक मानी जाती थी। कहा जाता था अवधपुरी में कभी किसी का वध नहीं

किया गया। मर्यादा पुरुषोत्तम रामचंद्र जी की दया, करुणा, क्षमा, शौर्य और पराक्रम का प्रभाव अयोध्या की प्रजा पर भी रहा।

कवियों ने अयोध्या शब्द का अर्थ बताया जहाँ कभी युद्ध नहीं होते। इसे ही पुराण ग्रंथों में विनीता नगरी कहा गया है। जहाँ पर रामचंद्र जैसे विनीत महाराज हों तो वहाँ की प्रजा विनीत क्यों न होगी।

राजा की कुशल क्षेम से ही, देश की कुशल क्षेम जानी जाती है इसीलिए उस देश का नाम उस समय कौशल देश भी था। जो राजा पापों से युक्त होता है वह तो नियम से दुर्गति का पात्र होता है उसका साथ देने वाली प्रजा भी नियम से दुर्गति प्राप्त करती है। किंतु जिस राजा ने संसार-शरीर-भोगों से विरक्त होकर यथाजात प्रव्रज्या को प्राप्त कर लिया उस राजा के साथ हजारों नागरिक भी दीक्षित हुए और अपने राजा के साथ तपस्या करके मोक्ष को प्राप्त किया।

इस प्रकार के उदाहरण जैन धर्म के चौबीसी पुराणों एवं महापुरुषों के जीवन चरित्र में भरे पड़े हैं और यह बात तो सुस्पष्ट ही है जो नायक जहाँ जाता है उसका अनुसरण करने वाली प्रजा वहीं जाती है, जीते जी भी और मृत्यु के बाद भी।

प्रजा का कर्त्तव्य

देसस्सुत्थंघणं णिच्चं, रायाणुगमणं तहा।
चिंतणं णिय-जूहस्स, कत्तव्वो सुपयाइ हु॥३२॥

अर्थ:-प्रजाजन का कर्त्तव्य राजा का अनुगमन करना, अपने यूथ की शुभ-चिंता (हित) करना और अपने देश की वृद्धि या उन्नति में सहायक होना है।

The duty of the subjects is to follow the king, to protect the group and be helpful for the development and growth of their own country.

भावार्थ:-कर्त्तव्यनिष्ठ राजा अपनी प्रजा से निष्ठापूर्ण कर्त्तव्यों का पालन करने की अपेक्षा रखता है। प्रजा कर्त्तव्यनिष्ठ न होगी तो राजा भी कर्त्तव्यनिष्ठ न बन सकेगा। दोनों पक्षों का कर्त्तव्य निष्ठ होना परम आवश्यक है। लोक में कहा जाता है "ताली दोनों हाथों से बजती है एक हाथ से नहीं" अथवा रथ के दोनों चक्र, पक्षी के दोनों पंख, व्यक्ति के दोनों पैर, नदी के दोनों किनारे, कैंची के दोनों पक्ष समान ही होते हैं तभी वह गमनादि करने में समर्थ हो सकते हैं अथवा उपयोगी हो सकते हैं।

प्रजा का कर्त्तव्य है कि वह अपने स्वामी, प्रभु और राजा के प्रति निष्ठावान्, समर्पित एवं आज्ञाकारिणी बने। प्रजा सदैव राजा को यह अहसास दिलाए कि वह राजा के साथ है और राजा के द्वारा किए गए अहिंसात्मक समीचीन कार्यों की प्रशंसा करे। समय-समय पर राज-दरबार में पधारकर उसे अच्छे कार्यों के लिए बधाई दे, कृतज्ञता ज्ञापित करे और अच्छे कार्यों को संपन्न कराने के लिए अतीत के अच्छे उदाहरण सुनाकर या स्मरण कराकर राजा को प्रेरित करे। प्रजा राजा की शक्ति होती है उसका सुख और दु:ख राजा अपना सुख-दु:ख मानता है।

जैसे किरणों से रहित सूर्य, चाँदनी से रहित चंद्रमा, शिष्यों से रहित गुरु, संतान से रहित माता-पिता महत्त्वहीन माने जाते हैं उसी प्रकार प्रजा से रहित राजा भी महत्त्वहीन माना जाता है।

आदर्श प्रजा अपने आदर्श राजा की अनुगामिनी होती है जिस प्रकार परछाई अपने बिंब का अनुगमन करती है, चाँदनी चंद्रमा का अनुगमन करती है, समोशरण तीर्थंकर का अनुगमन करता है, शिष्य गुरु का अनुगमन करते हैं उसी प्रकार प्रजा राजा का अनुगमन करती है।

प्रजा आपस में प्रेमपूर्वक एक-दूसरे के हित का ध्यान रखते हुए राजा के शासन में रहती है। योग्य प्रजा वही है जो अपने राजा की परेशानियों को दूर करे, जो राजा के लिए नित नूतन अनावश्यक परेशानियाँ खड़ी करे वह आदर्श व योग्य प्रजा नहीं हो सकती। प्रजा की आपसी कलह से राजा को संक्लेश होता है। अनावश्यक कार्य राजा और प्रजा दोनों के लिए घातक हैं। प्रजा को कभी ऐसे कार्य नहीं करना चाहिए जिसके माध्यम से देश की अवनति हो।

कुशल प्रजा सदैव देश की उन्नति के लिए नित नये विचार और उपायों के बारे में तत्पर रहती है। किसी भी देश की समृद्धि प्रजा की एकता और नेकता पर निर्भर होती है। संगठित प्रजा बहुत बड़ी शक्ति है जो देश के लिए वरदान स्वरूप मानी जाती है और बिखरी हुई या असंगठित आपसी मतभेदों से युक्त प्रजा देश पर भार है, स्व-पर के दु:ख का कारण है और अभिशाप स्वरूप है। कई बार प्रजा ने संगठित होकर हताश निराश और उदास राजाओं को भी सांत्वना, दिलासा एवं प्रोत्साहित किया है तथा वचनातीत अथवा अचिंत्य सफलताओं को भी दिलाने में सहायक सिद्ध हुई है।

आदर्श प्रजा वही होती है जो अपने समूह के हित की रक्षा करने में, सुख-शांति के संवर्द्धन में, एवं प्रतिकूलताओं के निवारण में सदैव

समर्पित रहती है। जो अपने और अपने यूथ की रक्षा करने में असमर्थ होती है ऐसी दयनीय प्रजा का कौन रक्षण करेगा। दीनता से शिक्षावृत्ति प्राप्त हो सकती है, राज्य नहीं। दीनतापूर्वक हाथ फैलाकर दूसरों से माँगने वाला याचक ही हो सकता है। जिस पर सदैव प्रश्नवाचक चिह्न लगा रहता है, वह कुशल नायक नहीं बन सकता और न ही अपने स्वामी का आदर्श अनुगमन करता है।

प्रजा में विभिन्न प्रकार के धर्म, पर्व, उत्सव, परंपराएँ, रीति-रिवाज प्रचलित रहते हैं जो कि देश को उसी प्रकार समृद्ध, खुशहाल बनाते हैं जिस प्रकार विभिन्न प्रकार के पुष्पों से उपवन या पुष्प वाटिका महकती है। विभिन्न प्रकार के वृक्षों से उद्यान सुशोभित होता है, विभिन्न प्रकार के रत्नों से आभूषण सुशोभित होते हैं, एवं विभिन्न प्रकार के व्यंजनों से रसोई अति आकर्षित होती है। विभिन्न प्रकार के धान्य, खलिहान की शोभा बढ़ाते हैं तो विभिन्न प्रकार के खनिज, खानों की। विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ, दुकानों की तो विभिन्न प्रकार के वर्ण, मकानों की।

परंतु इन सभी पर्वोत्सवादि का महत्त्व तभी है जब आपस में मेल, समन्वयता, सौहार्दता हो। अतः महाजनों का कर्त्तव्य स्वच्छंदता को त्यागकर स्वतंत्रता के साथ सभी का हित करते हुए देश की वृद्धि व समृद्धि में सहायक होना है।

आदर्श नागरिक

जणा कत्तव्वसीला जे, सग-पर-हियंकरा।
पावधीए विहीणा जे, सेट्ठ-णागरिआ हु ते॥३३॥

अर्थ:-जो जन कर्त्तव्यशील हैं, एक दूसरे का हित करते हैं और नित्य पाप बुद्धि से विहीन हैं, वे आदर्श नागरिक कहलाते हैं।

People who obey their duties, always do good for others and are bereft of a sinful mind, they are called ideal citizens.

भावार्थ:-जो कोई भी व्यक्ति या वस्तु श्रेष्ठ और आदर्श रूप होती है वह सबके लिए हितकारी व प्रिय होती है। आदर्श की कसौटी भी यही है कि वह दर्पण की तरह से निर्मल हो, निर्दोष हो, निष्कलंक हो। आदर्श वस्तुएँ दूसरों के हृदय में अपना स्थान बनाने में समर्थ होती हैं। आदर्श व्यक्ति अपने चाहने वालों के दिल, दिमाग और नेत्रों में आठों याम छाए रहते हैं। प्रस्तुत काव्य के माध्यम से ग्रंथकार आदर्श नागरिक के लक्षण बता रहे हैं।

नगर में रहने वाले मनुष्य नागरिक कहलाते हैं। आदर्श नागरिकों से युक्त नगर भी आदर्श कहलाता है। कर्त्तव्यशीलता प्रत्येक व्यक्ति के लिए आदर्शता देने में बीज की तरह से होती है। जिस प्रकार बिना बीज या मूल के कोई वृक्ष नहीं हो सकता उसी प्रकार कोई भी व्यक्ति जिस किसी पद पर आसीन है यदि वह उस पद के अनुरूप अपने कर्त्तव्यों का पालन करने में असमर्थ होता है तो वह आदर्श नहीं कहा जाता।

राजा का कर्त्तव्य राजा पालन करे और प्रजा का प्रजा, गुरु का कर्त्तव्य गुरु पालन करे और शिष्य का शिष्य। स्वामी का कर्त्तव्य स्वामी पालन करे और सेवक का सेवक। बालकों का कर्त्तव्य बालक

पालन करें, पालकों का पालक, मंत्री का कर्त्तव्य मंत्री पालन करे, शासक का शासक, आश्रित का कर्त्तव्य आश्रित पालन करे। प्रत्येक व्यक्ति के कोई न कोई कर्त्तव्य तो होते ही हैं, उन कर्त्तव्यों का पालन करने से ही आदर्शता की भूमिका तैयार होती है। जो जितना सुव्यवस्थित और आदर्श रूप में अपने कर्त्तव्यों का पालन करता है वह उतना बड़ा ही आदर्श पुरुष माना जा सकता है।

आदर्शशील नागरिक का द्वितीय कर्त्तव्य है अपने और दूसरों के हित के प्रति सदैव तत्पर रहना। जो दूसरों का अहित करके मात्र अपना ही हित करे वह आदर्श नागरिक नहीं होता और जो स्वयं का पतन करके दूसरों का हित करना चाहे वह भी आदर्श नागरिक नहीं हो सकता। कर्त्तव्य का पालन करना अलग बात है और स्व-पर हित को ध्यान में रखकर कर्त्तव्य का पालन करना अलग बात है।

आदर्श नागरिक वह कहलाता है जो पाप बुद्धि से रहित हो। निंदनीय विचार और कार्यों को पाप कहते हैं वे पाप अनंत हैं किंतु मुख्यतया पाँच प्रकार के माने गए हैं-हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह। हिंसा का आशय है किसी भी जीव को मन से, वचन से या काय से कष्ट देना। झूठ से आशय है असत्य अभिप्राय को मन में स्थापित करके अथवा अहिंसा की हत्या करते हुए अहितकारी वचन बोलना। चोरी का आशय है जिस वस्तु पर अपना अधिकार नहीं है किसी की भूली हुई, रखी हुई, पड़ी हुई वस्तु को ग्रहण करना, उस पर अपनी मालकियत जताना। कुशील का आशय है शील को नष्ट करना, मान, मर्यादा का लोप करना अथवा अब्रह्म का सेवन करना। परिग्रह का आशय है पर पदार्थों में आसक्ति व मूर्च्छा अथवा आवश्यकता से अधिक धन, वस्तुओं आदि का अपने पास संग्रह करना।

जो आदर्श नागरिक होता है वह इन पाँचों प्रकार के पापों का परित्याग कर देता है, पाँच अणुव्रतों को स्वीकार कर लेता है। पाँच अणुव्रत ही राष्ट्र के सुखद जीवन की आधारशिला हैं। संविधान के मूल नियम ये पाँच ही हैं। जिन्हें अधिवक्ताओं ने युक्ति और तर्क के आधार से हजारों की तादात में लिखा है। जो इन पाँच मूल नियमों का पालन नहीं करता वह अपराधी माना जाता है और जो पाँच मूल सिद्धांतों का पालन करने में समर्थ है उसे इतने अधिक नियमों को पालने की आवश्यकता नहीं है उसके द्वारा सभी नियम स्वयं परिपालित होते हैं।

पाँच पापों का त्याग करने वाला सप्त व्यसन का त्यागी होता ही है और दूसरों को भी व्यसन और पापों से बचाने में निमित्त बनता है। स्वच्छता अभियान के मायने मात्र रोड की गंदगी को साफ करना नहीं होना चाहिए अपितु मानव मन में विद्यमान व्यसन और पापों की गंदगी को भी दूर करने का प्रयास करना चाहिए। जब तक मानव मन मलिन रहेगा तब तक प्रकृत्ति को प्राकृतिक रूप नहीं दिया जा सकता। मन के विकार ही प्रकृति को विकृत बनाते हैं। गंदगी के मूल को नष्ट किए बिना गंदगी का प्रक्षालन निरर्थक होता है। यथा विष्टा में पड़े हुए किसी कलश को प्रक्षालित कर पुनः विष्टा में स्थापित करने से वह शुद्ध नहीं हो जाता।

वर्तमान काल में प्रायः करके शासक व शासित एक दूसरे को आदर्श रूप में देखना चाहते हैं किंतु वे स्वयं आदर्श बनना नहीं चाहते। जब तक हम स्वयं आदर्श नहीं बनेंगे तब तक दूसरों से आदर्श होने की कामना व कल्पना गाय के सींग से दूध दुहने के समान निरर्थक है। आदर्श नागरिक भगवान महावीर स्वामी के सिद्धांतों का भूल करके भी उल्लंघन नहीं करता। भगवान महावीर स्वामी के सिद्धांत, नियम, अधिनियम और कानून उस समय भी सम सामायिक

थे आज भी उतने ही सम सामायिक हैं और भविष्य में भी उनकी उतनी ही ज्यादा आवश्यकता रहेगी। जिस प्रकार बिना दूध के घी नहीं मिल सकता उसी प्रकार बिना आदर्श नागरिक बने आदर्श राज्य की स्थापना नहीं हो सकती अथवा भगवान महावीर स्वामी के सिद्धांतों को स्वीकार किए बिना आदर्श राज्य एवं सुख-शांति की कल्पना तो की जा सकती है किंतु स्थापना नहीं।

भगवान महावीर स्वामी का विश्व प्रसिद्ध अमोघ वाक्य 'जीओ और जीने दो' एक ऐसे विराट वृक्ष की तरह से है जिस पर पुष्प, फल, पत्र, पल्लव आदि हैं जिसकी सुखद छाया में सारा विश्व स्वाभाविक सुख शांति और आनंद को प्राप्त कर सकता है। इसके आश्रय के बिना पापों से निष्पन्न भवाताप रूपी दीपक की लौ में पतंगे की तरह नष्ट होना उसकी नियति है। 'जीओ और जीने दो' ये मात्र 4 शब्द नहीं हैं, चारों वेदों, अनुयोगों अथवा अनेक स्मृति और पुराणों अथवा सभी धर्म ग्रंथों का सार तो हैं ही साथ ही ये जीवन के चारों आयामों एवं तीर्थ धामों की वंदना का भी निचोड़ हैं। इसके बिना जीवन ऐसे ही शून्य जानना चाहिए जिस प्रकार विद्युत् के बिना विद्युत् उपकरण। इस बोध वाक्य को स्वीकार किए बिना कोई व्यक्ति न तो आदर्श नागरिक बन सकता है और न ही आदर्श शासक।

आदर्श नागरिक और शासकों की गौरव गाथाएँ भारतीय संस्कृति के संपोषक धर्म ग्रंथों, शास्त्रों, इतिहास एवं पुराणों में लिपिबद्ध हैं। यहाँ पर विस्तार के भय से इन सबका उल्लेख करना संभव नहीं। सुधी जन यथायोग्य उस प्रकार के साहित्य का अध्ययन करके आदर्श नागरिक बनने की सफलतम कोशिश करें। उसी में स्व-पर हित निहित है।

श्रेष्ठ नागरिक

देसभत्तो गुणी णाणी, खेमंकरो दयाजुदो।
कत्तव्वसील-सद्धालू, सेट्ठ-णागरिओ हु सो॥३४॥

अर्थ:-देश भक्त, गुणी, ज्ञानी, क्षेमंकर अर्थात् सबके कल्याण या अच्छे की भावना भाने वाला, दयालु, कर्त्तव्यशील और श्रद्धालु या निष्ठावान् निश्चय से श्रेष्ठ नागरिक है।

A citizen who is a patriot, is virtuous, learned, benevolent, sympathetic, dutiful and faithful is the most eminent citizen.

भावार्थ:-देश में रहने वाले लोग जिन्हें वहाँ रहने के अधिकार (नागरिकता) प्राप्त है नागरिक कहलाते हैं। जिस प्रकार छोटी-छोटी जल की बूँदों से मिलकर सागर बनता है, छोटे-छोटे तिनकों से मोटा रस्सा बनता है, कई धागों के माध्यम से वस्त्र का निर्माण होता है, बच्चों और अध्यापकों का वह समूह जहाँ बच्चों को शिक्षा दी जाती है विद्यालय कहलाता है, कई पार्ट्स को जोड़कर के किसी मशीनरी का निर्माण किया जाता है, लगभग 5 लाख पार्ट्स के माध्यम से हवाई जहाज का निर्माण होता है उसी प्रकार मात्र राजा, दुर्ग, मंत्री या प्रजा से देश का निर्माण नहीं होता अपितु इन सबका समूह देश कहलाता है।

जिस राष्ट्र या देश में रहकर के व्यक्ति अपना जीवन स्वतंत्रता के साथ, सुख-शांति पूर्वक व्यतीत कर रहा है उस व्यक्ति को किस प्रकार का होना चाहिए राष्ट्र शांति के हेतु ग्रंथकार उसका यहाँ वर्णन कर रहे हैं। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्त्तव्य का पालन समीचीन रूप से करता है तो वहाँ अशांति, कलह, झगड़े का तो कोई कारण ही नहीं है। सर्वप्रथम लक्षण है देश भक्त। देश में रहने वाला नागरिक

देश भक्त हो। व्यक्ति जहाँ रह रहा हो उसी के विरुद्ध चले, उसी के प्रतिकूल प्रवृत्ति करे, उसी का घात करे तो उससे बड़ा अधम, पापी और कौन हो सकता है। अतः श्रेष्ठ नागरिक वही है जो देश के प्रति निष्ठावान् रहे, देश में बनाये गये कानूनों का पालन करे वे नियम चाहे सड़क पर चलने के हों या कर आदि के। देश के नियम-कानूनों को तोड़ने वाला सच्चे देश भक्त की श्रेणी में नहीं आ सकता। यदि देश के लिए बहुत कुछ अच्छा नहीं कर सकते तो कम से कम बुरा भी मत करो। प्रत्येक व्यक्ति की अपने व्यक्तियों से कोई न कोई अपेक्षा होती है देश की भी नागरिकों से कुछ अपेक्षाएँ हैं कि वे सुख शांति पूर्वक नियम कानूनों का पालन करते हुए यहाँ निवास करें।

एक से एक बढ़कर देश भक्त इस भारतभूमि पर हुए जिन्होंने देश के लिए अपने प्राणों की चिंता तक नहीं की। लक्ष्मीबाई, भगतसिंह, चामुण्डराय जिन्होंने गोमटेश बाहुबली भगवान की प्रतिमा स्थापित कराई, हुकुमचंद जैन, नागमय्य, तात्या टोपे, सुभाष चंद्र बोस, लाल बहादुर शास्त्री, मंगल पाण्डे, सुखदेव, चंद्रशेखर आजाद, लाला लाजपत राय, सरदार वल्लभ भाई पटेल, महात्मा गांधी, महाराणा प्रताप, पृथ्वीराज चौहान, शिवा जी, मोती शाह जैन आदि।

जिस प्रकार व्यक्ति गृह में निवास करते हुए अपने गृह और उसमें रहने वाले लोगों के प्रति सहयोग, वात्सल्य की भावना रखता है उसी प्रकार का व्यवहार एक देश भक्त का अन्य नागरिकों के प्रति होता है अथवा होना चाहिए। नागरिक को देश के प्रति अच्छी भावना रखते हुए उसके लिए हितकारी कार्यों को करना चाहिए। जिन कार्यों से देश की शालीनता भंग होती हो ऐसे कार्य एक आदर्श नागरिक को करने योग्य नहीं हैं, यह उसकी देश भक्ति पर प्रश्न चिह्न है। एक देशभक्त देश की शालीनता को बना तो सकता है परंतु भंग नहीं कर सकता।

अगली बात कही नागरिक गुणी हो। क्षमा, शूरवीरता, पराक्रम, शील, सहनशीलता, विनम्रता आदि गुणों से युक्त हो। जिस प्रकार घर के संस्कार घर के बच्चों से बाहर जाते हैं उसी प्रकार देश के संस्कार देश के नागरिकों से देश के बाहर जाते हैं। अतः प्रत्येक नागरिक गुणवान् हो, स्वयं में अनुशासित हो। यदि प्रत्येक व्यक्ति अनुशासित हो, गुणों से युक्त हो तब राष्ट्र शांति की स्थापना करने के लिए परिश्रम की आवश्यकता नहीं वह तो स्वतः ही हो जाएगी। यदि गुणों का पिंड एक नागरिक किसी अन्य देश के नागरिक से मिलता है तो वह अपनी नहीं अपितु अपने संपूर्ण देश की छाप उस पर छोड़ता है। यदि देश का प्रत्येक नागरिक गुणी व अनुशासित हो तो संपूर्ण देश गुणी और अनुशासित कहलायेगा।

अगली बात कही वह नागरिक ज्ञानी हो। यदि ज्ञानवान् होगा तो अच्छे-बुरे का विचार करने में सक्षम होगा। हेय और उपादेय का विवेक भी ज्ञानवान् ही कर सकता है। ज्ञान ही सबसे बड़ा बल है केवल शरीर का बल इतना कार्यकारी नहीं है। शारीरिक बल के अभाव में भी बुद्धि, ज्ञान के बल से बड़े-बड़े कार्य संपन्न किये जा सकते हैं। वह नागरिक क्षमावान् भी हो। क्षमाशील व्यक्ति के द्वारा कई झगड़े कलह की संभावनाऐं टाली जा सकती हैं। यदि नागरिक क्षमाशील हैं तो यदि किसी एक व्यक्ति को कषाय का आवेश आ भी गया तो दूसरा क्रोध रूपी उस अग्नि को क्षमा रूपी शीतल जल के माध्यम से शांत कर सकता है। वर्तमान में छोटी-छोटी बातों पर होने वाले झगड़ों का कारण क्षमा भाव का अभाव ही है। उस समय आपसी झगड़ा न कर बाद में यदि आवश्यकता पड़े तो कुछ बुद्धिमान् व्यक्तियों की सहायता से उसे सुलझाया जा सकता है।

नागरिक सबके शुभ की, मंगल की, अच्छे की भावना भाने वाला हो। व्यक्ति की भावनाएँ दूसरे व्यक्ति पर प्रभाव डालती हैं।

यदि आप किसी के प्रति अच्छा विचार कर रहे हैं तो नि:संदेह वह भी आपके प्रति अच्छा विचार करेगा और यदि आपकी दूषित भावनाएँ उस तक पहुँची तो वह भी आपके प्रति अच्छा नहीं सोचेगा जो आपसी कलह का कारण भी बन सकता है क्योंकि यदि दोनों के मन की भावनाएँ एक दूसरे के प्रति दूषित होंगी तो वे कभी न कभी बाहर निकल कर आऐंगी ही। अत: सबके प्रति अच्छी भावना रखना प्रेम-वात्सल्य का कारण है और दूसरी बात जो व्यक्ति सबके लिए अच्छी भावना भाता है उसका स्वयं का कभी बुरा नहीं होता। लोकोक्ति है ''जो व्यक्ति दूसरों के लिए गढ्ढा खोदता है वह पहले स्वयं उसमें गिरता है।'' इसी प्रकार जो व्यक्ति दूसरों के लिए बुरा सोचता है उसका बुरा पहले ही हो जाता है। अत: आदर्श नागरिक को सभी के प्रति अच्छी भावना रखनी चाहिए।

अगली बात कही देश में रहने वाला नागरिक दयालु हो। दयालुता एक ऐसा गुण है जिसके अभाव में व्यक्ति धार्मिक या धर्मात्मा नहीं कहला सकता। क्योंकि धर्म का मूल दया है। गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर स्वामी की भक्ति करते हुए कहा है ''धर्मस्य मूलं दया''। आचार्य महाराज कहते हैं ''धम्मो दया विसुद्धो'' अथवा ''अहिंसा परमो धर्म:''। जिस प्रकार बिना जड़ के वृक्ष नहीं टिक सकता उसी प्रकार बिना दया के धर्म ठहर नहीं सकता अथवा धर्म का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता, दयालु व्यक्ति कभी किसी प्राणी को दु:खी नहीं कर सकता न तन के माध्यम से और न वचन के माध्यम से। दयालु व्यक्ति कभी किसी पशु-पक्षी का भी घात नहीं करता। दूसरों के प्राणों का घात कर क्या व्यक्ति स्वयं खुश रह सकता है? किसी को दु:ख देकर, सुख प्राप्त करने की कल्पना तो की जा सकती है परंतु सुख प्राप्त नहीं किया जा सकता। अत: दयालु प्रवृत्ति अपनायें।

व्यास विद्वान ने कहा है:-

''अनाथान् विकलान् दीनान् क्षुत्परीतान् पशूनपि।
दयावान् पोषयेद्यस्तु स स्वर्गे मोदने चिरम्।।

जो दयालु मनुष्य अनाथ, माता-पिता से रहित या लूले लँगड़े दीन व भूख से पीड़ित पशुओं की रक्षा करता है, वह चिरकाल तक स्वर्ग के सुखों को भोगता है।

वह नागरिक कर्त्तव्यशील और निष्ठावान् भी हो। अपने कर्त्तव्यों का प्रत्येक नागरिक पालन करे और प्रभु, गुरु के प्रति निष्ठावान् हो। उपर्युक्त गुणों से युक्त नागरिक ही वास्तव में श्रेष्ठ नागरिक कहलाता है।

समाज

समाजो तं विआणेज्जा, णिवहो सज्जणाण हु।
जत्थ वि मिलिऊणं च, वसदि पेम्म-पुव्वगं॥३५॥

अर्थ:-निश्चय से समाज वही कही जाती है जहाँ एकता से सज्जन पुरुषों का समूह प्रेमपूर्वक निवास करता है।

The community, from the ideal point of view, is the one where the group of virtuous people live lovingly and in harmony.

भावार्थ:-सज्जन शब्द जन में सत् उपसर्ग जोड़ने पर बनता है। सत् का अर्थ है अच्छा। सज्जन यानि अच्छे लोग। सत्यपना, समीचीनता, संयम, समता, सहनशीलता, सरलता, सहजता, सरसता से युक्त लोग। सत्व गुण वाले सज्जन कहलाते हैं, जो लोग सुकार्यों को अपने जीवन में स्थान देते हैं, सहयोग की भावना से युक्त होते हैं। स्व-पर भावी, परोपकार, समन्वयता आदि गुणों से अलंकृत होते हैं वे सज्जन कहलाते हैं।

दो या दो से अधिक पुरुषों का समूह होता है, एक व्यक्ति समूह नहीं कहलाता है। कम से कम 2 की संख्या समूह के लिए आवश्यक है। ऐसे सज्जन पुरुष जहाँ एकता से या संगठित होकर रहते हैं। संगठन का अर्थ है समीचीन रूप से गठन। संसार में ऐसी भी कुछ वस्तुएँ हैं, समूह ही जिसे प्राप्त करने में समर्थ होता है। अकेला व्यक्ति उस वस्तु को प्राप्त करने में कभी समर्थ नहीं हो सकता। संसार में ऐसी कई वस्तुएँ हैं जिनका अकेले कोई अस्तित्व नहीं। जैसे-कोई पूछे खीर क्या है? तो वह खीर कोई एक वस्तु नहीं है अपितु दूध, चावल, बूरा, मेवा, केसर आदि जब एक साथ मिल जाते हैं, पक जाते हैं तब वह स्वादिष्ट खीर कहलाती है। पाक कला में कुशल महिलाएँ जब सब्जी

आदि बनाती हैं तब सब्जी व अन्य मसाले एकमेव हो जाएँ, सम्यक् रूप से पक जाए तब वह सब्जी तैयार होती है।

उसी प्रकार समाज किसी एक व्यक्ति का नाम नहीं है अपितु जहाँ सब लोग एकमेव हो जाएँ अर्थात् जहाँ पारस्परिक सौहार्दता की भावना हो, पारस्परिक प्रेम व परोपकार की भावना हो, सभी एक-दूसरे के हित में संलग्न रहते हों, उन्नति की राह पर परस्पर सहयोग करते हों ऐसे सज्जन लोगों के समूह का नाम है-समाज।

समाज उसे कहते हैं जो एक हो और नेक हो। जो बिखरी होती है उसे समाज नहीं कहते। समाज एक ऐसा सामूहिक शब्द है, संज्ञा है, संज्ञा भाववाचक भी होती है, जिससे वस्तु का अवज्ञान या अवबोध होता है। कुछ संज्ञाएँ समूह के लिए दी जाती हैं जैसे भीड़, संख्यात, ढेर। यह एक नही बल्कि उन एक-एक का मिला हुआ रूप है।

एक को तो कभी समाज कहा ही नहीं जा सकता। जब समाज एक धागे में बंध जाती है तब वह समाज हाथ से फेरी जाने वाली माला की तरह से पूजनीय बन जाती है। यदि मोती बिखरे पड़े हैं तो लोग पैर रखकर कुचल कर भी चले जाऐंगे किन्तु जो मोती माला में पिरो दिये गए तो वह माला पुनः कंठ में धारण की जाती है, मोती कंठ में कैसे धारण किया जा सकता है? माला तो हृदय में अपना स्थान बना लेती है। जिस प्रकार जाप माला को आप आँखों से, माथे से लगाते हैं उसी प्रकार सभी व्यक्ति एक सूत्र में बंध जाते हैं तो वह समाज भी आदरणीय और प्रशंसनीय कहलाती है, उन्नति को शीघ्र प्राप्त करती है। संगठित रहने से शक्ति कई गुनी बढ़ जाती है।

दो एक एकादश हुए, किसने नहीं देखे सुने।
शून्य के भी योग से, अंक होते दस गुने॥

एक और एक यदि एक साथ मिल जाते हैं तो वे ग्यारह के बराबर कार्य करते हैं। जब तक व्यक्ति के हाथ अलग-अलग हैं तब तक नीचे लटके हुए हैं और जब जुड़ जाते हैं तब ऊपर उठ जाते हैं इसी प्रकार जब व्यक्ति जुड़ जाते हैं तब निश्चय रूप से वह उन्नति को प्राप्त करते हैं। एक होकर व्यक्ति किसी भी प्रतिकूलता का सामना सरलतापूर्वक कर सकते हैं। बचपन में वह कविता भी आपने पढ़ी होगी।

भोला के थे बच्चे तीन, रामू, श्यामू, मातादीन।
सुनते थे न किसी की बात, लड़ते रहते थे दिन-रात।
भोला ने सबको समझाया, लकड़ी का गट्ठर मँगवाया।
सबसे कहा कि इसको तोड़ो, या लड़ने से मुखड़ा मोड़ो॥
सबने भारी जोर लगाया, उस गट्ठर को तोड़ न पाया,
भोला ने सबको समझाया, महत्त्व एकता का बतलाया।
एक-एक लकड़ी सबको दे दी, सबने उसको तोड़ गिराया॥

अकेले व्यक्ति को कोई भी परास्त कर सकता है और जहाँ एकता है वहाँ आपत्तियाँ भी स्वयं परास्त हो जाती हैं।

जिसके जीवन में एकता है वह नेक कहलाता है। सज्जन व्यक्ति वह कहलाता है जो सबसे जुड़ के चलता है और सबको जोड़ कर चलता है। व्यक्ति का जब विनाश होना प्रारंभ होता है तब व्यक्ति सबसे पहले छूटता है, टूटता है। पहले परिवार से टूटेगा, मौहल्ले-पड़ोस से टूटेगा फिर धीमे-धीमे अंदर से भी टूटने लगेगा और फिर विनाश के कगार पर पहुँच जाता है।

जहाँ भी एकता है वहाँ उन्नति है, उत्थान है और जहाँ बिखराव होता है वहाँ पतन है।

गिरयो येन भिद्यन्ते धरा येन विदीर्यते।
संहतेः पश्य माहात्म्यं तृणैस्तद् वारि धार्यते॥

जिस जल के द्वारा पहाड़ खण्ड-खण्ड हो जाते हैं, पृथ्वी विदीर्ण हो जाती है वह जल तृणों के द्वारा अपने ऊपर धारण किया जाता है, संगठन का माहात्म्य देखो।

शास्त्रों में एक पक्षी का नाम आता है-भारुण्ड, वह बहुत ही बड़ा होता है यहाँ तक कि व्यक्ति उनके पंखों में बैठकर एक देश से दूसरे देश भी गमन कर सकता है। ऐसा पक्षी वर्तमान में तो देखने में नहीं आता किंतु प्राचीन काल में संभव है थे तभी उनका वर्णन शास्त्रों में है। उस पक्षी के दो मुख होते हैं। वे दोनों विपरीत दिशा में होते हैं। उस पक्षी का पेट इतना बड़ा होता है कि एक मुख खाते-खाते थक जाता है तब दूसरा मुख खाना प्रारंभ करता है।

एक बार किसी बात पर दोनों मुखों की लड़ाई हो गई। दोनों में बात बढ़ते-बढ़ते बहुत बड़ गई। कोई भी मुख चुप रहने को तैयार नहीं था। यदि एक मुख मौन धारण कर लेता तो संभव है बात इतनी नहीं बढ़ती क्योंकि झगड़ा न हो इसके लिए दो सूत्र जो पूज्य गुरुदेव अक्सर कहा करते हैं 'मौन लो या मान लो'।

साधुसाधुकृतं मौनं कोकिले ! प्रावृषि त्वया।
वक्तारो दर्दुरा यत्र कुतस्तत्र सुभाषितम्॥

हे कोयल ! तुमने बरसात में मौन धारण किया, यह बहुत अच्छा किया क्योंकि जहाँ मेंढक वक्ता हैं वहाँ सुभाषित कैसे हो सकता है। तात्पर्य यह है कि जहाँ अनेक विरुद्ध बोलने वाले हों वहाँ चुप रहना ही श्रेयस्कर है।

वह मुख न तो एक-दूसरे की बात मानने को तैयार थे, न मौन लेने को तैयार थे। तब तो झगड़ा बढ़ना स्वाभाविक ही था। एक मुख

बहुत क्रोधित हुआ और बोला देख मैं तुझे नष्ट कर दूँगा और विष भक्षण कर लिया। वह मुख शायद भूल गया था कि मुख अलग होने के बाद भी पेट तो एक ही है और उसकी मृत्यु हो गई।

इसी प्रकार जब दो व्यक्ति या दो गुटों में झगड़ा होता है तो वे भूल जाते हैं कि वे दोनों ही समाज के अंग हैं उनके झगड़े से उनकी हानि तो होती ही है परंतु मुख्य हानि संपूर्ण समाज व धर्म की होती है। अतः समाज व धर्म के संरक्षण और संवर्द्धन हेतु एकता बहुत आवश्यक है।

अगली बात ग्रंथकार बताते हैं वात्सल्य। दो वस्तुओं को जोड़ने के लिए फेविकॉल आदि स्निग्ध पदार्थों का प्रयोग किया जाता है उसी प्रकार व्यक्ति को व्यक्ति से जोड़ने के लिए वात्सल्य एक स्निग्ध पदार्थ है। जहाँ व्यक्ति प्रेमपूर्वक निवास करते हैं वह धरती का स्वर्ग कहलाता है।

ऋषि-मुनि कहते हैं कि शरीर में जो स्थान हृदय का है, वही स्थान धर्म में वात्सल्य का है। जैसे हृदय के स्पंदन से रहित व्यक्ति का शरीर शव हो जाता है वैसे ही प्रेमशून्य व्यक्ति का जीवन भी शव के समान माना जाता है। जहाँ वात्सल्य नहीं, वहाँ कुछ भी नहीं है चाहे व्यक्ति हो, परिवार हो अथवा समाज। आचार्य समंतभद्र स्वामी कहते हैं-

स्वयूथ्यान् प्रति सद्भावसनाथापेतकैतवा।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते॥

अपने साधर्मियों के प्रति, अपने आचार-विचार से मेल रखने वालों के प्रति बिना किसी स्वार्थ और छल के प्रेम रखना, उनका यथायोग्य आदर-सत्कार और सम्मान करना, उनके प्रति आन्तरिक स्नेह रखना वात्सल्य है।

यह वात्सल्य हृदय की तरह से है। कदाचित् व्यक्ति का मस्तिष्क काम न करे तो वह जी सकता है लेकिन यदि हृदय काम करना बंद कर दे, हृदयगति रुक जाए तो वह जी नहीं सकता। उसी मनुष्य के हृदय को हृदय कहा जाता है जिसके अंदर प्यार हो। कहते हैं-

जो भरा नहीं है भावों से, जिसमें बहती रसधार नहीं।
वह हृदय नहीं है पत्थर है, जिसके अंतस् में प्यार नहीं॥

वात्सल्य एक-दूसरे को अपनाकर, एक-दूसरे के पूरक बनकर जीवन जीने की प्रेरणा देता है। यह महानता का आधार है। हृदय को आकाश की विशालता वात्सल्य ही दे सकता है। कुरल काव्य में तिरुवल्लुवर आचार्य लिखते हैं-

अस्थिहीनं यथा कीटं सूर्यो दहति तेजसः।
तथा दहति धर्मश्च प्रेमशून्यं नृकीटकम्॥

जैसे अस्थिहीन कीड़े को सूर्य अपने तेज से नष्ट कर देता है उसी प्रकार प्रेम से रहित पुरुष को धर्म भी अपने तेज से नष्ट कर देता है।

एक बार पानी दूध के पास स्थान माँगने गया-बोला तुम तो बहुत पौष्टिक हो और मैं तो मूल्यहीन हूँ। क्या आप मुझे अपने में स्थान दे देंगे-दूध बोला शरणागत की रक्षा करना हमारा धर्म है। दूध ने बड़े प्रेम से पानी को अपने में मिला लिया दोनों एकमेव हो गए। थोड़ी देर बाद हलवाई दूध तपाने लगा तो पानी के मन में आया, जिसने मुझे शरण दी है, मेरे कारण वह संकट में पड़े ऐसा तो मैं नहीं होने दूँगा इसलिए मैं पहले अपना उत्सर्ग करूँगा, मैं पहले जलूँगा। पानी ने जलना शुरू किया जैसे ही दूध ने यह देखा उसे बड़ा खराब लगा। जिसे शरण दी वह मेरे जीते जी संकट में पडे यह संभव नहीं। यह आग पानी को जला नहीं सकती, मैं अभी आग को ही बुझा डालता हूँ, यह सोच दूध एकदम उबल पड़ा। जैसे ही हलवाई की दृष्टि उस पर पड़ी उसने

एक चुल्लू पानी उसमें डाल दिया। दूध ने देखा मेरा साथी आ गया वह शान्त हो गया।

फिर एक दिन पानी तेल के पास स्थान माँगने पहुँचा तेल ने रौब झाड़ते हुए कहा तुम्हारी क्या औकात कि तुम मेरे साथ रहो। फिर भी पानी के विशेष आग्रह पर तेल ने तिरस्कार भरी दृष्टि से कहा ठीक है, आ जाओ। जब पानी तेल में आया तो तेल ऐंठ कर उसके सिर पर ही बैठ गया। पानी को यह लगा तो बहुत बुरा पर वह चुप रहा थोड़ी देर बार एक अम्मा ने आकर दिया जलाया तो तेल पहले जल गया और पानी का कुछ भी न बिगड़ा।

महानुभाव जो व्यक्ति दूध और पानी की तरह एकमेक हो जाते हैं उनका अस्तित्व सदैव बरकरार रहता है और जो पानी एवं तेल की तरह ऐंठते हैं, उनका जीवन यूँ ही नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। इसलिए जीवन में वात्सल्य को अपनाकर उसे अपने जीवन में महत्त्व दें।

अत: प्रेम और एकता के साथ जहाँ सभी व्यक्ति निवास करते हैं वह समाज उन्नति को प्राप्त करता है।

कहाँ हो निवास स्थान ?

पंडिदो य जलं वेज्जो, होज्ज तत्थ वसेज्ज हु।
जत्थासक्क-सुकज्जाइं, उज्झेज्ज तं गिहं वणं॥३६॥

अर्थ:-जिस क्षेत्र में जल, वैद्य, पंडित निवास करते हैं उसमें निवास करना चाहिए। जिस क्षेत्र में अच्छे कार्य करना शक्य नहीं, वह गृह-वन छोड़ देना चाहिए।

Where water, doctor and scholar exist, people should live in that place. The place in which doing good deeds is not possible, that home-forest should be given up.

भावार्थ:-प्रत्येक व्यक्ति अपना निवास स्थान अनुकूल स्थान पर बनाना चाहता है। यहाँ तक कि पक्षी भी अपना घोंसला अपने अनुकूल वृक्षादि पर बनाता है। संसार का कोई भी प्राणी प्रतिकूलताओं को आमंत्रित नहीं करना चाहता। मकान खरीदने या बनवाने से पूर्व उस स्थान की जाँच-पड़ताल करता है। मकान खरीदने से पूर्व व्यक्ति बिजली, सोसाइटी आदि आधुनिक सुविधाओं को देखता ही है। इन सबके साथ ग्रंथकार कुछ विशेष बिंदुओं की ओर व्यक्ति का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं।

व्यक्ति जहाँ निवास करता हो अथवा करना चाहता हो तो सर्वप्रथम जल की समुचित व्यवस्था उसको देख लेनी चाहिए क्योंकि गृहस्थ बिना जल के समीचीन रूप से अपनी गृहस्थी संचालित नहीं कर सकता। कहा जाता है 'जल ही जीवन है'। यदि आस-पास जल ही न हो तो वह दैनिक चर्या कैसे पाल सकता है। जल के अभाव में तो वह कुछ करने में समर्थ नहीं है चाहे सफाई हो या धुलाई, भोजन पकाना हो अथवा अन्य कोई काम। जल की समुचित व्यवस्था हो और जल भी खारा आदि न हो, वह पीने योग्य हो, आरोग्य वर्द्धक हो। जल कई बीमारियों का शमन करने वाला भी होता है, शरीर में

ऑक्सीजन जल के माध्यम से अच्छी मात्रा में पहुँचता है इसीलिए कहा जाता है कि पढ़ने वाले बच्चों अथवा दिमाग से अधिक काम लेने वाले व्यक्तियों को पानी अधिक पीना चाहिए।

दूसरी बात ग्रंथकार वैद्य अथवा चिकित्सक को भी आवश्यकों में गिन रहे हैं। व्यक्ति का यदि शरीर स्वस्थ है तो वह कोई भी कार्य स्वास्थ्य की निश्चिंतता के साथ कर सकता है। ''शरीर व्याधि मंदिरं'' यह शरीर रोगों का घर है जितना सत्य यह है उतना ही सत्य यह है कि स्वस्थ व्यक्ति ही अन्य कार्य करने में समर्थ होता है। सही मंजिल तक पहुँचने हेतु जिस प्रकार वाहन का ठीक होना जरूरी है उसी प्रकार समीचीन मंजिल की संप्राप्ति हेतु शरीर रूपी गाड़ी का भी ठीक होना जरूरी है। इसीलिए श्री उग्रदित्याचार्य ने कल्याण कारक नामक मूल्यवान् आयुर्वैदिक ग्रंथ की रचना की और सिर्फ इन्होंने ही नहीं बल्कि अन्य आचार्यों जैसे आचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी ने पुष्पायुर्वेद नामक ग्रंथ की रचना की किन्तु वह आज अनुपलब्ध है। अत: ग्रंथकार का कहना है कि जिस क्षेत्र में व्यक्ति निवास करता है उस क्षेत्र में चिकित्सक अवश्य हो। कभी देखने में आता है कि अचानक स्वास्थ्य बिगड़ जाने पर आस-पास वैद्य, चिकित्सक के न होने पर व्यक्ति के प्राण भी शरीर से कूच कर जाते हैं। आपातकालीन स्थिति में यदि चिकित्सक आस-पास हो तो व्यक्ति के प्राणों की रक्षा भी की जा सकती है।

अगली बात निवास वहाँ करना चाहिए जहाँ पंडित हो। पं यानि पाप पकं से निवृत्त एवं पुण्य कर्म में प्रवृत्त करने वाला ड यानि डर को दूर कर, निर्भय बना उत्साहवर्द्धन कर शुभ कार्यों में प्रशस्त करने वाला। त यानि तराजू की तरह स्वयं संतुलित रहने वाला और दूसरों को संतुलित करने वाला हो।

अथवा धर्म के तत्त्व का जानकार 'पंडित' कहा जाता है। 'पंडितो धर्मतत्त्ववित्' ग्रंथकार का आशय पंडित से यहाँ मात्र शुद्ध क्रियाकांडी से नहीं अपितु बुद्धिमान्, प्रेम-वात्सल्य से युक्त, निभने और निभाने की कला से परिपूर्ण, विपत्ति या संकट के समय साथ देने वाला हो। अर्थात् व्यक्ति जहाँ निवास करता हो वहाँ उसकी संगति अच्छी हो। व्यक्ति को जैसी संगति प्राप्त होती है वह प्रायः वैसा ही हो जाता है।

किसी समय एक ब्राह्मण जो जीवन की प्रतिकूलताओं से घबराया हुआ था, अपने जीवन से हताश, उदास व निराश था। आर्थिक परिस्थिति ठीक न होने के कारण वह आत्मघात हेतु जंगल की ओर चल पड़ा। वन से गुजर ही रहा था कि अचानक उसके सामने शेर आ गया। प्रथम तो वह डर गया पुनः सोचा मरना तो है ही ऐसे ही सही। शेर भी उस ब्राह्मण को देखकर सोचने लगा बहुत दिन हो गए अब भूख शांत होगी। शेर जिस पेड़ के नीचे खड़ा था उसी पेड़ पर एक हंस पक्षी बैठा हुआ था। वह शेर के मनोभावों को समझ जाता है और कहता है "जंगल के राजा! यह आप क्या सोच रहे हैं? ये तो ब्राह्मण देवता हैं, इनसे तो आशीर्वाद लो। तुम्हारे पास जो धन आदि है उसे देकर इनकी सहायता करो।"

शेर ने हंस की बात सुनी और सोचा ठीक ही तो कह रहा है। एक बार आशीर्वाद लूँगा तो जन्मों का पाप कट जाएगा। तभी शेर इधर-उधर देखता है फिर जमीन खोदकर गजमोती निकालता है और ब्राह्मण को देता है। ब्राह्मण भी यह सब देख प्रसन्न होता है व आशीर्वाद देकर अपने घर लौट जाता है। ब्राह्मण ने उन गजमुक्ताओं को बेचा जिससे उसके पाँच साल का काम ही चला। काम धंधा तो कुछ था नहीं। अब ब्राह्मण पुनः विचार करता है और वन में शेर से मिलने चल पड़ता है।

अब कि बार जब ब्राह्मण पहुँचा तो शेर ब्राह्मण को देखते ही इधर-उधर देखने लगा। पृथ्वी खोदने लगा। किंतु इस बार पेड़ पर कौआ बैठा हुआ था। वह कहता है "शेर महाराज ! इधर-उधर क्या देखते हो। शिकार खुद चलकर आया है।" शेर बोला "किंतु ये तो ब्राह्मण देवता हैं।" कौआ बोला "अरे ! काहे के देवता। तुम तो अपनी भूख मिटाओ, क्यों मौका गँवाते हो।" इतना सुनना ही था कि वह शेर ब्राह्मण पर झपटा और उसे अपना भोजन बना लिया।

व्यक्ति जिस प्रकार की संगति करता है उसे वैसी ही सलाह मिलती है। अत: ग्रंथकार का निर्देशन है कि कौए जैसी प्रकृति के नहीं अपितु हंस जैसी प्रकृति के लोगों के साथ रहें। कौए जैसी प्रकृति के लोग उल्टी सलाह देंगे "इसे मारो, इसे पकड़ो, इसे भगाओ" जबकि हंस जैसी प्रकृति के लोग स्व-पर हितकारी सलाह देंगे। दूसरी बात सज्जनों के बीच में निवास करने से कठिनाईयाँ भी कम आती हैं। दुर्जन संभव है रोज कोई न कोई नई परेशानी खड़ी कर दें।

अंतिम बात जो ग्रंथकार कहना चाह रहे हैं वह यह कि उस क्षेत्र में रहकर व्यक्ति अच्छे कार्य कर सकता हो। अच्छे कार्यों का फल सदैव अच्छा और बुरे कार्यों का फल सदैव बुरा ही होता है। कहा भी जाता है "जैसी करनी, वैसी भरनी"। अत: कहीं निवास करने से पूर्व यह देख लेना चाहिए कि कहीं अच्छे कार्यों को करने में कोई कठिनाई तो नहीं है, यदि है तो वहाँ निवास करना उचित नहीं।

जहाँ पर उपर्युक्त सभी बातें जल, वैद्य, पंडित और अच्छे कार्यों को करने की स्वतंत्रता न हो उस स्थान पर निवास नहीं करना चाहिए।

कुशल नायक

सज्जणा जत्थ विज्जंते, हवंति तत्थ णायगा।
णयरे पडि गामे जो, हियंकरो हि णायगो॥३७॥

अर्थ:-सज्जन जहाँ विद्यमान होते हैं उनमें नायक भी होते हैं। प्रत्येक ग्राम और नगर में जो हितंकर होता है वही नायक होता है।

Where there is a community of admirable people, there are leaders also. A person who is a well-wisher or benefactor in every village or city, becomes a leader.

भावार्थ:-दो या दो से अधिक व्यक्तियों का समूह जहाँ विद्यमान होता है तो उनके माध्यम से समाज का निर्माण होने लगता है। समाज का जो शुभचिंतक है, हित रक्षक है, कुशल मार्ग निर्देशक है, साहसी है, धीर, वीर और पराक्रमी है, उदार है, कष्ट सहिष्णु है और परोपकारी है उसी व्यक्ति को समूह अपना मुखिया, नेता या राजा मानना चाहते हैं। क्योंकि वे भली भाँति जानते हैं जो नायक से रहित होता है वह समूह विनष्ट हो जाता है अथवा जिस समूह में सभी नायक बन जाते हैं वह समूह भी नष्ट हो जाता है। नीतिकारों ने लिखा भी है-

अनायकाः विनश्यंति, विनश्यंति बहुनायकाः।
स्त्रीनायकः विनश्यंति नश्यंति बालनायकः॥

अर्थात् जिस समूह का कोई नायक नहीं होता वह समूह भी नष्ट हो जाता है, जिस समूह के बहुत नायक होते हैं वह समूह भी नष्ट हो जाता है। जिस समूह का नेतृत्व स्त्री (उदारता, गंभीरता, क्षमाशीलता आदि गुणों से रहित) करती है वह समूह भी नष्ट हो जाता है और जिस समूह का नायक बालक (बोध रहित) होता है वह भी नष्ट हो जाता है।

एक छोटे ग्राम में रहने वाला गाँव का मुखिया गाँव के हित का ख्याल रखता है। एक छोटे से परिवार में रहने वाला मुखिया परिवार का ध्यान रखता है। समान गुण धर्म व्यवहार और स्वभाव वाले समूह का मुखिया अपने समूह का ध्यान रखता है तभी तो मुखिया के अनुयायी, अनुशासित उसे अपने प्राणों से ज्यादा सम्मान देते हैं और हृदय कमल पर स्थापित करके रखते हैं। किंतु आदर्श मुखिया वही माना जाता है जो मुख की तरह से अपने समूह का पालन पोषण करता है। कहा भी है-

मुखिया मुख सो चाहिए, खान-पान को एक।
पाले पोसे सकल जग, तुलसी सहित विवेक॥

मुख यदि रोगी हो जाए तो पूरा शरीर ही अस्वस्थ हो जाएगा क्योंकि वह संपूर्ण शरीर को उचित मात्रा में भोजन पान न दे सकेगा। शरीर के रोगी होने पर भी अधिकांश औषधियाँ मुख से ही खायी जाती हैं। लोगों को देखने में आता है कि मुख मीठा खाता है किंतु शरीर के अन्य अंगों के रोगों का अपहरण करने के लिए मुख को कड़वा खाना पड़ता है। मुख कड़वा खाकर शरीर के सब अंगों को स्वस्थ रखता है। मुख सुंदर, आकर्षक, सरल-सहज होता है तब पूरा शरीर सम्मान पाता है। जिस प्रकार चेहरे पर देखने के लिए आँख, सोचने के लिए मस्तिष्क, बोलने के लिए जिह्वा, सूंघने के लिए नाक, सुनने के लिए कान, रसास्वादन करने के लिए रसना होती है उसी प्रकार एक मुखिया में ये सभी गुण विद्यमान होते हैं।

रसना भले ही कितने इष्ट-मिष्ट रसों का पान करे किन्तु उससे मिलने वाली शक्ति या उसका फल केवल रसना ग्रहण नहीं करती अपितु शरीर के सब अंगों को दे दिया जाता है। मुखिया तो वृक्ष की जड़ों की तरह से होता है जिस प्रकार वृक्ष की जड़ें भूमि के गर्भ में

विद्यमान खाद्य तत्त्व जल आदि को ग्रहण कर संपूर्ण वृक्ष में भेज देती हैं वैसे ही मुखिया भी लोक में विद्यमान समस्त अच्छाईयों को, गुणों को ग्रहण करके संपूर्ण प्रजा तक पहुँचा देता है।

संपूर्ण शरीर का सम्मान, भाल पर तिलक लगाकर या मुख में मीठा खिलाकर किया जाता है उसी प्रकार देश, राज्य, ग्राम और नगर का सम्मान उसके मुखिया का सम्मान करके किया जाता है। सबका पालन-पोषण करने वाला, सबके हित का ध्यान करने वाला मुखिया होता है। जो उसके स्वयं के लिए, उसके साथियों के लिए एवं सभी के लिए हितकारी होता है।

जंगल में एक तालाब के किनारे विशाल वृक्ष उगा था। उसकी लंबी-लंबी टहनियाँ और मोटी जड़ें दूर-दूर तक फैली हुई थीं। सारी टहनियाँ फूल-पत्तियों से भरी हुई थीं। जब हवा चलती तो वृक्ष झूम उठता। अपनी सुगंध से वह सभी का मन मोह लेता। उसे अपने पर बड़ा घमंड था। वह स्वयं को वृक्षों का राजा समझता था। अनेक पक्षियों ने उस पर अपने घोंसले बना रखे थे। वृक्ष अपने सुंदर रूप और आकार को देखकर मन ही मन मुस्कुराता रहता।

कुछ दिन बाद वृक्ष ने देखा कि उसके आस-पास कई नए-नए पौधे उग आए हैं। वृक्ष को यह अच्छा नहीं लगा। उसने सोचा कि कल ये पौधे बड़े हो जाऐंगे और मुझे चुनौती देने लगेंगे। वह नहीं चाहता था कि कोई उसका सुख बाँटे।

एक दिन तेज हवा चली। वृक्ष ने अपनी शाखाओं को खूब जोर से हिलाया। जोर-जोर से हिलती डालियों ने वृक्ष के पास उगे कई पौधों को मसल डाला। घायल छोटे पौधे बहुत दु:खी हुए। इतना ही नहीं बड़े वृक्ष ने अपने पास की जमीन से अपनी जड़ों द्वारा छोटे वृक्षों का भोजन एवं पानी भी सोख लिया। भूख तथा प्यास से बेहाल होकर

पौधे मुरझा गए। कुछ दिन में वे सूखकर समाप्त हो गए। बड़ा वृक्ष बहुत खुश हुआ। अब उसका एकछत्र राज्य था।

तालाब के दूसरे किनारे पर एक दूसरा वृक्ष उगा हुआ था। वह इतना विशाल तो नहीं लेकिन खूब हरा-भरा था। उस पर भी पक्षियों के घोंसले थे। हवा चलती तो वृक्ष खूब झूमता। कुछ दिन बाद उसके नीचे भी अनेक पौधे उग आए। नन्हें-नन्हें पौधों को देखकर वह वृक्ष बहुत खुश हुआ। बसंत के महीने में उन नए पौधों की कोंपलें देखकर वह फूला न समाता। तेज हवा में अपनी डाली को उन नन्हें पौधों से बचा-बचा कर हिलाता ताकि कोई पौधा टूट न जाए। स्वयं गहरी धरती से अपने लिए भोजन व पानी लेता और ऊपर का भाग नन्हें पौधों के लिए छोड़ देता जिससे कि उनकी छोटी-छोटी जड़ें उस हिस्से से पर्याप्त मात्रा में भोजन व जल ग्रहण कर सकें। वह वृक्ष नन्हें पौधों को अपने बच्चों की तरह प्यार करता था।

वक्त गुजरा। पहले वाले बड़े वृक्ष के आस-पास की जमीन खाली हो गई। बरसात में मिट्टी कटने लगी। उसने मिट्टी को अपनी जड़ों से रोकने की बहुत कोशिश की किन्तु मिट्टी नहीं रुकी और वृक्ष गिर पड़ा। दूसरी ओर जिस वृक्ष के निकट नन्हें-नन्हें पौधे उग आए थे। उसकी छोटी-छोटी जड़ों ने आपस में एक-दूसरे से लिपटकर दीवार सी बना ली और मिट्टी को मजबूत जकड़े रखा। अब गिरने का कोई डर नहीं रहा। वह वृक्ष भी सुरक्षित रहा और अन्य पौधे भी।

आशय यह है कि जहाँ मुखिया अपने अधीनस्थों के हित का ध्यान रखता है उनका सम्यक् पालन करता है वही नायक होता है और ऐसा समूह ही उन्नति को प्राप्त करता है।

सुयोग्य निर्णायक

विणयसील-णिप्पक्खो, विण्णाणी य दयाजुदो।
णिस्संक-धीर-गंभीरो, णिण्णायगो हु पंडिदो॥३८॥

अर्थ:-निष्पक्ष, विनयशील, विज्ञानी, दयायुक्त, नि:शंक, धीर, गंभीर निश्चय से कुशल निर्णायक है।

A Judge who is impartial, humble, endowed with special and great knowledge or jurisprudence and who is merciful, trusting, patient and serious, is an ideal.

भावार्थ:-पंडित का अर्थ है पंडा से सहित। पंडा का अर्थ है बुद्धि। बुद्धिमान् को ही पंडित कहा जाता है। प्रस्तुत छंद के माध्यम से ग्रंथकार निर्णायक का लक्षण बता रहे हैं। निर्णायक के लक्षण में पंडित विशेषण को प्रधानता दे रहे हैं। पंडित पवित्र चर्या वाला, शुद्ध क्रियाकांडी एवं प्रभु उपासक, गुरु सेवक और आदर्श कर्त्तव्यनिष्ठ होता है। ग्रंथकार न्यायाधीश को भी इसी प्रकार का मान रहे हैं। न्यायाधीश के अन्य लक्षणों का कथन करते हुए आचार्य महोदय कह रहे हैं कि निर्णायक को निष्पक्ष होना जरूरी है। जो पक्षपात से सहित है वह कभी आदर्श निर्णायक नहीं हो सकता। पक्ष वादी-प्रतिवादी का होता है निर्णायक का तो एक ही पक्ष होता है, सत्य की पुष्टि और सबके हित का संरक्षण व संवर्द्धन।

न्यायाधीश न्याय का देवता होता है। न्याय के स्वामी द्वारा कभी अन्याय का संपोषण नहीं होता और न ही होना चाहिए। यदि न्यायाधीश ही क्वचित्-कदाचित् अन्याय का पोषण करने लगे तो न्याय जीवित कैसे रह सकता है। सामान्य मानव न्यायाधीश को दूसरा भगवान मानते हैं। जैसे भगवान कभी किसी के साथ अन्याय नहीं करता वैसे ही न्यायाधीश अपनी प्रतिष्ठा को उसी प्रकार बनाए रखें।

न्यायाधीश को विनम्र होना चाहिए। वह अहंकारी, मदोन्मत्त, क्रोधी, मायाचारी व लोभी नहीं होना चाहिए। उसकी प्रत्येक क्रिया व प्रवृत्ति आदर्श रूप ही होना चाहिए तभी लोगों का उनके प्रति सहज विश्वास व समर्पण जाग्रत होता है। न्यायाधीश को विशिष्ट ज्ञानी होना चाहिए, वह हर मामले को अपनी बुद्धि, विवेक, तर्क और युक्तियों के माध्यम से सूक्ष्म दृष्टि से देखे, सत्य की सतह तक पहुँचने का प्रयास करे। विशिष्ट ज्ञान से रहित सामान्य पुरुषों की तरह ही भावुक और कमजोर दिल न हो। विशिष्ट ज्ञान का आशय यहाँ यह भी है कि वह वादी और प्रतिवादी के शब्द ही नहीं उनके भावों तक पहुँचने का प्रयास भी करे।

कई बार निर्णय भावनाओं के आधार पर भी किए जाते हैं और कई बार निर्णय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार भी किए जाते हैं, इस प्रकार के निर्णय विशेष ज्ञानी न्यायाधीश ही कर सकता है। अभयकुमार के विषय में आता है कि वह बहुत बुद्धिमान था। क्लिष्ट से क्लिष्ट मामलों को भी वह अपनी बुद्धिमत्ता और विशेष ज्ञान से सुलझा दिया करता था। एक बार दो महिलाएँ रोती हुईं राजदरबार में आईं। समस्या यह थी कि पुत्र एक था और माँ दो अर्थात् वे दोनों स्वयं को पुत्र की माँ बता रही थीं। सभी लोग आश्चर्य में पड़ गए आखिर सही-गलत का निर्णय कैसे लिया जाए। जब किसी भी प्रकार से निर्णय नहीं लिया जा सका तब अभयकुमार ने तलवार निकाली और कहा मैं अभी इसके दो टुकड़ें किए देता हूँ।'' यह सुनते ही उसकी असली माँ की चीख निकल पड़ी और बोली'' यह मेरा पुत्र नहीं है, इसी को दे दो, यह ही इसकी माँ है।'' माँ की ममता स्नेह देखकर वह अभयकुमार शीघ्र समझ गया कि उसकी असली माँ ये ही है इस प्रकार संपूर्ण राज्य में उसके न्याय की बहुत प्रशंसा हुई।

न्यायाधीश अपनी बुद्धिमत्ता से, विवेक से विशेष ज्ञान से सही निर्णय को देने में समर्थ हो।

न्यायाधीश को सत्य के प्रति जितना कठोर या दृढ़ निश्चयी होना चाहिए उतना ही प्राणी मात्र के प्रति दयालु भी होना चाहिए। सदैव कठोरता हित करने में समर्थ नहीं होती। न्यायाधीश न्याय का देवता बनकर जब न्याय की गद्दी पर बैठता है तब उसका संकल्प सत्य की, धर्म की या प्रजा के हित की रक्षा करने का होता है। उस समय उसे किसी भी प्रकार का भय नहीं हो, वह निःशंक होकर के अपना यथार्थ निर्णय सुनाये चाहे उसके प्रतिफल में उसे किसी संघर्ष का सामना भी करना पड़े तब भी वह न्याय, सत्य व धर्म को न छोड़े।

न्यायाधीश को निर्णय देने में उतावलापन भी नहीं दिखाना चाहिए। अधिवक्ताओं की बात को धैर्यपूर्वक सुनना चाहिए। अधीर न्यायाधीश संपूर्ण बात को सुनने में असमर्थ होता है और संपूर्ण बातों को सुने बिना निर्णय सत्य से दूर ही रहते हैं कदाचित् वे निर्णय सत्य भी हों तब भी वादी-प्रतिवादी उससे संतुष्ट नहीं होते। न्यायाधीश को उथली नदी की तरह से चंचल बुद्धि नहीं होना चाहिए अपितु मर्यादा में रहने वाले समुद्र की तरह से गंभीर होना चाहिए जिसमें अनेक चंचल नदियाँ समा सकें। गंभीर समुद्र में ही रत्नों का वास होता है, चंचल नदियों में नहीं।

अतः ग्रंथकार की दृष्टि में निर्णायक के ये मुख्य गुण कहे इसके अतिरिक्त निर्णायक में और भी बहुत से गुण होते हैं किंतु विस्तार भय से उसकी यहाँ व्याख्या नहीं की जा रही है।

अधिवक्ता कैसा हो ?

अहिवत्तू गुणी णाणी, तक्क-जुत्ति-दया-जुदो।
सो वाय-पडिवायस्स, णासगो सच्च-भासगो॥३९॥

अर्थ:-अधिवक्ता गुणी, ज्ञानी, तर्क युक्ति से सहित हो। वह वाद-परिवाद का हंता एवं सत्य व दया से युक्त हो।

A lawyer should be virtuous, wise, dialectic, rational and logical, destroyer of controversy and objection, truthful and merciful.

भावार्थ:-हर व्यक्ति अपनी बात को कहने में समर्थ नहीं होता। जब कभी दो व्यक्तियों में विवाद हो जाता है तब दोनों पक्षों को ये लगता है कि मैं सही हूँ किंतु सत्य का निर्णय तो न्यायाधीश ही कर सकता है। न्यायाधीश को सामान्य व्यक्ति की बात समझाने के लिए अधिवक्ता की आवश्यकता होती है। अधिवक्ता अपने पक्षकार की बात को युक्ति और तर्क के साथ प्रस्तुत करता है। न्यायाधीश दोनों की बात को मनोयोगपूर्वक सुनता है, दोषीक पक्षकार को खोजने की चेष्टा करता है।

दोनों पक्ष के पक्षधर अधिवक्ता अपने-अपने पक्ष को निर्दोष सिद्ध करना चाहते हैं किंतु न्यायाधीश सत्य की तह तक पहुँचने का पूरा प्रयास करता है। अधिवक्ता गुणों के पिंड रूप हो, दोष गुणों को ढाँक देते हैं इसीलिए गुणी अधिवक्ता ही सर्वमान्य व लोकप्रिय होता है। गुणी से आशय विवेकशील, बुद्धिमान, वाक् पटु, सत्य का पक्षधर, मानवता का प्रेमी, धर्म का संपोषक, नीति न्याय सदाचार का संरक्षक, सुखद नीति और रीतियों का संस्थापक व आत्म संतोषी एवं प्रजा का हितैषी है। कुशल अधिवक्ता वह होता है जो अपनी मर्यादा का कभी उल्लंघन नहीं करता।

आदर्श अधिवक्ता धन और साधन का लोभी नहीं होता अपितु सत्य धर्म और सदाचार का वांछक होता है। गाँधी जी के विषय में आता है कि वे वैरिस्टर थे। वकालत जैसे व्यवसाय जिसमें कि प्राय: कहा जाता है कि वकील काला कोट पहनकर सफेद झूठ बोलते हैं, गाँधी जी ने सत्य का प्रयोग किया और यह सिद्ध कर दिया कि वकील सत्य का प्रहरी है। वह न्याय के लिए लड़ता है। न्याय के लिए असत्य का सहारा अपेक्षित नहीं है। अफ्रीका में गाँधी जी के पास एक कर चोरी का केस आया। गाँधी जी पैरवी कर रहे थे। परंतु गाँधी जी को पता चला कि उनके मुवक्किल ने वास्तव में कर चोरी की है और वह छिपाकर निर्दोष सिद्ध होना चाहता है। गाँधी जी दूसरे ही दिन अपने मुवक्किल के पास पहुँचे और कहने लगे मैं आपके मुकदमें की पैरवी नहीं कर सकता। आपका चोरी का अपराध सिद्ध हो रहा है आपको बहुत ही भयंकर सजा मिलने की संभावना है। अत: इससे बचने का एक ही उपाय है सत्य की शरण। आप अपना अपराध स्वीकार कर लें। मेरा विश्वास है कि इससे आपको सजा तो होगी, पर बहुत मामुली। घबराये हुए मुवक्किल ने गाँधी जी की सलाह मानकर सत्य की शरण स्वीकार की।

गाँधी जी ने अदालत में अपने मुवक्किल की ओर से कहा-मेरे मुवक्किल ने कर चोरी की है, इसके लिए उसके मन में पश्चाताप है वह अपनी गलती स्वीकार करता है। गाँधी जी के इस सत्य बयान पर सभी वकील चकित रह गये कि यह अपने ही क्लाइंट को फँसा रहे हैं। परंतु मजिस्ट्रेट पर गाँधी जी की सत्यवादिता का अद्‌भुत प्रभाव पड़ा। उसने उनसे प्रभावित होकर जितने कर की चोरी थी उससे दुगने अर्थदण्ड की सजा देकर मुक्त कर दिया। मुवक्किल ने सजा स्वीकार कर ली और अर्थदण्ड भर देने के बाद एक बड़े कागज में कर चोरी का ब्यौरा लिखा तथा नीचे सूचना लिखी कि भविष्य में मेरी फर्म में

कोई किसी प्रकार की कर चोरी न करे। उस कागज को शीशे में मढ़वाकर उन्होंने अपनी फर्म में टँगवा दिया।

श्रेष्ठ अधिवक्ता यह नहीं चाहता कि मेरे पास अधिक से अधिक वाद विवाद आएँ अपितु वह सदैव यही चाहता है कि वाद-विवाद कभी भी-कहीं भी हो ही नहीं अपितु वे आपस में संवाद करें और यह स्याद्वाद के द्वारा ही संभव है वस्तु के अनेक धर्मों को जानने वाला ही स्याद्वादी हो सकता है। स्याद्वाद का अर्थ है स्यात् यानि कथंचित् वाद यानि कथन। प्रत्येक कथन कथंचित् सत्य है प्रत्येक द्रव्य या वस्तु में अनंत धर्म, गुण या विशेषताएँ पाई जाती हैं इसे ही अनेकांत कहते हैं अथवा सम्यक् एकांतों का समूह ही अनेकांत कहलाता है।

बिना स्याद्वाद के अनेकांत का कथन नहीं किया जा सकता अतः यह स्याद्वाद समस्त विवादों को निपटाने वाला है।

अधिवक्ता तार्किक बुद्धि वाला हो, युक्ति-युक्त वचन को कहने वाला, सुनने वाला और समझने वाला हो, क्योंकि युक्ति और तर्क से रहित अधिवक्ता गुण और दोष की सही समीक्षा करने में असमर्थ होता है। वर्तमान में कुछ अधिवक्ता दोषयुक्त भी देखे जाते हैं जिनकी प्रवृत्ति को देखकर लोग इस प्रकार का व्यंग कसते हैं-

उल्टी को सीधी करे, सीधी दे उल्टाय।
रार करे और धन हरे, सो वकील कहलाय॥

किंतु यह सर्वथा सत्य नहीं है। हमने कुछ ऐसे आदर्श अधिवक्ता भी देखे हैं जो परहित करने के लिए सदैव तत्पर रहते हैं, वाद विवादों को बढ़ाते नहीं, घटाते हैं तथा किसी भी कार्य के निर्णय में अनावश्यक विलम्ब करने की चेष्टा नहीं करते। अधिवक्ता तार्किक, बुद्धिमान् एवं वाक् पटु होते हुए भी करुणा और दया की भावना का

किंचित् भी परित्याग नहीं करता। उसके चित्त में प्राणी मात्र का हित करने की भावना रहती है।

जिस प्रकार बादशाहित शासन प्रणाली में पेशकार, दंडनायक के सामने मुजरिम की बात को प्रस्तुत करते थे, राजा व मंत्री सब सुनते थे एवं उस समय प्राय: करके सभी निर्णय सत्य की रक्षा हेतु ही दिये जाते थे। आज भी न्याय की वह पद्धति थोड़े से बदलाव के साथ ज्यों की त्यों संचालित है। वर्तमान काल में कुछ अधिवक्ता सत्य की रक्षा के लिए मन, वचन, काय से पूर्ण समर्पित हैं। वे न घर की परवाह करते हैं और न ही अपनी जान को जोखिम में डालने की चिंता करते हैं। न्याय दिलाना ही उनका प्रधान लक्ष्य होता है और यह समीचीन लक्ष्य ही उनके पद के प्रति समर्पण को व्यक्त करता है।

अत: अधिवक्ता को सत्य, दया, ज्ञान, तर्क-युक्ति से सहित एवं वाद-परिवाद को समाप्त करने वाला होना चाहिए।

वैद्य के लक्षण

विहीए य विसेसाणं, ओसहीणं सुजाणगो।
दयाजुत्तो हु णिस्संको, गुणी वेज्जो णिरालसो॥४०॥

अर्थ:-निश्चय से विशेष और श्रेष्ठ विधिपूर्वक औषधियों का सुज्ञाता, दया युक्त, निःशंक, आलस्यरहित ही गुणवान वैद्य होता है।

A doctor should be well versed in the knowledge of every type of medicine, merciful, trustworthy, patient and virtuous.

भावार्थ:-राष्ट्र में सुख-शांति की स्थापना करने में वैद्य या चिकित्सकों का योगदान भी अविस्मरणीय है। राजा के महलादि में भी वैद्य होते थे जिन्हें राजवैद्य के नाम से जाना जाता था। राजपरिवार के सभी सदस्यों को स्वस्थता प्रदान करना इनका दायित्व था। सामान्य प्रजा के लिए भी चिकित्सालय, औषधालयों की व्यवस्था रहती थी। वैद्यों के माध्यम से, उनकी चिकित्सा के माध्यम से कितने ही लोगों ने मानों नव जीवन ही प्राप्त किया है। अभय दान या प्राण दान देने वाले इन वैद्य-चिकित्सकों में लोग भगवान का रूप भी देख लेते हैं।

हेतुलिंगौषधीमिर्यो व्याधीनां तत्त्वनिश्चयम्।
साध्यासाध्यं विदित्तोपक्रमते स भिषक्स्मृतः॥

जो कारण, लिंग (लक्षण) तथा औषध-ज्ञान द्वारा रोगों की पहचान एवं साध्यता और असाध्यता जानकर चिकित्सा करता है, उसे वैद्य कहते हैं।

राष्ट्र शांति महायज्ञ में भूमिका निभाने वाले वैद्य या चिकित्सकों के गुणों का वर्णन ग्रंथकार यहाँ कर रहे हैं क्योंकि गुणों से ही गुणी की पहचान होती है। गुणी तो नष्ट हो जाता है किंतु गुण कभी नष्ट नहीं होते। सर्वप्रथम वैद्य सभी प्रकार की औषधियों का ज्ञानी हो। वे

सामान्य या विशेष औषधियाँ किन-किन रोगों में, कितनी मात्रा में और किस प्रकृति वाले मनुष्य के लिए उपयोगी हैं अथवा किस प्रकार घातक भी हो सकती हैं इसका संपूर्ण ज्ञान वैद्य या चिकित्सक को होना चाहिए। अधूरा ज्ञान खतरनाक होता है अत: यहाँ संपूर्ण ज्ञान की बात कही।

कभी-कभी अज्ञान के कारण दी गई औषधि रोगी के लिए प्राणघातक हो सकती हैं। अत: वह औषधि का पूर्ण जानकर हो और कितनी मात्रा में देनी है यह भी अवश्य जानता हो। सब प्रकार के लोगों को एक ही मात्रा नहीं दी जा सकती क्योंकि सबके शरीर की प्रकृति, स्थिति, सहनशीलता अलग-अलग होती है। वह चिकित्सक प्रथमत: उस रोगी को पूर्णत: समझे तब उपचार प्रारंभ करे वर्ना उसकी औषधि ही नए रोग का कारण बन सकती है। अत: पूर्णत: सावधान रहे।

वह वैद्य लक्षणों आदि के माध्यम से रोग को पकड़ने में समर्थ हो, बिना रोग ज्ञात किए उसका उपचार नहीं किया जा सकता। अत: कुशल चिकित्सक या वैद्य के लिए आवश्यक है वह रोग और रोगी को पूर्णत: समझकर उपचार आरंभ करे।

अगली बात कही वह दया युक्त हो। करुणा, रहम, दया का भाव रखते हुए रोगी का उपचार करता हो, क्योंकि उसकी वे निर्मल भावनाएँ रोगी को शीघ्र स्वस्थता प्रदान करेंगी। दयावान् चिकित्सक का प्रथम उद्देश्य रोगी को स्वस्थ करना होगा, न कि कुछ और। उसकी अनुकूल प्रतिकूल परिस्थितियों को समझकर वह सम्यक् प्रकार से उसका उपचार करेगा। रोगी का कष्ट कम करने का प्रयास करेगा और उपचार करने में अत्यधिक कष्ट न हो यह देख-रेख भी करुणावान् वैद्य कर सकता है।

वैद्य निःशंक हो। यदि उपचार करने में वह निःशंक न हो तो उसे कुशल वैद्य किस प्रकार समझा जा सकता है। रोग और रोगी को पूर्णतया जानने के पश्चात् उसका शंका से रहित हो उपचार करे। उसे स्वयं पर, अपनी औषधियों पर विश्वास हो। यदि उसे ही अपने उपचार में शंका हो तो रोगी की कुशलता किस प्रकार संभव है। वह निर्भीक होकर, निःशंक होकर रोगी का उपचार करे। उसे विश्वास हो कि मेरे द्वारा प्रदत्त उपचार रोगी को शीघ्र ही स्वस्थ कर देगा।

वह निर्लोभी हो। व्यक्ति के प्राणों से ज्यादा मूल्यवान् और कोई वस्तु नहीं। उसका पहला उद्देश्य रोगी के प्राणों की रक्षा करना हो। लोभ में पड़कर जो रोगी का उपचार न करे वह कुशल चिकित्सक की श्रेणी में तो अपना स्थान नहीं रख सकता। इसलिए अहिंसक भावों के साथ कि "हे प्रभु यदि इसकी आयु अभी शेष है तो मैं इसके प्राणों की रक्षा कर सकूँ" रोगी का उपचार करे। वैद्य की प्रसन्न मुद्रा और मिष्ट वाणी रोगी का आधा रोग तो स्वयं दूर कर देती है। स्वयं भी न घबराये और रोगी को भी तनावमुक्त रखे। इस प्रकार गुणों से युक्त वह वैद्य प्राणियों को रोगमुक्त जीवन देता है।

चिकित्सक आलस्य से रहित हो। आलस्य प्राणी का सबसे बड़ा शत्रु है अतः उसका परित्याग कर देना चाहिए। वैद्य को भी जागरूक होना चाहिए। उनकी एक लापरवाही, एक बार का प्रमाद किसी के प्राणों का भी घात कर सकता है। प्रमाद से औषधि का कम-ज्यादा दिया जाना या रोगी की गंभीरावस्था होने पर भी प्रमाद से यह कह देना कि थोड़ी देर से देखूँगा अथवा शल्य चिकित्सा के समय किया गया प्रमाद अक्षम्य होता है। अतः प्रमाद का त्याग कर वैद्य को रोगी का उपचार करना चाहिए। यदि प्रयत्न पूर्वक उपचार करने पर भी रोगी के प्राण चले जाऐं तब वैद्य को पापार्जन नहीं होता क्योंकि उसकी भावना रोगी को स्वस्थ करने की थी।

जो व्यक्ति जिस पद पर आसीन है अथवा जो जिस भार को वहन कर रहा है उसमें तदुपयुक्त गुणों का होना आवश्यक है। अत: यहाँ डॉक्टर, वैद्य या चिकित्सक के गुणों को कहा।

वणिक् के गुण

भोगी य सुट्ठु -वत्थूणं, सुट्ठु-वत्थु-पदायगो।
णायप्पियो हियाकंखी, वणिओ सच्च-भासगो॥४१॥

अर्थ:-वणिक् अर्थात् व्यापारी स्वयं श्रेष्ठ वस्तुओं का भोगी हो एवं श्रेष्ठ वस्तुएँ ही प्रदान करता हो, न्यायप्रिय, हिताकांक्षी व सत्यवादी हो।

A trader should be a consumer of best things and giver of best things. He should be just, truthful and a well wisher.

भावार्थ:-एक वस्तु लेकर दूसरी वस्तु प्रदान करना वस्तु विनिमय तथा मुद्रा लेकर वस्तु प्रदान करना मुद्रा विनिमय है। यह ही व्यापार कहलाता है और व्यापार करने वाला वणिक् अथवा व्यापारी कहलाता है। जीविकोपार्जन हेतु वणिक् व्यापार करता है उस वणिक् के गुणों को यहाँ कहते हैं। वह स्वयं श्रेष्ठ वस्तुओं का भोगी हो। अच्छी-श्रेष्ठ वस्तुओं का जानकार हो, उन्हीं को पसंद करता हो व उन्हीं का प्रयोग करता हो। जो स्वयं के लिए अच्छी वस्तु नहीं ले सकता वह दूसरों को अच्छी वस्तु कैसे प्रदान करेगा। जिसे श्रेष्ठ वस्तुएँ पसंद हों वह प्रयास करेगा कि सामने वाले को भी श्रेष्ठ वस्तु प्रदान करे।

व्यापारी सभी को श्रेष्ठ वस्तु प्रदान करने वाला हो। जो सामान दूसरों के लिए हानिकारक हो, कीड़ा घुन आदि लग गया हो, खराब हो गया हो ऐसा सामान व्यापारी को अपने ग्राहक को छल से नहीं देना चाहिए। जो श्रेष्ठ सामान वह स्वयं के लिए प्रयोग करता हो वही सामान सामने वाले को दे।

व्यापारी न्यायप्रिय हो। न्यायप्रिय से यहाँ आशय है कि वह सामान देने लेने में कम-ज्यादा न करता हो। उचित मूल्य में ही लेता और देता हो। रायचंद्र जैन जो कि हीरे-जवाहरातों का व्यापार करते थे

एक बार उनके पास रत्नादि आए जो कि उन्होंने मँगाए थे। उन्होंने वे रत्न ग्रहण किए और उस पर लिखा मूल्य देखा तो माल के अनुसार वह मूल्य आधा लिखा हुआ था। उन्होंने उस व्यक्ति से पुछवाया कि उस माल की कीमत कितनी है। उस व्यक्ति ने कहा कि हमने लिखकर भेज दिया है। रायचंद्र जी ने कहा दोबारा बतायें। उस व्यक्ति ने फिर वही कीमत बतायी जो लिखकर भेजी थी। रायचंद्र जी ने कहा फिर तो मैं तुम्हारा माल नहीं खरीद सकता। उस व्यक्ति ने पूछा ऐसा क्यों, क्या कमी है रत्नों में। रायचंद्र जी ने कहा कि आप जो मूल्य बता रहे हैं उससे दुगुनी कीमत है आपके द्वारा भेजे गए रत्नों की। पुनः रायचन्द्र जी ने उस व्यक्ति को उसकी गणना संबंधी भूल से अवगत कराकर पूरी कीमत देकर रत्नों को ग्रहण किया।

इसी प्रकार एक बार रायचंद्र जी ने किसी व्यक्ति के साथ कॉन्टेक्ट साइन किया। कुछ ही दिनों में माल की कीमत बढ़ जाने से वह व्यक्ति उस कॉन्टेक्ट को पूरा करने में स्वयं को असमर्थ समझने लगा क्योंकि उसकी पूर्ति वह अपना घर, दुकान बेचकर भी नहीं कर सकता था। वह व्यक्ति अत्यंत तनाव के कारण रायचंद्र जी के पास नहीं पहुँचा। रायचंद्र जी ने जब देखा कि कुछ दिनों से वह व्यक्ति उनके पास नहीं पहुँचा तो वे स्वयं उसके घर चल दिए। घर पहुँचकर दरवाजा खटखटाया, वह व्यक्ति बाहर आया और रायचंद्र जी को देखकर आश्चर्यचकित रह गया। वह तुरंत रायचंद्र जी के चरणों में पड़ गया और बोला ''मुझसे जैसे बनेगा वैसे या अपनी संपूर्ण संपत्ति को बेचकर भी इस समझौते को पूरा करूँगा।''

रायचंद्र जी ने कहा मैं उन कागजों को देखना चाहता हूँ। वह व्यक्ति घबराता हुआ समझौते के कागजों को लाया। रायचंद्र जी ने वे कागज उसके हाथ से लिए और उसके सामने फाड़ते हुए बोले ''मैं रायचंद्र एक जैन हूँ, मैं दूध तो पीना जानता हूँ परंतु किसी का खून पीना नहीं जानता। आचार्य भगवन् कहते हैं कि जहाँ व्यापार न्यायपूर्वक

न हो, खरीदने-बेचने के बाँटों में अंतर हो वहाँ व्यापार नष्ट हो जाता है।

वर्ग विद्वान् ने लिखा है-

गुरुत्वं च लघुत्वं च तुलामानसमुद्भवम्।
द्विप्रकारं भवेद्यत्र वाणिज्यं तत्र नो भवेत्॥

जिस राज्य में तराजू और तोलने-नापने के बाँट बड़े-छोटे रक्खे जाते हैं, वहाँ पर व्यापार नहीं होता।

हारीत विद्वान् भी इस प्रकार कहते हैं-

वणिग्जनकृतो योऽर्थोऽनुज्ञातश्च नियोगिभिः।
भूपस्य पीडयेत् सोऽत्र तत्स्थानागन्तुकानपि॥

व्यापारियों द्वारा मूल्य बढ़ाकर संचित किया हुआ और राज कर्मचारियों द्वारा रिश्वत में इकट्ठा किया हुआ धन वहाँ की जनता और बाहर से आये हुए लोगों को निर्धन दरिद्र बना देता है।

व्यापार छोटा हो या बड़ा किंतु न्यायप्रियता व्यापारी को आत्मसंतुष्टि और उन्नति प्रदान करती है। दूसरे के हित की वांछा करने वाला व्यापारी ग्राहकों के साथ धोखा नहीं कर सकता, नाप-तौल में कमी नहीं कर सकता। वह ग्राहक को अच्छी वस्तुएँ, अच्छी सलाह ही प्रदान करेगा। व्यापार का अर्थ उचित मूल्य में वस्तु का आदान प्रदान करना होता है। व्यापारी लोभ-लालच में न पड़कर उचित कार्य करे। व्यक्ति जीवन में चाहे कुछ भी बने परंतु सर्वप्रथम वह एक अच्छा व नेक इंसान बने। क्योंकि आदर्श व्यक्ति कहीं भी पहुँच जाए वह बुराइयों को कदापि स्वीकार नहीं करेगा।

व्यापारी की सत्यवादिता ग्राहक को संतुष्टि प्रदान करती है। ऐसा करने में हो सकता है प्रारंभ में उसे कठिनाइयों का सामना करना पड़े

परंतु बाद में ग्राहकों का विश्वास उसके लिए महत्त्वपूर्ण अस्त्र की भाँति काम करता है। उन्हें भी पता चल जाएगा कि यह दुकानदार झूठ नहीं बोलता तब वे स्वयं उस वणिक् से ही वस्तुएँ लेने को तत्पर होंगे। ऐसे व्यापारी देश में शांति की स्थापना करने में योगदान प्रदान कर सकते हैं। अन्याय, अनीति, भ्रष्टाचार को खदेड़कर देश से बाहर कर सकते हैं।

जागरुक किसान

जागरूगो य णिब्भीओ, दयाजुत्तो परिस्समी।
वच्छलभाव-संजुत्तो, किसीवलो हु उज्जमी॥४२॥

अर्थ:-किसान जागरूक, निर्भीक, दया युक्त, परिश्रमी, वत्सल भाव से युक्त व उद्यमी हो।

A farmer should be perceptive, fearless, merciful, hard worker, affectionate and energetic.

भावार्थ:-प्रथम तीर्थंकर श्री आदिनाथ स्वामी ने षट्कर्मों का उपदेश दिया। असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प। इनमें असि, मसि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प पाँचों कर्म कृषि पर निर्भर हैं। आचार्य भगवन् श्री समंतभद्र स्वामी ने वृहत् स्वयंभू स्तोत्र में भगवान आदिनाथ की स्तुति करते हुए कहा है-

प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषु,
शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः।

प्रजापति भगवान् आदिनाथ ने जीवन की इच्छा रखने वाली प्रजा को कृषि-कर्म में शिक्षित किया।

आचार्य भगवन् श्री जिनसेन स्वामी ने आदिपुराण में भी उल्लिखित किया है।

कृष्यादि कर्मषट्कं च सृष्टा प्रागेव सृष्टिवान्।
कर्मभूमिरयं तस्मात्तदासीत्तद्व्यवस्थया॥

उन्होंने कृषि का विशद अर्थ करते हुए बताया **कृषिर्भूकर्षणे प्रोक्ता**-पृथ्वी के विलेखन को कृषि कहते हैं। जैसे अनार को चीरने से उसमें से रसपूर्ण दाने निकलते हैं उसी प्रकार पृथ्वी को हलमुख से विदीर्ण करने और उसमें बीज बोने से प्राणरक्षक अन्न की प्राप्ति होगी।

कृषि का यह उपदेश केवल अन्नोत्पादन शिक्षा हेतु नहीं था बल्कि इसमें एक सात्विक रहस्य भी था कि अन्नाभाव में यदि भक्ष्याभक्ष्य का विवेक लुप्त हो गया तो यह बहुत ही भयंकर होगा क्योंकि अन्न की समस्या मनुष्य के प्राणों की समस्या बन जाती है। अन्न के अभाव में मनुष्य में चारित्र का अभाव उत्पन्न हो सकता है। किसी नीतिकार ने कहा है कि-**''सर्वारंभास्तंडुलप्रस्थमुलाः''** एक मुट्ठी अन्न के लिए संसार भर के कार्यकलाप चलते हैं। विह्लण कवि ने राजतरंगिणी में कहा है-**'दुर्भिक्षेण जनक्षयः'** अकाल से जनक्षय होता है। **''बुभुक्षितः किं न करोति पापं''** भूखा व्यक्ति कौन सा पाप नहीं करता अर्थात् भूखा व्यक्ति हर पाप कर सकता है। अतः कृषि कर्मोपदेश दिया।

कृषि, किसान का कर्म है। भारतीय देश की संस्कृति रही है ऋषि बनो या कृषि करो। ऐसे महत्त्वपूर्ण कर्म को करने वाले कृषक में किन गुणों का होना आवश्यक है उसको यहाँ ग्रंथकार ने कहा है। यह ग्रंथकार की सूक्ष्म व विश्लेषक दृष्टि ही है जो यहाँ राष्ट्र शांति के इस महायज्ञ में कृषक को भी सम्मिलित किया। कृषक के द्वारा उत्पादित अन्न सभी लोगों के पास पहुँचता है उसकी भावनाएँ भी उस अन्न के साथ उपभोक्ताओं के पास पहुँचती हैं जो उनके परिणामों को भी प्रभावित करती हैं।

कृषक जागरूक हो, आलस्य रहित हो। भूमि की जुताई आदि समय पर करे पुनः भूमि में बीजों का वपन मौसम, जलवायु आदि के अनुसार करे। जब बीज-वपन का समय हो तब वपन करे और जब फसल कटने योग्य हो जाए तो वह भी करे। यदि वह आलस्य में इन कार्यों में देरी करता है तो उसे वर्ष भर पछताना पड़ेगा। वह किसान मौसमादि को देखकर शीघ्रता से कार्य करने वाला हो। किस मौसम में, किस भूमि पर कौन सी फसल अच्छी होगी यह देखकर ही बीज

बोने चाहिये। जागरूक किसान ही अपनी फसल को नष्ट होने से बचा सकता है।

जागरूक का अर्थ होता है प्रति समय सावधान। जो व्यक्ति अपने कार्य के प्रति हर समय सावधान होता है तब उसका वह कार्य सम्यक् प्रकार से पूर्ण होता है।

किसान निर्भीक हो। भयभीत व्यक्ति अपने सामानादि की सुरक्षा भी नहीं कर सकता। किसान अपने खेत, अपनी फसल को सुरक्षित रख सके इसके लिए निर्भीकता चाहिए। पशु-पक्षी, चोरादि से वह अपनी फसल की सुरक्षा कर सके। किसान को इसके साथ-साथ शिक्षित भी होना चाहिए जिससे वह अपने पुरुषार्थ का उचित पारिश्रमिक भी प्राप्त कर सके।

किसान दया से युक्त हो। लोग शंका करते हैं कि कृषि करने वाला किसान दयालु या अहिंसक हो सकता है? भूमिविलेखन करते हुए न जाने कितने कीट हलमुख से मरते होंगे। किंतु उनका यह कहना अयुक्त है क्योंकि हल से भूमिदारण करते हुए कृषक के भाव कीट-भृंग की हिंसा के नहीं हैं अपितु उत्पादित अन्न से प्राण रक्षा के हैं। परिणाम विशेष से ही उसकी हिंसात्मकता अथवा अहिंसकता चरितार्थ होती है। किसान तो शस्य के लिए कर्मरत है। पाप की परिभाषा भाव बोध है। इसी आशय को व्यक्त करते हुए तत्त्वार्थवृत्ति में लिखा गया-

अध्नन्नपि भवेत् पापी, निध्नन्नपि न पापभाक्।
परिणामविशेषेण यथा धीरवकर्षकौ॥

अगली बात कही वह परिश्रमी हो। किसान के द्वारा उत्पादित अन्न संपूर्ण राष्ट्र को प्राप्त होता है इसीलिए उस पर पूरे देश का भार भी है। देश की आवश्यकताओं को वह परिश्रम के द्वारा ही पूर्ण कर

सकता है। सर्दी, गर्मी या कोई भी मौसम हो जब किसान पूर्ण श्रम करता है तभी मिष्ट फल प्राप्त कर पाता है।

किसान के पुरुषार्थी होने का उदाहरण तो स्वयं सभी के समक्ष प्रस्तुत है। कृषक बहुत पुरुषार्थी, मेहनती होता है और उसी के पुरुषार्थ से उत्पन्न फलों को प्रजा ग्रहण करती है।

किसान वत्सल भाव से युक्त हो। उसकी वात्सल्य भाव से परिपूर्ण वर्गणाएँ फसलों को भी प्रभावित करेंगी क्योंकि सिद्ध किया गया है कि एकेंद्रिय वृक्षादि भी मनुष्यों के क्रियाकलापों से प्रभावित होते हैं। प्रयोग किया गया एक व्यक्ति जो जल देने वृक्ष के पास आया तो वृक्ष पर लगा हरा बल्ब जल गया और एक मनुष्य जब कुल्हाड़ी लेकर आया तो वृक्ष पर लगा लाल बल्ब जल उठा। पहला हरा बल्ब वृक्ष की प्रसन्नता का प्रतीक था और दूसरा लाल उसके भय का प्रतीक था। अतः यदि किसान प्रसन्नता के साथ, वात्सल्य युक्त होकर कृषि करेगा तो फसल भी निःसंदेह उत्तम ही होगी।

शिक्षा का स्वरूप

सयायारजुदा सिक्खा उवओगी धणज्जणे।
होज्ज य संतिदा विज्जा, दया-जुत्ता सुहंकरी॥४३॥

अर्थ:-शिक्षा निश्चय से सद् आचरण की, धनार्जन कराने वाली, सर्व शांति करने वाली, दया से युक्त और सुखकारी हो।

The education given should be of good conduct and character. It should be assisting in earning money honestly, keeping peace infact all round, full of kindness and full of joy.

भावार्थ:-नीतिकारों ने ज्ञान से हीन व्यक्ति को अंधे मनुष्य के समान बताया है। ज्ञान व्यक्ति को स्व-पर का विवेक, हित व अहित, कार्य व अकार्य का विचार देता है। एक शिक्षित व्यक्ति उस जले हुए दीपक की तरह है जो हजारों बुझे हुए दीपकों को जला सकता है। शिक्षित व्यक्ति स्वयं तो प्रकाशमान् होता ही है, स्वयं का समीचीन मार्ग तो प्रशस्त करता ही है, वह दूसरों को भी प्रकाशित करने व सही मार्ग दिखाने में समर्थ होता है। शिक्षा के कई अर्थ आचार्यों, विद्वानों, दार्शनिकों, ऋषि-मनीषियों व नीतिकारों ने दिए। शिक्षा के सही स्वरूप को समझना अत्यंत आवश्यक है। ज्ञान कभी झगड़े का कारण नहीं होता, अहंकार का कारण नहीं होता अपितु वह समन्वयता और विनय प्रदान करता है।

अग्नि से लोग भोजन पकाते हैं, यह तापने आदि के काम भी आती है किन्तु इस अग्नि का प्रयोग कोई घर जलाने के लिए करे तो इसमें अग्नि की क्या गलती, दोष तो प्रयोग करने वाले का है। इसी प्रकार यदि शिक्षा या ज्ञान से कोई वाद-विवाद या झगड़ा करे तो इसमें इसका क्या दोष। शिक्षा के सही स्वरूप से परिचय कराने के लिए ग्रंथकार यहाँ शिक्षा कैसी होनी चाहिए, बता रहे हैं।

जो व्यक्ति के अज्ञान रूपी अंधकार को दूर करे, उसका समीचीन मार्ग प्रशस्त करे वह शिक्षा है। प्लेटो के अनुसार-शिक्षा से तात्पर्य उस प्रशिक्षण से है जो बालकों के सद्‌गुण की मूल प्रवृत्ति हेतु उपर्युक्त आदतों द्वारा प्रदान किया जाए अथवा रविन्द्र नाथ टैगोर के अनुसार, सर्वोच्च शिक्षा वह है जो केवल सूचनायें ही नहीं देती अपितु हमारे जीवन और संपूर्ण सृष्टि में सुख व शांति स्थापित करती है। गीता में कहा है **''सा विद्या या विमुक्तये''** शिक्षा वह है जो मुक्ति प्रदान करे। दि. जैन आचार्य भगवन् श्री वट्टकेर स्वामी के शब्दों में-

जेण तच्चं विबुज्झेज्ज, जेण चित्तं णिरुज्झदे।
जेण अत्ता विसुज्झेज्ज, तं णाणं जिणसासणे॥

जिससे तत्त्व का बोध होता है, जिससे मन का निरोध होता है, जिससे आत्मा शुद्ध होता है जिनशासन में उसका नाम ज्ञान है।

बौद्ध ग्रंथ धम्मपद के अनुसार-

सव्वपापस्स अकरणं कुसलस्स उवसम्पदा।
सचित्त परिसोदपनं एतं बुद्धान सासनं॥

सभी पापों को न करना, पुण्यों का संचय करना, अपने चित्त को परिशुद्ध करना-यह बुद्धों की शिक्षा है।

ग्रंथकार यहाँ सदाचरण पर जोर डालते हुए कह रहे हैं कि शिक्षा निश्चय से आचरण की होनी चाहिए। शिक्षा कदाचार नहीं, सदाचार सिखाती है। यह चारित्र निर्माण की प्रेरणा देती है। यदि शिक्षित व्यक्ति का चरित्र उज्ज्वल न हो तो वह शब्दों का बोझ ढ़ोकर (डिग्री प्राप्त कर) सबकी नजरों में तो शिक्षित बन गया परंतु शिक्षा से वास्तव में अपना सुधार नहीं कर पाया, वह वास्तव में शिक्षित कहलाने के योग्य नहीं है और जहाँ आचरण की, सदाचार की, सद्‌चारित्र की शिक्षा नहीं दी जाती वह शिक्षा भी शिक्षा कहलाने के

योग्य नहीं है। अत: ग्रंथकार ने शिक्षा का सर्वप्रथम लक्षण सद्आचरण की प्राप्ति कही। यदि शिक्षा या शब्द ज्ञान प्राप्त कर व्यक्ति का चारित्र निर्मल नहीं है तो वह मानो उस व्यक्ति की तरह है जो भोजन-जल आदि की गठरी बांध सिर पर रखकर चल रहा है, भूख-प्यास से उसके प्राण कंठ में आ गए किंतु साथ लिए भोजन को बोझा मान ही ढो रहा है।

अगली बात कही वह शिक्षा धनार्जन कराने वाली भी हो। शिक्षा के माध्यम से वह अपनी आजीविका चला सके। यदि वह शिक्षित हो धन अर्जन करने लगे तो वह कई पापों से मुक्ति पा सकता है। प्रजा जितनी आत्मनिर्भर होगी वह राज्य, देश या राष्ट्र उतना ही समृद्ध होगा। शिक्षित व्यक्ति कहीं भी पहुँच जाए वह अपने ज्ञान के माध्यम से धन अर्जन कर ही लेगा, वह अपने और अपने परिवार का पालन-पोषण स्वाभिमान के साथ कर सकेगा। अत: बच्चों को दी जाने वाली शिक्षा धनार्जन कराने वाली भी हो।

वह शिक्षा शांति का प्रचार-प्रसार करने वाली, दया से युक्त और हितकारी हो। शिक्षा ऐसी हो जो स्वयं के साथ संसार के प्रत्येक प्राणी को शांति प्रदान करने वाली हो। उस शिक्षा को प्राप्त कर व्यक्ति सबकी शांति और हित के विषय में विचार करे। कोई ऐसा कार्य न करे जिसके माध्यम से किसी का अहित संभव हो। वह शिक्षा दया, करुणा, रहम, से युक्त हो। ऐसा शिक्षित व्यक्ति किसी मासूम प्राणी का घात नहीं कर सकता। शिक्षा प्राणी को दयायुक्त बनाती है, दया विहीन नहीं। आचरण में अहिंसा, खानपान में अहिंसा, वाणी में अहिंसा देने वाली वह शिक्षा हो। स्कूल आदर्श नागरिक तैयार करने की निर्माणशाला हैं।

शिक्षित व्यक्ति का व्यक्तित्व दूसरों के लिए भी आदर्श होता है। माता-पिता अथवा वृद्धों की सेवा करना सहजता, विनम्रता, गंभीरता,

परोपकार, शीलवान्, क्षमावान् आदि शिक्षित व्यक्तियों के सहज गुण होते हैं या होने चाहिये। वास्तव में शिक्षित व्यक्तियों का बोलना, उठना, चलना, बैठना, अन्य व्यक्तियों को स्वयं शिक्षित करता है। बच्चों पर आपकी बातों से ज्यादा असर आपकी चर्या का पड़ता है, जो आप कह रहे हैं वे समझें या न समझें किंतु जैसा व्यवहार उनके सामने किया जाता है वे अपनी जीवन शैली वैसी ही बना लेते हैं। अतः शिक्षित व्यक्ति पहले स्वयं संयमी बनें, आचारवान् बनें, ईमानदार, सत्यवान्, शीलवान् और क्षमावान् बनें तब निश्चित तौर पर आने वाली पीढ़ी भी ऐसे संस्कारों को ग्रहण करेगी।

इस प्रकार उच्च कोटि की शिक्षा यदि बच्चों को प्रदान की जायेगी तो परिवार में, समाज में, राज्य में, देश में या राष्ट्र में सुख-शांति-समृद्धि की वृद्धि निश्चय से होगी।

आदर्श शिक्षक कौन?

सग-पर-हियाकंखी, णाण-मुत्ती दयाणिही।
तम्मणो णिय-कज्जेसुं, खमासीलो हु सिक्खगो॥४४॥

अर्थ:-स्व-पर हिताकांक्षी, ज्ञानमूर्ति, दयानिधि, निज कार्यों में तल्लीन (कर्त्तव्य युक्त) क्षमाशील निश्चय से शिक्षक है।

A teacher should be benevolent, a statue of knowledge, treasure of mercy, dutiful and forgiving.

भावार्थ:-बच्चों की प्रथम पाठशाला उनकी माँ होती है। पहले बच्चे संस्कार अपनी माँ से ग्रहण करते हैं और उसके बाद उनके जीवन निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका शिक्षकों की होती है। शिक्षक भावी नागरिकों, पीढ़ी को तैयार करते हैं। शिक्षकों का बच्चों पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है अथवा अभिभावकों के बाद शिक्षक ही बच्चों का सम्यक् मार्ग निर्देशन करते हैं। विद्यालयों को चारित्र निर्माण की पाठशाला कहा जाता है और शिक्षक चारित्र निर्माण के कार्य को पूरा करते हैं या करने का प्रयास करते हैं। विद्यालयों में शिक्षकों द्वारा प्राप्त की गई शिक्षा का प्रभाव विद्यार्थियों पर आजीवन रहता है। बच्चे शिक्षकों की बात तो स्वीकार करते ही हैं उनके आचार-विचार व्यवहार का प्रभाव भी उन पर पड़ता है। भावी पीढ़ी को तैयार करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे शिक्षकों को विशेष गुण संपन्न होना चाहिए। सम्यक् व्यक्तित्व ही अन्य व्यक्तियों को सम्यक् दिशा व दशा प्रदान कर सकता है। एक चालक के प्रमादी होने पर उस वाहन में बैठी सवारियों के साथ ही दुर्घटना घटित हो सकती है किंतु एक शिक्षक के प्रमादी होने से उन बच्चों, भावी पीढ़ी व देश का घात होता है।

पहले अथवा आज भी विद्या मंदिरों में शिक्षक के लिए आचार्य या गुरु शब्द का प्रयोग किया जाता है। आचार्य शब्द स्वयं इस बात

का प्रतीक है जिसकी चर्या आचरण के योग्य हो, विद्यार्थी अपने आचार्य की चर्या का आचरण करते हैं। गुरु का अर्थ है जिसमें गुरुता हो, श्रेष्ठपना हो, जो गुणों में भारी हो।

शिक्षक शब्द में तीन अक्षरों का समावेश है। पहला अक्षर है-शि अर्थात् जो शिष्टाचार का पालन करने वाला हो। दूसरे अक्षर 'क्ष' का आशय है क्षमाशील हो तथा 'क' का अर्थ है कर्त्तव्य निष्ठ हो। वही वास्तव में शिक्षक कहा जाता है। वास्तव में शिक्षक शिष्टाचारी हो, यदि वह स्वयं शिष्टाचारी नहीं होगा तो अपने विद्यार्थियों को अच्छी शिक्षा किस प्रकार दे सकेगा। केवल शब्दों में दी गयी शिक्षा कंठ तक रहती है और चर्या के द्वारा दी गयी शिक्षा विद्यार्थी के जीवन में प्रवेश कर जाती है।

शिक्षक स्व-पर हिताकांक्षी हो। अपना और साथ ही विद्यार्थियों का हित करने में तत्पर हो। शिक्षक जानता है कि इस बच्चे की कौन सी बुराई या कौन सा क्रियाकलाप भविष्य में उसके लिए दु:खदायक रहेगा अत: हित की भावना से उन बुराईयों को दूर करने का प्रयास करे। उसकी धारणा ऐसी न हो कि "इससे मुझे क्या फर्क पड़ता है। सुधरता हो तो सुधर जाए वरना मुझे क्या जो मैं इसके साथ मेहनत करूँ।" शिक्षक का यह प्रमाद उस बच्चे की जिंदगी को दिशा हीन कर सकता है। शिक्षकों का कर्त्तव्य है कि वे विद्यार्थियों में ऐसी योग्यताऐं उत्पन्न करें जिससे वह अपने परिवार, समाज, नगर, देश या राष्ट्र के प्रति अपने कर्त्तव्य का सम्यक् प्रकार से पालन कर इनकी धवल कीर्ति चहुँ ओर फैला सकें।

चाणक्य ने तीन पीढ़ियों तक मौर्य वंश को संभाला। चंद्रगुप्त मौर्य में ऐसी संभावनाऐं उत्पन्न की जिससे वह अखंड भारत पर राज्य कर सके। ईश्वर चंद विद्यासागर जो आदर्श अध्यापक के रूप में जाने जाते हैं उन्होंने भी अपने विद्यार्थियों को ऐसे संस्कार दिए जिससे वे

विद्यार्थी बड़े होकर समाज, धर्म, देश के प्रति जागरूक रहें। आचार्य श्री धरसेन स्वामी जिन्होंने श्री पुष्पदंत एवं भूतबली मुनिराजों को सिद्धांत का पारगामी बनाया जिनके द्वारा जिनागम का खूब प्रचार-प्रसार हुआ। अर्जुन को सर्वश्रेष्ठ धनुर्धारी बनाने में गुरु द्रोणाचार्य का ही योगदान था। गुरु ही ऐसे शिल्पी हैं जो अनगढ़ पत्थर को एक श्रेष्ठ मूर्ति का आकार दे सकते हैं।

ज्ञान मूर्ति अर्थात् ज्ञान के भंडार रूप शिक्षक विद्यार्थियों को ज्ञानी बना सकते हैं। विद्यार्थियों को ज्ञानी बनाना आवश्यक है जिससे वे अपनी जीवन यात्रा में अपने ज्ञान, अपने विवेक का सदुपयोग कर दु:खों से बच सकें तथा सुख-शांति व समृद्धि को प्राप्त कर सकें। ज्ञान से हीन मनुष्यों को नीतिकार पशुओं की श्रेणी में रखते हैं क्योंकि पशु व मनुष्यवृत्ति में ज्ञान का ही तो अंतर है। कहा है-

आहार-निद्रा-भय-मैथुनानि, समानमेतत्पशुभिर्नराणां।
ज्ञानं नराणामधिको विशेषो, ज्ञानेन हीना: पशुभि: समाना:॥

आहार, निद्रा, भय और मैथुन ये चार कार्य पशु और मनुष्यों में समान होते हैं परन्तु ज्ञान मनुष्यों में अधिक विशेष है, जो मनुष्य ज्ञान से हीन हैं वे पशुओं के समान हैं।

ज्ञान वही दे सकता है जो स्वयं ज्ञानवान् हो। इसीलिए शिक्षक कम से कम अपने विषयों में तो विस्तृत ज्ञानी ही हों। दूसरी बात बच्चे जिज्ञासाओं से युक्त होते हैं शिक्षकों को चाहिए कि वे उनकी जिज्ञासायें दबाऐं नहीं, अनसुनी न करें बल्कि एक संतोषजनक उत्तर दें, उनकी जिज्ञासाऐं ही उनके लिए आगे बढ़ने वाली सीढ़ियों का काम करती हैं अत: उचित समाधान देकर उनके आगे बढ़ने में सहायक बनें।

शिक्षक दया से युक्त हो। स्वयं दया से युक्त शिक्षक ही विद्यार्थियों में दया, प्रेम, वात्सल्य, करुणा, अहिंसा का प्रादुर्भाव कर सकता है। यदि प्रत्येक व्यक्ति का हृदय दया युक्त हो जाए तो देश से अपराधों की संख्या स्वयं घट जाएगी क्योंकि एक दयावान् मनुष्य दूसरे का अहित कभी नहीं कर सकता। शिक्षक का आचार-विचार-व्यवहार-आहार-वाणी सब अहिंसक हो जिससे अपने विद्यार्थियों को भी वह यह शिक्षा दे सके। आचार यदि अहिंसक हो तो व्यक्ति शरीर से गलत कार्य नहीं कर सकता, विचार अहिंसक हों तो मन से भी बुरा नहीं सोच सकता, व्यवहार अहिंसक हो तो सबके साथ शिष्टता का व्यवहार रहेगा। अहिंसक आहार उसकी पूरी जीवन प्रणाली को अहिंसक बनाने में मदद करता है, वाणी अहिंसक हो तो व्यक्ति कभी ऐसे शब्दों का भी प्रयोग नहीं करेगा जिससे किसी को दु:ख हो।

अगली बात कही शिक्षक कर्त्तव्यनिष्ठ हो। सच्चा शिक्षक अपने कर्त्तव्यों का निष्ठा से पालन करता है। यदि शिक्षक चाहता है कि मेरे विद्यार्थी समय पर कक्षा में उपस्थित हों तब सर्वप्रथम पाठ उस शिक्षक को सीखना होगा कि वह पहले स्वयं समय पर पहुँचे। यदि शिक्षक चाहता है कि मेरे विद्यार्थी विनम्रता के साथ रहें तो वह स्वयं भी अनावश्यक शब्दों का प्रयोग न करे। एक शिक्षक को स्वयं भी उस प्रकार की वृत्ति को स्वीकार करना चाहिए, जिस वृत्ति को देखकर विद्यार्थी भी स्वयं सदाचार, शिष्टाचार, विनयाचार, मर्यादा एवं भद्रता को सीख सकें।

शिक्षक का कार्य समीचीन शिक्षा को प्रदान करना है। वह शिक्षा देने में प्रमाद न करे। वह सदैव अपने ज्ञान को देने में तत्पर रहे और शिक्षक क्षमाशील भी हो। विद्यार्थी लघु होते हैं, क्षमा के पात्र होते हैं। यदि शिक्षक सहनशील नहीं है, क्रोधी है तो वह विद्यार्थी की गलती

को क्षमा नहीं कर सकता, प्यार से पुचकार कर समझा नहीं सकता तब नि:संदेह वह अयोग्य शिक्षक कहलाता है। शिक्षक को तो इतना सहनशील होना चाहिए कि यदि उसके विद्यार्थी समझाए गए प्रश्न को समझ नहीं आने पर दस या अधिक बार भी पूछें तब भी उनकी जिज्ञासा समाधान के लिए उतने ही प्रेम से पुन:-पुन: समझा सके।

आचार्य भगवन् सोमदेव सूरि कहते हैं कि शिष्य अपने गुरुजनों के आचार-विचार का अनुसरण करते हैं अत: शिक्षक को नैतिक सदाचारी व विचारवान् होना चाहिए।

गुरुजन शील मनुसरन्ति प्रायेण शिष्या:॥

बाल्यकाल में बालकों के हृदय नवीन मिट्टी के बर्तनों की तरह अत्यंत कोमल होते हैं इसलिए उनके मानसिक क्षेत्र में जैसे-प्रशस्त या अप्रशस्त (अच्छे या बुरे) संस्कारों का बीजारोपण किया जाता है वह स्थायी अमिट होता है अतएव उनके शिक्षक-गुरुजन-उत्तम संस्कार युक्त सदाचारी कुलीन और विद्वान होने चाहिए।

वर्ग विद्वान ने भी कहा है-

कुविधां वा सुविधां वा प्रथमं य: पठेन्नर:।
तथा कृत्यानि कुर्वाणो न कथंचिन्निवर्तते॥

अर्थात् जो मनुष्य बाल्यकाल में जिस प्रकार की अच्छी या बुरी विद्या पढ़ लेता है वह उसी के अनुकूल कार्यों को करता है और पुन: किसी प्रकार से उनसे निवृत नहीं होता।

इस प्रकार उपर्युक्त गुणों से युक्त शिक्षक निश्चय से योग्य शिक्षक कहलाता है। मूर्तिकार आदि तो पत्थरों को गढ़कर मूर्ति आदि अचेतन निर्माण करते हैं किंतु शिक्षक बच्चों को सुसंस्कार दे सदाचार, अहिंसा, वात्सल्य, मर्यादा आदि गुणों से अलंकृत कर चेतन निर्माण

करते हैं। इसीलिए भारतीय संस्कृति में गुरु को सर्वोपरि स्थान देते हुए कहा है-

गुरो ब्रह्मा गुरो विष्णु, गुरोर्देवो महेश्वरः।
गुरो र्साक्षाद् परं ब्रह्म, तस्मै श्री गुरवे नमः॥

विद्यार्थी के लक्षण

विज्जत्थी हु गुणाकंखी, अप्पाहारी णिरालसो।
विणयी बंभचारी य, वेरग्गिओ परिस्समी॥४५॥

अर्थ:-विनयी, गुणाकांक्षी, अल्पाहारी, निरालसी, वैरागी, ब्रह्मचारी, परिश्रमी निश्चय से विद्यार्थी है।

One who is courteous, desirous of virtues, moderate in eating, active, free of desire, practices celibacy and is hard working, is a student.

भावार्थ:-विद्यार्थी का आशय है विद्या के अर्थी, विद्या को ग्रहण करने वाला, ज्ञान का अर्जक। विद्या सर्वहितकारी है, विद्या से सर्व गुणों की उत्पत्ति होती है। श्रेष्ठ जीवन जीने के लिए विद्या को ग्रहण करना चाहिए। विद्यावान् व्यक्ति जहाँ भी जाता है सम्मान को प्राप्त करता है। नीतिकारों ने तो विद्याहीन मनुष्य को कुत्ते की पूँछ के समान व्यर्थ कहा क्योंकि कुत्ते की पूँछ न तो गुह्य स्थान को छिपाने में समर्थ है और न मच्छरों के निवारण करने में। विद्यावान् व्यक्ति समस्या का सम्यक् समाधान खोजने में भी समर्थ होता है।

विद्या बंधुश्च मित्रं च, विद्या कल्याणकारिका।
सहगामि धनं विद्या, विद्या सर्वार्थ साधनी॥

विद्या बंधु है, मित्र है, विद्या कल्याणकारिणी है, विद्या साथ-साथ चलने वाला धन है, विद्या सब प्रयोजन सिद्ध करने वाली है।

विद्या को ग्रहण करने के पश्चात् उसके रहस्य को समझकर उसका सदुपयोग करना चाहिए क्योंकि विद्याओं का पल्लवग्राही पांडित्य प्राप्त करना तो सरल है किंतु उसके समीचीन फल को प्राप्त करने की कला कठिन है।

एक व्यक्ति जिसे अपनी गाय अत्यंत प्रिय थी। उसके दुग्ध बिना दिन का प्रारंभ उसके लिए मुश्किल सा प्रतीत होता था। एक बार वह व्यापार के लिए विदेश गया और साथ ही गाय को भी ले गया। विदेशी स्थान पर गाय जैसा कोई पशु नहीं पाया जाता था। भारतीय व्यक्ति ने गाय-दुग्ध व उससे बने पकवान ले जाकर राजा को भेंट किए एवं व्यापार की स्वीकृति माँगी। राजा ने मिष्ठान्न ग्रहण किए और कहा कि आप यहाँ व्यापार कर सकते हैं तथा आपके द्वारा दिए गए ये फल बहुत ही स्वादिष्ट हैं। अब वह व्यक्ति राजा को रोज नए-नए प्रकार के मिष्ठान्न भेंट करता। कुछ महीने व्यतीत हुए, धनार्जन कर वह युवक राजा के पास स्वदेश गमन की आज्ञा लेने पहुँचा। राजा ने कहा आप जा तो सकते हैं किंतु जिस वृक्ष से स्वादिष्ट फल आप मुझे देते थे वह वृक्ष हमारा राज्य कर समझ दे जाऐं। वह व्यक्ति तैयार हो गया और गाय को भेंट करते हुए बोला कि यह ही स्वादिष्ट फलों को देने वाला वृक्ष है।

राजा ने कुछ सैनिकों को गाय के पास यह आदेश देकर नियुक्त किया कि जैसे ही यह वृक्ष कोई फल दे उसे मेरे पास ले आना। कुछ समय बाद गाय ने मल विसर्जित किया सैनिक प्रसन्नतापूर्वक राजा के पास ले आए। राजा ने उसे दुर्गंधित पा कहा जाओ दूसरे फल की प्रतीक्षा करो। अब की बार सैनिक मूत्र ले आए। राजा ने ज्यों ही चखा क्रोधित होते हुए बोला कि उस व्यक्ति को पकड़कर लाओ उसने हमें धोखा दिया है। उस व्यक्ति को पकड़कर लाया गया। राजा ने कहा जानते हो धोखा देने का दंड क्या होता है। वह बोला राजन् क्षमा करें किंतु मैंने कोई धोखा नहीं दिया। राजा बोला कि तुम्हारे फल मीठे होते थे लेकिन इस वृक्ष के फल तो कड़वे व दुर्गंधयुक्त हैं। तब उस व्यक्ति ने मिष्ट फल प्राप्त करने की संपूर्ण विधि राजा से कही।

आशय यह है कि विद्या प्राप्ति के साथ उसके उपयोग की कला भी आनी चाहिए। तब वह विद्वानों की सभा को भी सुशोभित होता है।

विद्यावान् पुरुष बिना वस्त्रालंकारों के भी सुशोभित होता है। विद्या से हीन मनुष्यों को पशु के समान कहा है अतः प्रत्येक व्यक्ति को विद्या अर्जन करने का प्रयास करना चाहिए।

विद्या नाम नरस्यरूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं,
विद्या भोगकरी यशः सुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः।
विद्या बंधुजनो विदेश गमने विद्या परा देवता,
विद्या राजसु पूज्यते गुणनिधिर्विद्याविहीनः पशुः॥

विद्या मनुष्य का अत्यधिक रूप है, छिपाकर रखा हुआ गुप्त धन है, विद्या भोग को करने वाली है, यश और सुख को करने वाली है, विद्या गुरुओं का गुरु है, विद्या विदेश यात्रा में बंधुजन है, विद्या उत्कृष्ट देवता है, गुणों की भंडार रूप विद्या राजाओं में पूजी जाती है इसके विपरीत विद्या से रहित मनुष्य पशु तुल्य होता है।

जो विद्या सबके लिए हितकर हो, स्व-पर कल्याणकारक हो, जीवन को उन्नति पथ पर अग्रसर करने वाली हो, उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली हो वह वास्तव में समीचीन विद्या है और ऐसी विद्या को ग्रहण करने में उद्यत विद्यार्थी कहलाते हैं।

विद्यार्थी के लक्षण या गुणों का वर्णन करते हुए आचार्य महाराज बताते हैं कि वह विनयी हो। विद्यार्थी या शिष्य का पर्यायवाची नाम विनेय भी है। जो स्वयं ही कह रहा है कि विनय से रहित विनेय अर्थात् विद्यार्थी नहीं होता। विनय को धारण करने वाला ही विद्यार्थी है। विनय अर्थात् जो विशेषता की ओर ले जाए। यह विनय विशेष गुणों को देने वाली और एकांश ज्ञान को नष्ट करके प्रमाण ज्ञान को

देने वाली होती है। विद्यार्थी में भी विशेष गुण विनय के माध्यम से उत्पन्न होते हैं। काया से भी विनयी हो, वचनों से भी विनयी हो तथा मानसिक विनयी भी हो।

कायिक विनय का आशय तन से, शरीर से विनय करना। गुरुजनों के आने पर उनके सम्मान में खड़े हो जाना, हाथ जोड़कर प्रणामादि करना। कायिक विनय से स्वस्थ शरीर की प्राप्ति होती है। वाचनिक विनय से आशय है इष्ट-मिष्ट वचनों का उनके प्रति प्रयोग करना, वाणी के माध्यम से नमस्कारादि करना। इससे शिष्य की वाणी प्रभावी व स्मरण शक्ति तीव्र होती है। मानसिक विनय का आशय है मन में भी उनके प्रति आदर-सत्कार बहुमान के भाव होना। इससे मन की आकुलता नष्ट होती है, शांति, सरलता, सहजता की प्राप्ति होती है। विद्यार्थी जितना अधिक विनयी होती है वह उतनी अधिक विद्या प्राप्त करने में समर्थ होता है। एकलव्य ने परोक्ष में गुरु की विनय करके ही महत्त्वपूर्ण विद्या प्राप्त की।

अगली बात कही विद्यार्थी गुणों को ग्रहण करने वाला हो। उसकी दृष्टि गुणग्राहक हो। व्यक्ति में अच्छाईयों को देखकर उन्हें अपने अंदर ग्रहण करने का प्रयास करे तभी विद्यार्थी होना सार्थक है। अर्थी का अर्थ है ग्राहक या प्राप्तेच्छुक जो गुणों को ग्रहण करने का इच्छुक हो। गुणों को निरंतर ग्रहण करने वाला ही गुण पुंज बनकर स्वयं आलोकित होकर अन्य को आलोकित करने में समर्थ हो सकता है। गुण ही व्यक्ति की वास्तविक सुंदरता हैं अतः विद्यार्थी को सतत गुण ग्रहण करने का प्रयास करना चाहिए।

विद्यार्थी अल्प आहार ग्रहण करने वाला हो। अन्न की अधिक मात्रा शरीर में प्रमाद उत्पन्न करती है जिससे विद्या अर्जन में बाधा उत्पन्न होती है। विद्यार्थियों के लिए आवश्यक है कि वे अन्न कम ग्रहण करें, जल की पूर्ति करने वाले पदार्थ एवं जल उपयुक्त मात्रा में

ग्रहण करें क्योंकि ऑक्सीजन मस्तिष्क के लिए अत्यंतावश्यक है, जो मस्तिष्क को ताजगी देता है।

आगे कहा विद्यार्थी आलस्य का त्यागी हो अर्थात् निरालसी हो। आलसी व्यक्ति विद्या को प्राप्त नहीं कर सकता। विद्यार्थी के लिए तो कहा है उसकी निद्रा श्वान के समान हो, जैसे एक आहट आने पर श्वान की निद्रा भंग हो जाती है उसी प्रकार विद्यार्थी की भी नींद हो। कहा भी है-

काकचेष्टा बकोध्यानं, श्वाननिद्रा तथैव च।
अल्पाहारी ब्रह्मचारी, विद्यार्थी पंच लक्षणं॥

विद्यार्थी कौए की तरह तीव्र चेष्टा करने वाला हो। गुरु के मुख से एक शब्द निकले और तुरंत ही उसे अपने मन में धारण कर ले। बगुला का ध्यान जैसे सिर्फ अपने शिकार पर रहता है ऐसे ही विद्यार्थी को अपने हित की ही बात याद रखना चाहिए अन्य अनावश्यक चीजों को ग्रहण करने वाला न हो। श्वान निद्रा वाला हो, जो अधिक निद्रा लेते हैं वह विद्यार्थी नहीं सुखार्थी हैं। विद्यार्थी अल्पाहारी व ब्रह्मचारी हो।

विद्यार्थी के जीवन को साधना काल भी कहा है क्योंकि वह सब सुख सुविधाओं का त्यागकर विद्यार्जन हेतु तत्पर रहता है। सुखार्थी सम्यक् रूप से विद्या अर्जन नहीं कर सकता। कहा भी है-

सुखार्थिनो कुतो विद्या, विद्यार्थिनो कुतो सुखं।
सुखार्थिनो त्यजेत् विद्या, विद्यार्थिनो त्यजेत् सुखं॥

सुखार्थी के लिए विद्या कहाँ और विद्यार्थी के लिए सुख कहाँ। सुखार्थी को विद्या का एवं विद्यार्थी को सुख का त्याग कर देना चाहिए।

विद्यार्थी वैरागी एवं ब्रह्मचारी हो अर्थात् सांसारिक सुखों में आसक्त न हो। जब तक विद्या ग्रहण कर रहा हो तब तक भौतिक सुख-संसाधनों से निरासक्त रहे। विद्यार्थी काम-वासना से दूर हो। कामुक व्यक्ति विद्यार्जन नहीं कर सकता। आचार्य महाराज कहते हैं-

आलस्यो मंदबुद्धिश्च सुखिनो व्याधि पीड़ितः।
निद्रालु काम क्वश्चेति षडैते शास्त्र वर्जितः॥

आलसी, मंदबुद्धि, सुखार्थी, रोगी, निद्रालु और कामुक इन छः के लिए शास्त्राभ्यास वर्जित है।

विद्यार्थी परिश्रमी हो। अथक परिश्रम के द्वारा ही व्यक्ति अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। परिश्रम हमेशा अपना फल देता है। इस प्रकार विद्यार्थियों में इन गुणों का प्रादुर्भाव होना चाहिए क्योंकि लक्षण के बिना लक्ष्य की पहचान नहीं की जा सकती। समीचीन लक्षणों से समीचीन लक्ष्य की प्राप्ति की जा सकती है। जिस प्रकार दाहकत्व, ऊष्णादि गुणों से युक्त अग्नि होती है उसी प्रकार कहे गए लक्षणों से युक्त विद्यार्थी होते हैं।

विद्यार्थी का कर्त्तव्य

आढाएज्जा हु माणेज्जा, गुरु-पिदु-गुणी तहा।
सेवगग्गज-धम्मिट्ठा, विज्जाए सव्व-अत्थिणो॥४६॥

अर्थः-सभी विद्या के अर्थियों को अपने अग्रज, पिता, गुरु, गुणीजन, सेवक व धर्मात्माओं का सम्मान करना चाहिए।

The people seeking education should respect their elders, father, preceptor, virtuous persons, pious people and even the people who serve.

भावार्थः-विनय आत्मा का एक ऐसा गुण है जिसकी आवश्यकता योगी और भोगी, ज्ञानी और मूर्ख, सुंदर और असुंदर, गरीब और अमीर सबको होती है। विनय रूपी चुंबक के माध्यम से ही लोक में विद्यमान सद्गुणों को ग्रहण किया जा सकता है। विनय श्रेष्ठ नीति है, भारतीय संस्कृति की प्रधान रीति है, तपस्वियों का अंतरंग तप है, गुणी जनों का विशिष्ट गुण है, मोक्षमार्गियों का मोक्ष द्वार है, आत्मज्ञों का उपहार है, अपने स्वभाव की सम्हार एवं जमीन का सुधार है। संक्षेप में कहें विनय गुण चेतना के अंदर से निःसृत परमात्मा के लिए पुकार है।

जो जिसका अर्थी या वांछक है वह उस वस्तु या उसके स्वामी के प्रति जितना नम्र होगा वह उतना ही अधिक अपने कार्य में सफल हो सकेगा। विद्या का अर्थी विद्या के उपकरण एवं विद्यावान् व्यक्तियों के प्रति सदैव विनय, भक्ति व सम्मान का भाव रखे। जो जिस वस्तु या गुण को चाहता है वह उसके प्रति जितना तीव्र इच्छावान् होगा उतना ही तीव्र उसका पुरुषार्थ होता है और उतना शीघ्र ही उसका फल उसे प्राप्त होता है।

गौतम विद्वान् ने भी कहा है-

सदादेशकरो यः स्यात् स्वेच्छया न प्रवर्तते।
विनयव्रतचर्याद्यः स शिष्यः सिद्धिभाग्भवेत्॥

जो शिष्य सदा गुरु की आज्ञा पालन व अपनी इच्छानुकूल प्रवृत्ति-निरोध करता है और विनय व व्रतपालन में प्रवृत्त होता है, उसे विद्या-प्राप्ति में सफलता प्राप्त होती है।

आचार्य भगवन् नीतिवाक्यामृतम् में कहते हैं-

नानाभिवाद्योपाध्यायाद्विद्यामाददीत।

गुरु को नमस्कार किए बिना उनसे विद्याग्रहण नहीं करना चाहिए। क्योंकि बिना नमन किए, बिना विनय के विद्या की प्राप्ति संभव नहीं है।

धनार्थी धन के लिए हर संभव पुरुषार्थ करता है, नाना प्रकार की प्रतिकूलताओं को सहन करता है, हर सुख-सुविधाओं का त्याग करके वहाँ पहुँच जाता है जहाँ ज्यादा से ज्यादा धन कमाया जा सके। यद्यपि वे दुःख उस समय उसे दुःख प्रतिभासित नहीं होते जिस समय जिसको जिस कार्य में आनंद आता है या जिसकी जिस में लगन होती है उसको उसी में आनंद आता है तब उसे उस कार्य में अवश्य सफलता मिलती है।

विद्यार्थी का भी कर्त्तव्य है वह अपने गुरुजनों के प्रति, सहपाठियों के प्रति, विद्या के उपकरण पुस्तक, वर्ण वर्तिका, लिप्यासन आदि के प्रति विनयवान् रहे। क्योंकि विद्या की प्राप्ति मात्र गुरु के पुरुषार्थ से नहीं होती। गुरु या आचार्य द्वारा तो ज्ञान के चतुर्थांश की प्राप्ति ही संभव है और अपने सहपाठियों के द्वारा, विनय युक्त विद्या का आदान-प्रदान करने से द्वितीय चतुर्थांश की प्राप्ति होती है किंतु यह तभी संभव है जब उस विद्यार्थी के पास ऐसी बुद्धि हो जो इन दोनों घटकों के माध्यम से विद्या का लाभ ले सके। वही विद्यार्थी स्व प्रज्ञा

से तृतीय चतुर्थांश ज्ञान की प्राप्ति कर लेता है अंतिम चतुर्थांश की प्राप्ति जीवन के अंतिम चरण तक प्रतिकूलता और संघर्ष की अग्नि में तपता हुआ अनुभव से प्राप्त करता है कहा भी है-

आचार्यः पादमाचष्टे, पाद शिष्यस्वमेधया।
तद विज्ञ-सेवया पाद, पाद कालेन पच्यते॥

शिष्य पहला पाद आचार्य से प्राप्त करते हैं, दूसरा अपनी बुद्धि से, तीसरा पाद विज्ञपुरुषों की सेवा से व चौथा पाद काल से परिपाक होकर स्वयं प्राप्त होता है। विनय आदि गुणों से युक्त विद्यार्थी जब अपने विद्या प्राप्ति के अभियान में सफल हो जाता है तब वह अपने से छोटे-बड़े सबके प्रति नम्रीभूत रहता है उसकी प्रवृत्ति उस वृक्ष की तरह होती है जिसकी शाखाएँ फलों के भार से नम्रीभूत होकर भूमि का स्पर्श कर रही हैं। ठूंठ वृक्ष झुकने में असमर्थ होते हैं। जिन वृक्षों के पास पर्याप्त पत्ते हैं, पल्लव हैं, पुष्प हैं, फल हैं, जल की आर्द्रता है, सघन छाया है और पर्याप्त प्राणवायु है ऐसे वृक्षों का ही सुखार्थी जन आश्रय लेते हैं।

नमन्ति सफला वृक्षा नमन्ति कुलजा नराः।
शुष्ककाष्ठाश्च मूर्खाश्च न नमंति कदाचन॥

फलयुक्त वृक्ष और कुलीन मनुष्य नम्र होते हैं परन्तु सूखे काष्ठ और मूर्ख कभी नम्र नहीं होते।

विनय रूप आचरण कुलीन मनुष्य के द्वारा ही किया जा सकता है। यह भी सत्य है कि विनय के बिना विद्यार्थी विद्या ग्रहण नहीं कर सकता। जिस प्रकार बिना झुके जमीन पर पड़ी वस्तु को उठाया नहीं जा सकता उसी प्रकार बिना झुके, बिना विनय के ज्ञानादि गुणों की प्राप्ति नहीं की जा सकती।

एक स्थान पर कलश कटोरी से ढका रखा हुआ था। कटोरी ने देखा कि जो भी इसके पास आता है यह उन सबको भर देता है। यह

देखकर उसने सोचा कि मैं पूरे समय इसके साथ रहती हूँ तब भी यह मुझ पर उपकार नहीं करता। उसने कलश से कहा "अरे! तुम सबको भरते हो लेकिन मैं हर समय तुम्हारे साथ रहती हूँ किंतु आज तक तुमने मुझे भरा नहीं।" कलश ने कहा "जो भी मेरे सामने आकर झुकता है मैं उसे भर देता हूँ। तुम तो हर समय मेरे सिर पर रहती हो तुम्हें कैसे भरूँ?" जो झुकता है वह स्वयं को गुणों से परिपूर्ण करता है।

विनयेन विना पुंसो, न सन्ति गुणसम्पदः।
न बीजेन विना क्वापि, जायन्ते सस्यजातयः॥

विनय के बिना पुरुष की गुण रूप संपदाएँ नहीं होती हैं क्योंकि बीज के बिना कहीं भी धान्य की जातियाँ उत्पन्न नहीं होतीं।

अतः विद्या के अर्थियों को अपने बड़ों का, गुरु का, माता-पिता का, गुणीजनों का आदर-सम्मान करना चाहिए, उनकी विनय करनी चाहिए।

आदर्श नारी

सेट्ठ -णारी सदी जोग्गा, वच्छला मिदुभासिणी।
लज्जा-दया-खमा-जुत्ता, धम्मणिट्ठा मिदव्वयी॥४७॥
अण्णाकारी मणोहारी, पइस्स अणुगामिणी।
सुहे दुहम्मि गंभीरा, कुडुंबस्स-हियंकरी॥४८॥

अर्थः-सति, योग्य, धर्मनिष्ठ, वात्सल्यमयी, लज्जा, दया, क्षमा, शील युक्त, मृदुभाषी, मितव्ययी, आज्ञाकारी, मनोहारी, पति की अनुगामिनी, सुख-दुःख में गंभीर व कुटुंब की हितकारिणी ही आदर्श नारी है।

A woman who is virtuous, faithful, capable, pious, affectionate, shy, sympathetic, forgiving, good conducted, soft-spoken, frugal, obedient, charming, follower of her husband, neutral in joy and sorrow and well-wisher of her family is an ideal woman.

भावार्थः-"यस्या अरि न विद्यते सा नारी" जिसका संसार में कोई भी शत्रु नही है वह नारी है अथवा "या कस्याऽपि अरि न भवति सा नारी" जो कभी भी किसी की भी, कहीं भी शत्रु नहीं होती वह नारी है। आचार्यों ने स्वयं शीलवान्, धर्मवत्सला, संयमी, कल्याणकारिणी नारियों की प्रशंसा की है। आचार्य मानतुंग स्वामी ने तो तीनों लोकों के नाथ को जन्म देने वाली माँ की स्तुति भी की है-

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्,
नान्याः सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता।
सर्वा दिशो दधति भानि सहस्र रश्मिं,
प्राच्येव दिग्जनयतिस्फुर दंशु जालम्॥

संसार में सैकड़ों स्त्रियाँ, सैकड़ों पुत्रों को पैदा करने वाली होती हैं। किंतु त्रिलोकी नाथ जैसे पुत्र को उत्पन्न करने वाली तुम सी जननी

अन्य नहीं है। तारागण तो सभी दिशाओं में होते हैं किन्तु सूर्य का उदय केवल प्राची दिशा से ही होता है। तीर्थंकर जैसे पुत्र को जन्म देने वाली माँ धन्य है तभी तो क्षायिक् सम्यग्दृष्टि सौधर्मेंद्र शचि इंद्राणि के साथ माँ की पूजा करने स्वर्ग से आता है।

नारी ने धर्म, समाज और देश के उत्थान के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किए। सिंहपथ के राजा की पुत्री झूसी सिंहपथा ने युवक का वेष धारण कर राजा ऐल खारवेल की युद्ध में मदद की और विजय प्राप्त की। उस युद्ध में खारवेल के घायल होने पर उसकी सेवा भी की। महारानी-वीरादेवी ने अपने धर्म और देश दोनों की रक्षा की। महारानी वीरादेवी के बल विक्रम के कारण वह भैरव देवी नाम से भी जानी जाती थी। उसने बाटुकुल्ला में 65 जिनमंदिर बनवाये, वारुकुर में भी जिन मंदिर बनवाये, अगणित जिनबिंबों की प्रतिष्ठा करवायी। इक्केरी के वेंकटप्प को सेना सहित हरा अपने देश की रक्षा की।

मैसूर के गंगवंश के सरदार वायिव व जाबय्ये की पुत्री सावियव्वे का विवाह सामंत विद्याधर के साथ हुआ। एक समय अचानक आक्रमण से दोनों युद्ध में कूद पड़े और अपने प्राणों का बलिदान दे दिया। सन् 1618 में राजा अकालवर्ष ने नगर खंड प्रांत का शासन नागार्जुन को दिया हुआ था। नागार्जुन की पत्नी जक्कमव्वे भी उसका हर प्रकार से सहयोग करती थी। एक बार राजा अकाल वर्ष ने नागार्जुन से कहा कि पड़ोसी पर्वत पर उद्दंडी भीलों को सही मार्ग पर लगाओ। नागार्जुन युद्ध के लिए गया और कुछ देर बाद घायल हो गया तब उसकी पत्नी जक्कमव्वे ने उसकी सेवा की, युद्ध का संचालन किया। वे सभी भील घबराकर नागार्जुन की शरण में पहुँचे और क्षमा माँगी। नागार्जुन अत्यंत गंभीरावस्था में होने के कारण मृत्यु को प्राप्त हुआ और शासन जक्कमव्वे ने संभाला।

कर्नाटक की शांतला देवी ने सहस्रों धवला ग्रंथ लिखवाये। अत्तिमब्बे ने 1000 जिनबिंबों की स्थापना कराई व कई शास्त्र लिखवाएँ। केकैयी ने युद्ध में दशरथ का सारथी बन, उसको विजय प्राप्त करायी। एक बार राजा खारवेल अपने महल के खंभों में रत्न लगवा रहा था। रानी सिंधुला ने पूछा, "अरे, इन्हें लगवाने से क्या लाभ? हमारे चले जाने के बाद लोग इन्हें ले जाऐगें।" "फिर क्या करें?" राजा ने पूछा। रानी ने कहा कि आप धर्म कार्य करें। शास्त्र-लिखवाऐं तब राजा ने एक लाख साधुओं को आमंत्रित किया। सबका चातुर्मास कराया और 75 लाख सोने के सिक्के खर्च करके द्वादशांग वाणी लिखवाई।

युद्ध करने गया। अवसर का लाभ उठाकर कुछ शत्रुओं ने उसके राज्य पर आक्रमण कर दिया। तब उसकी रानी सिंधुला ने समरांगण में पहुँच शत्रुओं को पराजित किया व अन्य राज्यों पर भी विजय प्राप्त की।

झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, जिसने अंतिम श्वासों तक अपनी मातृभूमि की रक्षा की। जीजाबाई, जयवंता बाई, शकुंतला, पुतलीबाई, प्रभावती देवी, विद्यादेवी आदि वे नारियाँ धन्य हैं जिन्होंने अपने पुत्रों को देश भक्ति के संस्कार दिये, भामाशाह, पायल श्रेष्ठी, जीवराज पापड़ीवाल, जगडू शाह, हरजषराय, सरसेठ हुकुमचंद, देवपत् खेवपत, चामुंडराय जैसे दानवीर पुत्रों को जन्म दिया। कहा भी है-

नारी जने तो भक्तजन, या दाता या शूर।
नहीं तो जननी बांझ रहे, क्यों वृथा गँवावे नूर॥

नारियाँ यदि पुत्र को जन्म देती हैं तो वे पुत्र या तो प्रभु भक्त हों, दानी हों या देश के रक्षक शूरवीर हों। नारियाँ प्रत्येक क्षेत्र में अपना योगदान देकर उसकी उन्नति में सहायक हो सकती हैं। चाहे वह

विज्ञान के क्षेत्र में कल्पना चावला हो, सेवा के क्षेत्र में मदर टैरेसा हो।

यहाँ ग्रंथकार आदर्श नारी के गुणों को बताते हुए कहते हैं कि वह शीलवान् हो। नारी का सर्वश्रेष्ठ आभूषण उसका शील है। शील नारी का सबसे बड़ा अस्त्र है। शीलवान् स्त्री के लिए तीनों लोकों में कुछ भी अलभ्य नहीं है। अनेक स्त्रियाँ हुई हैं जिन्होंने कठिन से कठिन परिस्थितियों का सामना करके भी अपने शील की रक्षा की। सीता, अंजना, अनंतमती, चंदनबाला, सुरसुंदरी, मैना सुंदरी आदि ने नारी जाति का गौरव वर्द्धन किया है। विशल्या के शील की शक्ति ही थी जिसने युद्ध में लगी लक्ष्मण की शक्ति को दूर कर दिया, सीता के शील की शक्ति ने ही अग्नि को भी जल कर दिया, नीली के शील की शक्ति ने ही नगर के बंद द्वार को पैर रखने मात्र से खोल दिया, शीलवती सिंधुला के जल छिड़कने पर ही उसके पति ने पुनः स्वस्थ जीवन प्राप्त किया।

नारी का गौरव, मान-मर्यादा तभी संरक्षित है जब वह शीलवान् है। चारित्र हीन नारी शुभ मंगलमयी प्रेरणा किस प्रकार बन सकती है जबकि चारित्र के साथ मंगलपना भी उससे पलायन कर गया हो। आदर्श नारी का यह सर्वप्रथम व मुख्य गुण है कि वह शीलवान् हो सती हो। इतिहास में भी देखते हैं तो पाते हैं कि सतीत्व की रक्षा के लिए स्त्रियाँ अपने प्राणों को त्यागने में भी डरी नहीं।

अगला गुण नारी में कहा वह धर्मनिष्ठ हो। धर्म में आस्था, निष्ठा, श्रद्धा, रुचि, विश्वास रखने वाली हो। भारतीय संस्कृति में सिर्फ एक रिश्ते के साथ धर्म जोड़ा जाता है और वह है धर्मपत्नी। क्योंकि स्त्री ही सभी को धर्म की प्रेरणा देती है, धर्म मार्ग का अनुसरण करने के लिए प्रेरित करती है। रानी चेलना की प्रेरणा ने राजा श्रेणिक को सातवें नरक से तो बचाया ही और आगे तीर्थंकर

पदवी के बंध का कारण भी बनी। धर्मनिष्ठ नारियों ने अपने पति को सदैव धर्माचरण की प्रेरणा दी है, धर्मनीति बतायी है और न्याय मार्ग से स्खलित होने से व कर्त्तव्य च्युत होने से बचाया है। किंतु यह तभी संभव है जब नारी स्वयं धर्मनिष्ठ हो। उसकी यह धर्मनिष्ठता उसके परिवार के लिए भी मंगलकारक होती है। नारी जैसी सहनशीलता शायद ही प्रकृति ने किसी को दी हो इसीलिए तो कई बार अपमानित, तिरस्कृत होने पर भी अपने स्वामी को धर्म मार्ग, न्याय मार्ग, समीचीन मार्ग की ही प्रेरणा देती है।

स्त्री करुणा, दया, ममता, स्नेह, वात्सल्य की मूर्ति होती है। जिस प्रेम, स्नेह से माली अपने पौधों को सींचता है, उसी प्रकार नारी अपने परिवार को सींचकर उसे पल्लवित, पुष्पित और फलित करती है। उसका वात्सल्य बच्चों को भी अच्छे संस्कार प्रदान करता है तो अन्यों के लिए भी प्रेरणा का कार्य करता है। स्त्री के नयन ममता और करुणा के कटोरे कहे जाते हैं। वह स्वयं तो कष्ट को सहन कर सकती है किंतु सामने वाले को कष्ट नहीं दे सकती। उसकी दया-वात्सल्य के कारण ही तो वह संपूर्ण परिवार को संस्कारित करने में समर्थ होती है। वह लज्जा से युक्त हो, मान-मर्यादा कुलाचार का पालन करने वाली हो।

अगली बात कही वह मृदुभाषिणी हो। उसकी वाणी में मृदुता, विनम्रता, कोमलता हो। आतिथ्य सत्कार, सेवादि मधुर वचनों के साथ ही संतुष्टकारक होते हैं। वह मितव्ययी भी हो अर्थात् आर्थिक रूप से गृह संचालन में कुशल भी हो। जहाँ जितनी आवश्यकता हो वहाँ उतना व्यय करे उससे कम भी नहीं और ज्यादा भी नहीं। इसके साथ-साथ वह आज्ञाकारिणी हो, पति के मन का हरण करने वाली हो, पति की अनुगामिनी हो। जिस प्रकार सीता ने राम का अनुगमन किया था, कहा था कि कंकड़-कांटों में चलेंगे तो मैं आगे चलूँगी,

आपके पथ से उन्हें हटाते हुए चलूँगी। वे कहती हैं कि यदि कोई दु:ख-संकट का समय हो तो मैं आगे हो जाऊँगी वरना सदैव आपका अनुसरण करूँगी।

नारी सुख-दु:ख में गंभीर हो। स्वयं भी धैर्यवान् हो और परिवार के सदस्यों को भी धैर्यवान् बना सके। सुख में फूले नहीं और दु:ख में कूले नहीं। दोनों में गंभीर हो। समय देखकर अपनी बात कहने वाली हो। हर बात को कहने का एक उचित समय व उचित तरीका होता है। उसी उचित समय को देखकर, उचित बात को उचित प्रकार से कहे। वह अपने कुटुंब परिवार की हितकारिणी हो। अपने परिवार के हित को देखकर कार्य करने वाली हो। वह इतनी बुद्धिमान् हो कि किस कार्य में परिवार का हित है अथवा किसमें अहित इसको जानकर निर्णय लेने वाली हो। इन गुणों से युक्त नारी भारतीय संस्कृति में आदर्श नारी कही जाती है।

नीतिकारों ने प्रिय स्त्री के विषय में कहा है-

पत्यौ नित्यं चानुरक्ता कुशला गृहकर्मणि।
पुत्रप्रसवः सुशीला या प्रिया पत्युः सुयौवना॥

जो स्त्री अपने पति में नित्य प्रेम रखने वाली, गृहकार्य में चतुर, पुत्र को जन्म देने वाली, सुशीला और सुन्दर जीवन वाली होती है, वह पति की प्रिय होती है।

जिस प्रकार माली द्वारा दिया गया जल वृक्ष की प्रत्येक शाखा, टहनी, पत्ती, पुष्प, फूलों-फलों तक पहुँचता है उसी प्रकार नारी द्वारा दिए गए संस्कार उसके भोजन बातचीत, आचार-विचार के माध्यम से परिवार के प्रत्येक सदस्य में पहुँचते हैं। अत: यदि स्त्रियाँ अपना आदर्श रख स्वयं जिएँ और धर्म सहित दूसरों को जीने की प्रेरणा दें तो विश्व-शांति के इस महायज्ञ में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकती

हैं। गर्भ से संस्कार देने का सौभाग्य भी स्त्रियों को ही प्राप्त है अत: गर्भ से ही अपनी संतानों को देश, परिवार, समाज, धर्म की मान-मर्यादा, इनसे प्रेम और इनकी सुरक्षा के संस्कार प्रदान करें।

सज्जन कौन

सो चिय सज्जणो मण्णे, परजणा वि रक्खदे।
अण्णाणं दु सुहट्ठं च, दुक्खं लहदि जो णरो॥४९॥

अर्थ:-निश्चय से सज्जन वह माना जाता है जो दूसरों की भी रक्षा करता है और जो दूसरों के सुख के निमित्त से दु:ख भी ग्रहण करता है।

A person who protects others and takes the pains, if he has to, in accomplishing these selfless acts is considered a virtuous person.

भावार्थ:-ग्रंथकार यहाँ सज्जनों की प्रवृत्ति को निरूपित करते हैं। सज्जन अर्थात् अच्छी प्रवृत्ति के लोग, वे दूसरों की भी रक्षा करते हैं। यहाँ 'भी' इसीलिए लिया गया है क्योंकि अपनों की रक्षा तो प्राय:कर सभी लोग करते हैं किंतु नि:स्वार्थ भावना से दूसरों की रक्षा करने वाले व्यक्ति बहुत कम होते हैं। सज्जन व्यक्ति स्वार्थ को त्याग कर सबकी सहायता करने में तत्पर होते हैं और इतना ही नहीं दूसरों के द्वारा अपकार किए जाने पर भी उनका उपकार ही करते हैं।

उपकारिषु य: साधु: साधुत्वे तस्य को गुणा।
अपकारीषु य: साधु: स साधु सद्भि: रुच्यते॥

जिस प्रकार चंदन की लकड़ी का घर्षण करने पर भी वह सुगंध ही देती है उसी प्रकार साधु जनों या सज्जनों की प्रवृत्ति होती है। अपने साथ किए गए दुर्व्यवहार के बदले में भी वे अपने सद्व्यवहार को ही प्रदर्शित करते हैं और ठीक ही तो है यदि सज्जन भी दुर्जनता का व्यवहार करें, उन्हीं जैसे क्रिया-कलाप करें तो सज्जनों और दुर्जनों में भेद ही क्या रहेगा। जिस प्रकार शक्कर अपनी मिठास, नमक अपना खारापन, अग्नि अपना दाहकत्व गुण कभी नहीं छोड़ते उसी प्रकार सज्जन अपनी सज्जनता कभी नहीं छोड़ते।

पंडित बनारसीदास जी जिनके घर पर कुछ चोर चोरी करने आये। वे काली मिर्च की बोरियाँ चुरा रहे थे। रात्रि का समय था कुछ कोलाहल से पंडित जी की आँखें खुली तो देखा कि चोर चोरी कर ले जा रहे हैं, सब बाहर निकल चुके लेकिन एक अंतिम चोर जो बोरी न उठा पाने के कारण अत्यंत व्याकुल हो रहा था, पंडित बनारसी दास जी ने स्वयं उसकी सहायता की। जब सब चोर घर पहुँचे तो पीछे एक चोर देरी से पहुँचा। कारण पूछने पर उसने सब वृत्तांत कह सुनाया। तब उसकी माँ के कहने पर उस चोर ने उस सज्जन व्यक्ति का पूरा सामान उसे लौटा दिया।

आचार्य सिद्धप्पा स्वामी, एक समय उनके कमंडलु की चोरी हुई जिसकी सूचना राजा को दी गई। सैनिकों द्वारा उस चोर को राजा के समक्ष उपस्थित किया गया। राजा उस बालक को देख अत्यंत क्रोधित हुआ और बोला ''हे मुनिवर ! आप ही बतायें इस बालक को क्या दंड दिया जाये।'' मुनिराज बोले ''यदि मेरे द्वारा बताया गया दंड आप इस बालक को देंगे तब तो मैं दंड बताऊँगा अन्यथा नहीं।'' राजा ने उत्तर दिया मुनिवर ! मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि जो आप इस बालक के लिए कहेंगे मैं वही दंड इसको दूँगा। आचार्य महाराज बोले ''ठीक है, तब इसे 1 रुपया व 1 टोपी दे दो। इसने आवश्यकता की पूर्ति हेतु चोरी की होगी आप इसकी आवश्यकता की पूर्ति करें जिससे भविष्य में वह यह चौर्य कर्म न करे।

सज्जन लोग कभी किसी का अहित नहीं करते। कठिन परिस्थिति में भी सहायता करने का प्रयास करते हैं फिर चाहे उसके लिए उन्हें स्वयं ही कष्ट क्यों न उठाना पड़े? परोपकार करने में यदि स्वयं को थोड़ा दु:ख भी हो तो भी वे उसे स्वीकार कर परहित में तत्पर रहते हैं। सज्जन लोग अच्छे कार्यों को करके ही संतुष्ट होते हैं। वे भली भाँति जानते हैं कि अच्छे कार्यों का फल श्रेष्ठ ही होता है तब वे

बिना किसी स्वार्थ के दूसरों की सहायता करते हैं और क्वचित् कदाचित् यदि दूसरों के हित के लिए उन्हें थोड़ा दु:खी भी होना पड़े तो भी वे उस दु:ख को स्वीकार करते हैं।

सज्जनों की यही प्रवृत्ति उनको आत्मसंतोष व पुण्य लाभ प्रदान करती है।

दुष्टों की प्रवृत्ति

अवमण्णेज्ज णो दुट्ठा, तियालम्मि कया अवि।
पादेण ताडिदा धूली, सिरस्सुवरि चिट्ठदे॥५०॥

अर्थ:-निश्चय से दुष्टों का अपमान कदापि भी नहीं करना चाहिए क्योंकि पैरों से ताड़ित की गई धूल सिर के ऊपर चढ़कर बैठती है।

One should never scorn the wicked person because the dust which is struck with foot comes to the head.

भावार्थ:-कोई भी आदर्श व्यक्ति कभी किसी का अपमान नहीं करता। अपमान या तिरस्कार करना शिष्टाचार के विरुद्ध है। आचार्य भगवन् श्री अमितगति स्वामी ने सम्यग्दृष्टि की चार भावनाएँ कहीं-

सत्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा परत्वम्।
माध्यस्थ भावं विपरीत वृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव॥

सभी प्राणियों में मैत्री भाव रखना, गुणी जनों में प्रमोद या आनंद का भाव रखना अर्थात् गुणी लोगों को देख मन उल्लसित हो, ईर्ष्या आदि की भावना स्थान न ले। दु:खी जीवों को देखकर ग्लानि आदि का भाव नहीं अपितु अंत:करण करुणा, दया से परिपूरित हो जाए और अंत में कहा कि जो लोग विपरीत प्रवृत्ति वाले हैं, प्रतिकूल हैं उनके प्रति माध्यस्थ भाव रखना।

माध्यस्थ अर्थात् तटस्थ। जिस प्रकार नदी दो तटों के बीच में बहती है परंतु उसे तटों से कोई मतलब नहीं होता उसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति धर्म के प्रतिकूल हो, समझाने पर आपकी बात न समझ रहा हो तब उसके प्रति न राग का भाव हो और न ही द्वेष का। अपमान तो शिष्टाचारी, सदाचारी व्यक्ति कभी किसी का करते भी

नहीं और करना भी नहीं चाहिए। किन्तु ग्रंथकार स्वाभिमान, स्वधर्म आदि की रक्षा हेतु बता रहे हैं कि भूल करके भी दुष्ट व्यक्ति का अपमान कभी नहीं करना चाहिए।

कहा जाता है कि दुष्टों की तो दोस्ती भी बुरी और दुश्मनी भी। दुष्ट से चाहे दोस्ती हो या दुश्मनी पर घात स्वयं का ही है।

सब दुष्ट संग से करते रहो किनारा।
ओछे से जिसने करी प्रीत वो हारा॥

एक बार हंस पक्षी किसी नदी के ऊपर से उड़ता हुआ जा रहा था। उसने नदी में जब चूहे को डूबता हुआ देखा तो उसका हृदय दया से आर्द्र हो गया। हंस तुरंत उसके पास आया, पंखों से उठाया और कहा तुम चिंता मत करो मेरे पंखों में छिपकर बैठ जाओ। हंस उड़ता हुआ एक पेड़ पर जाकर ही बैठा कि तभी सामने एक शिकारी धनुष बाण लिए खड़ा था जैसे हंस पक्षी ने उड़ने के लिए पंख फैलाए उसका एक पंख झड़ पड़ा क्योंकि चूहे ने उसके पंखों को कुतर दिया था। जिसके कारण वह हंस पक्षी शिकार बना और प्राणों को खोना पड़ा।

कहने का आशय यह है कि दुष्ट व्यक्ति अपनी दुष्टता नहीं छोड़ता। सर्प को कितना भी दूध पिलाओ वह उगलेगा तो विष ही। दुष्ट का कितना भी उपकार करो परंतु वह बदले में अपनी दुष्टता ही दिखाएगा। इसीलिए आचार्य भगवन् ने दुष्टों के प्रति माध्यस्थ भाव रखने को कहा। दुष्ट अपनी दुष्टता किसी सीमा तक नहीं छोड़ता। दुष्ट स्वभाव वाले व्यक्ति सज्जन व्यक्तियों के प्रति अपनी कितनी ही मलिन भावना प्रदर्शित करते हैं किन्तु यदि दुष्ट व्यक्ति अपना स्वभाव नहीं छोड़ते तो यह भी सत्य है कि सज्जन भी अपना स्वभाव नहीं छोड़ते अथवा नहीं छोड़ना चाहिए।

वर्तमान काल में बुराईयों को देख कभी व्यक्ति का मन बुराई की ओर आकर्षित होता भी हो किंतु उसे सदैव अपने गुणों का स्मरण रहना चाहिए, गुण-दोष भेद का विवेक होना चाहिए। दोष हमेशा दोष होते हैं और गुण हमेशा गुण। किसी के दोषों को देखकर अपनी गुण रूपी अमूल्य पंपदा को नहीं खोना चाहिए। वास्तविकता तो यह है कि जिसके पास जो होता है वह वही देता है। दुष्ट अपना दुष्ट व्यवहार और सज्जन अपना शिष्ट व्यवहार ही प्रदर्शित करता है।

एक बार दो पड़ोसी लम्बे समय से साथ में रह रहे थे। एक पड़ोसी का स्वभाव सा बन गया था दूसरे पड़ोसी को परेशान करना। एक दिन प्रातःकाल के समय एक पड़ोसी ने कचरे से भरी बाल्टी दूसरे पड़ोसी के द्वार के सामने रख दी और घंटी बजाकर चला गया। घंटी की आवाज सुनकर वह व्यक्ति घर से बाहर निकला तो कोई व्यक्ति नहीं किंतु कचरे से भरी बाल्टी उसे दिखी। वह अपने पड़ोसी की रोज की नई हरकतों से अंजान तो था नहीं इसीलिए उसने भी एक बाल्टी उठायी और अपने पड़ोसी के द्वार के सामने रख दी।

दूसरा पड़ोसी तो चाह ही यह रहा था कि घंटी बजाने से पहले ही उसने द्वार खोल दिया और चिल्लाकर कहने लगा कि यह क्या कचरा घर है तुरंत उसकी निगाह बाल्टी पर गई वह बाल्टी मिष्ट और स्वादिष्ट फलों व सुगंधित फूलों से परिपूरित थी। वह देख यह बड़ा आश्चर्यचकित हुआ और बोला "ये क्या, मैंने तो तुम्हारे घर के सामने कचरे की बाल्टी रखी और तुमने उसके बदले में फल-फूलों की बाल्टी रखी।" वह व्यक्ति बोला भैया ! इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है ज़िसके पास जो होता है वह वही देता है।

अतः दुष्ट अपनी दुष्टता नहीं छोड़ता तो कोई बात नहीं किंतु सज्जन को अपनी सज्जनता कभी नहीं छोड़नी चाहिए। ग्रंथकार

उज्ज्वल मार्ग निर्देशन देते हुए कह रहे हैं कि यूँ तो व्यक्ति को कभी किसी का अपमान नहीं करना चाहिए परंतु एक दृष्टांत के द्वारा अपनी बात को स्पष्ट कह रहे हैं। कि जिस प्रकार धूलि पर पैर मारने से वह मारने वाले के सिर पर चढ़कर बैठती है उसी प्रकार दुष्ट पुरुषों की प्रकृति है। दुष्टों का अपमान करना स्वयं के अपमान को आमंत्रित करना है अत: उनके प्रति माध्यस्थ भाव रख स्वयं के गुणों का वर्द्धन करने का प्रयास करें।

अतिथि सेवा

करेज्ज अदिहीणं च, पूय-सक्कार-आयरं।
मण्णदे अदिहिं देवो, धम्म-पेम्मस्स कारणं॥५१॥

अर्थ:-अतिथियों की पूजा, सत्कार, बहुमान व आदर करना चाहिये। जो धर्म और प्रेम का निमित्त है ऐसे अतिथि को देव माना जाता है।

Guests, who are the advocates of religion and love, should be honoured and respected by everyone. Guests is considered as god.

भावार्थ:-अतिथि का व्युत्पत्ति अर्थ है जिसके आने की तिथि निश्चित न हो। भारतीय संस्कृति में प्रारंभ से ही अतिथियों की पूजा-सत्कार-सम्मान की परंपरा रही है। इतना ही नहीं अतिथि के रूप में आए शत्रु का भी कभी अपमान या तिरस्कार नहीं किया गया अपितु उसको भी आदर-सम्मान के साथ स्थान दिया गया। भारतीय संस्कृति में अतिथि को देव माना जाता है। जिस प्रकार देवों के सम्मान आदि की परंपरा रही है उसी प्रकार अतिथियों के सम्मान की परंपरा भी रही है। आज भी भारत में कुछ स्थान ऐसे हैं जहाँ के लोग बाहर से आए यात्रियों का आदर-सत्कार करते हैं, अतिथि-सत्कार को अपना सौभाग्य मानते हैं, "अतिथि देव" यह संबोधन कर उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करने का प्रयास करते हैं।

धन्य है वह भारत भूमि जहाँ से सम्मान-सत्कार-बहुमान-आदर जैसे गुणों का प्रादुर्भाव हुआ। इस संस्कृति को, परंपरा को, संस्कारों को जीवंत रखना हमारा उत्तरदायित्व है। नीतिकारों ने भी कहा है कि जो व्यक्ति अतिथियों का आदर-सत्कार करने में तत्पर हैं उसकी आयु, बुद्धि, विद्या, कीर्ति, वृद्धिंगत होती है।

अतिथि सत्कार धर्म और प्रेम का भी निमित्त है। सम्मान कर उसने अपने धर्म का परिपालन तो किया ही साथ ही प्रेम भी वृद्धि को प्राप्त होता है।

अतिथि सेवा से टलें विपत्ति मृत्यु दुष्काल।
नृप सुख, सुर सुख दिव्यतन, पाकर बनें निहाल॥

एक समय एक राजा भ्रमणार्थ वन की ओर गए। वहाँ उन्हें सौभाग्य से एक मुनिराज के दर्शन हुए। मुनिराज से हाथ जोड़कर उन्होंने धर्मोपदेश देने का निवेदन किया। भव्य जानकर मुनि ने उपदेश दिया व अतिथि सेवा सत्कार की महिमा बतलाई। राजा ने उपदेश से प्रभावित होकर अतिथि सेवा का नियम ग्रहण किया और नमोस्तु कर मुनि की स्तुति करते हुए महल की ओर प्रस्थान किया। अब उसके राज्य में कोई भी साधु-संत आते अथवा द्वार पर कोई भी अतिथि आता वह उनकी अनुकूलता बनाने में प्रयासरत रहता, उनका आदर करता, सेवा करता।

एक बार राजा प्रातःकालीन बेला में नगर का भ्रमण करने निकले। भ्रमण करते-करते वे एक वन से गुजरे कि तभी उन्हें एक स्त्री के रोने की आवाज आई। रोने की आवाज सुनकर राजा उस स्त्री के पास पहुँचा और उसके रोने का कारण पूछा। वह बोली कि हमारे ऊपर दुःखों का पहाड़ टूट पड़ा हम अनाथ होने के कगार पर हैं। पिता समान हमारे राजा की मृत्यु अत्यंत समीप है। राजा यह सुनकर थोड़ा घबराया फिर बोला "तो क्या हुआ मृत्यु तो सबको आनी है किंतु तुम्हारे राजा को मारेगा कौन?" वह निश्चित दिन व समय बताते हुए बोली कि एक सर्प राजपथ से होता हुआ राजा के महल में पहुँचेगा एवं उसे डसेगा। यह कहकर वह स्त्री जोर से रोने लगी।

राजा इस बात को सुनकर जाने लगा किंतु यह पूछने कि यह सब उसे कैसे पता ज्यों ही पीछे मुड़ा वहाँ कोई स्त्री नहीं थी। दरअसल

में वह स्त्री के रूप में एक देवी थी। राजा वहाँ से चला गया और अतिथि-सेवा में तत्पर हो गया। देवी द्वारा बताया गया वह दिन भी शीघ्र आ गया। प्रथम तो वह विचलित हुआ परंतु बाद में विचार किया कि भले ही वह सर्प मेरी मृत्यु हेतु आ रहा है किंतु अतिथि सम्मान मेरा धर्म है वह सर्प भी मेरा अतिथि है। उसके स्वागत हेतु राजा ने वन से महल तक राजपथ फूलों से सुसज्जित किया, दोनों ओर खीर के कटोरे रखवाए।

अपने समयानुसार वह सर्प आने लगा। इन सब तैयारियों को देखकर सर्प बहुत प्रसन्न हुआ। महल में पहुँचकर राजा को डसने का उसका मन नहीं हुआ। वह सोचता है "मेरा इससे बैर जरूर था किंतु अतिथियों की, मुनियों-साधुओं की सेवा से इसने बहु पुण्य का अर्जन कर लिया है। आज मैं इससे अपना बैर खत्म करता हूँ।" वह सर्प अतिथि-सत्कार सेवा की भावना को जानकर उसे अपने मस्तक से मणी निकाल कर दे जाता है।

कहा जाता है अतिथि के रूप में भगवान भी आते हैं, कौन जानता है कब किसके वेश में कौन आ जाए।

अतिथि सेवा नित करो हे नर ! श्रेष्ठ पुमान्।
जाने कब किस भेष में मिल जायें भगवान॥

अतः अतिथियों का आदर-सत्कार-सम्मान करना चाहिए यह धर्म भी है और संस्कृति का संरक्षण भी।

दोष सदैव त्याज्य

पंके लिंपिय पायं णो, धोआदो लिंपणं वरं।
तहेव दोसजुत्तं हु, णो वत्थु-फासणं वरं॥५२॥

अर्थ:-पैर पर कीचड़ डालकर धोने की अपेक्षा जैसे उसमें पैर न डालना श्रेष्ठ है वैसे ही दोषप्रद वस्तु को न छूना ही श्रेष्ठ है।

Not putting the foot into the mud is better than to wash the foot after putting it into the mud. In the same way it is better not to touch faulty things.

भावार्थ:-झगड़े में, क्रोध में अथवा बड़ों की बातों को सुनकर अविनय पूर्वक प्रत्युत्तर न देकर मौन रहना ही श्रेष्ठ है, बीमारी हो उसका निदान करें उससे तो उसकी रोकथाम श्रेष्ठ है, ऊँची आवाज में उत्तर देने से सहजता व धीरे से अपनी बात को कहना श्रेष्ठ है, व्यर्थ समय गँवाने से अच्छे कार्य करना या अच्छी पुस्तकें पढ़ना श्रेष्ठ है, किसी को डाँटने से तो उसे प्रेमपूर्वक समझाना श्रेष्ठ है, किसी को अपशब्द कहने से तो सही शब्दों में अपनी बात को कहना श्रेष्ठ है, हिंसा, साधनों व प्रसाधनों में धन का उपयोग करने से तो किसी निर्धन व्यक्ति की सहायता कर देना श्रेष्ठ है, जिस विष वृक्ष के बड़े होने पर उसे नष्ट करना पड़े उसे पूर्व में न लगाना ही श्रेष्ठ है, चर्चा करनी ही हो तो गुणों की चर्चा करना श्रेष्ठ है, किसी राह पर अकेले चलने से तो दो का होना श्रेष्ठ है, कलह कारिणी, अवज्ञा करने वाली स्त्री से तो अविवाहित रहना ही श्रेष्ठ है, जिस घर में प्रभु का नाम न लिया जाता हो, जहाँ प्रेम, वात्सल्य व एकता न हो वहाँ रहने से तो अरण्य में निवास करना श्रेष्ठ है, कुल को कलंकित करने वाले पुत्र को जन्म देने से तो अपुत्रहीन होना श्रेष्ठ है, अपमान के साथ दिए गए अमृत से तो सम्मान के साथ दिया गया विष श्रेष्ठ है, कीचड़ में जाकर स्नान करने से तो कीचड़ में न जाना श्रेष्ठ है। कहा जाता है-

ऐसी जगह न बैठ, कोई कहे उठ।
ऐसी वाणी मत बोल, कोई कहे चुप॥

जहाँ से कोई आकर आपको उठा दे वहाँ ना बैठना ही श्रेष्ठ है और आपको बोलते हुए कोई चुप कर दे वहाँ मौन लेना या मिष्ट वचनों का प्रयोग ही श्रेयस्कर है।

प्रत्येक कार्य को करने से पूर्व उसके प्रभाव का भली-भाँति विचार कर लेना चाहिए। कई बार उतावलेपन में किए गए कार्यों से बाद में पछताना पड़ता है। किसी कार्य को कर पीछे पछताने से उसे न करना ही श्रेष्ठ है।

दोषप्रद वस्तु संभव है ग्रंथकार उस वस्तु से कहना चाहते हो जिससे व्यक्ति में दोषों की उत्पत्ति हो अथवा दूसरों की वस्तु जब तक उस वस्तु के स्वामी से आज्ञा नहीं ली तब तक वह वस्तु दोषप्रद ही है तो ऐसी वस्तु को कदापि ग्रहण नहीं करना चाहिए। दोषप्रद वस्तु, व्यक्ति में भी दोषों को उत्पन्न करने वाली होती है जिस प्रकार कीचड़ व्यक्ति को दूषित करती है उसी प्रकार दोषप्रद वस्तु, व्यक्ति को दोषाच्छादित करती है। बाद में ऐसी वस्तु को छोड़ने से उसे ग्रहण न करना ही श्रेष्ठ है। अत: वह वस्तु चाहे काया में दोष उत्पन्न करने वाली हो, मन में दोष उत्पन्न करने वाली हो या वाणी में दोष उत्पन्न करने वाली हो अथवा आचरण में, व्यक्तित्व में, क्रिया-चर्या में दोष उत्पन्न करने वाली हो, बुद्धिमानों को उसका परित्याग दूर से ही कर देना चाहिए।

हिंसा अशांति की जननी

वसणं पावकम्मं च, जत्थ खेत्तम्मि वड्ढ दे।
समिद्धी तत्थ णो संती, णो होदि मंगलं सुहं॥५३॥

अर्थ:-जिस क्षेत्र में पाप-कर्म, व्यसन बढ़ता है उस क्षेत्र में समृद्धि, शांति, मंगल, सुख विद्यमान नहीं होता।

The place where sins and addiction exist, tranquility, prosperity and happiness do not exist there.

भावार्थ:-जहाँ पर वृष्टि आदि समय पर हो अर्थात् फसल के लिए जब वृष्टि की आवश्यकता हो, तब हो तो वहाँ अकाल नहीं होता, जहाँ अनावृष्टि हो वहाँ सुभिक्ष नहीं होता, जहाँ अंधकार है वहाँ प्रकाश नहीं होता, जहाँ स्त्रियों द्वारा शील का पालन हो वहाँ धर्म का लोप नहीं होता, जहाँ मिष्ट वाणी बोली जाती हो, शिष्ट-इष्ट-मिष्ट आचरण किया जाता हो वहाँ झगड़ा नहीं होता, जहाँ गुरु की अविनय हो वहाँ विद्या का प्रादुर्भाव नहीं होता, जहाँ अग्नि हो वहाँ शीतलता का अनुभव नहीं होता, अपने इष्ट के बिना मार्ग सुगम नहीं लगता, अग्नि के बिना शाक का पकना नहीं होता, नेत्र ज्योति के बिना देखने रूप कार्य नहीं होता, नींव के बिना भवन नहीं होता, अहिंसा के बिना धर्म नहीं होता, धर्म के बिना समाज नहीं होती, समाज के बिना देश नहीं होता। इसी प्रकार जहाँ हिंसा, पाप, व्यसन बढ़ता है वहाँ शांति, क्षेम सुख, विद्यमान नहीं होता।

जब-जब धर्म, पुण्यादि की वृद्धि होती है तब-तब शांति, सुख की भी वृद्धि होती है, प्रकृति भी आनंदित होती है। तीर्थंकरों के गर्भ से 6 माह पूर्व से जन्म तक प्रतिदिन प्रत्येक संध्याकाल में 3-1/2 करोड़ रत्नों की वृष्टि होती है। राम के जन्म पर सभी वृक्ष मिष्ट व सुगंधित फलों से नम्रीभूत हो गए थे। कृष्ण के जन्म पर गायों के थन

से स्वत: दूध झरने लगा। चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज के जन्म वर्ष में खेतों में फसलें लहलहा उठी थीं। तीर्थंकरों के समवशरण के समय छ: ऋतुओं के फल-फूल एक साथ खिल उठते हैं। धर्म, अहिंसा आदि की वृद्धि प्रकृति को भी आनंदित करने वाली होती है। राष्ट्र, देश, राज्य में प्राचीनकाल से ही सुख शांति की स्थापना के लिए पूजा, यज्ञ, हवनादि क्रियाएँ प्रचलित हैं। धार्मिक अनुष्ठानों के माध्यम से सुखादि की संवृद्धि होती ही है जबकि पाप, अत्याचार, अनाचार, कदाचार जहाँ अधिक होते हैं तब प्रकृति भी एक सीमा तक सहन कर देश का विनाश कर उसका फल कुपित होकर देती है। प्रकृति के कुपित होने का अर्थ है-भूकंप, बाढ़, अकाल, दुर्भिक्ष आदि।

जिस प्रकार वैदिक परंपरानुसार कृष्ण ने शिशुपाल की 99 गलतियों को क्षमा किया और जब उसके पाप का घड़ा भर गया तब उसको दंडित किया। यह प्रकृति रूप कृष्ण, शिशुपाल रूपी हिंसक, व्यसनी प्राणियों को भी अंतिम सीमा तक सुधरने का मौका देता है कि जब तक तुम्हारे पाप का घड़ा नहीं भरा सम्हल जाओ अन्यथा पश्चाताप के अतिरिक्त कुछ भी शेष नहीं रहेगा। आप जानते हैं जहाँ-जहाँ प्रकृति कुपित हुई है उसका कारण वहाँ हिंसा, व्यसनादि की वृद्धि थी। कई स्थान व देशों में यह स्पष्टतया देखने को भी मिलता है। क्योंकि प्रकृति सबसे अधिक न्यायप्रिय होती है। प्रकृति का अर्थ है प्रकृष्ट कृति। यदि प्रकृति के साथ कोई भी छेड़छाड़ करता है तो वह अपना विकृत रूप दिखा देती है।

व्यक्ति की प्रकृति हिंसा झूठ, चोरी, पाप करना नहीं है यह तो इसकी विकृति है इसकी प्रकृति तो शांति, अहिंसा, सत्य, धर्म रूप है। अपनी प्रकृति को भुलाकर यदि वह पाप, व्यसन, दुराचार में लगा

हुआ है तब निश्चित रूप से प्रकृति दंडित करेगी। जिस देश में हिंसादि का वर्द्धन होता है वहाँ से निश्चय ही सुख, शांति आदि सब पलायन कर जाते हैं और दु:ख, क्लेश, अशांति, कलह आदि अपना स्थान बना लेते हैं।

खानपान सुरक्षित तो देश सुरक्षित

णिसाहारं हु उज्झेज्जा, मंसाहारं च मादगं।
धम्म-देसस्स रक्खेदुं, सुह-संतीइ कारणं॥५४॥

अर्थ:-धर्म व देश की रक्षा के लिए एवं सुख-शांति के लिए रात्रि भोजन, माँसाहार व मादक पदार्थों का त्याग करना चाहिए।

For the protection of religion and country and for attaining tranquility taking food at night, non-vegetarian food and intoxicating things must be given up.

भावार्थ:-हमारी संस्कृति अहिंसक है। अत: हमारा आचार-विचार-आहार अहिंसक ही होना चाहिए। कोई भी व्यक्ति अपने धर्म, परिवार, समाज, देश की सुरक्षा तभी कर सकता है जब वह पूर्ण स्वस्थ हो। व्यक्ति की अस्वस्थता उसे सुख शांति का अनुभव नहीं करा सकती। किसी भी कार्य को करने से पूर्व शरीर की निरोगता आवश्यक है। जिस प्रकार गाड़ी में खराबी होने से मंजिल तक नहीं पहुँचा जा सकता उसी प्रकार रोगी शरीर भी मंजिल को प्राप्त नहीं करा सकता। इसीलिए जैनाचार्यों ने शरीर-विज्ञान पर विस्तृत चर्चा की और ग्रंथ लिखे। इस विषय पर श्री उग्रदित्याचार्य का 'कल्याणकारकम्' एक महत्त्वपूर्ण एवं अनुपम ग्रंथ है। जिसमें उन्होंने कहा-

आरोग्य शास्त्रमधिगम्य मुनिर्विपश्चित,
स्वास्थ्यं स साधयति सिद्धसुखैक हेतुम्।
अन्यः स्वदोषकृतरोग निपीडितांगो,
बध्नाति कर्म निज दुष्परिणाम भेदात्॥

धर्म-ध्यान करने वाला, आध्यात्मिक वृत्ति वाला निरोगी रहना चाहिए। यह तभी संभव है जब उसे आरोग्य शास्त्र का ज्ञान हो।

आज अनेक भयंकर रोग हो रहे हैं वे सब असंयम के कारण और शरीर-विज्ञान का ज्ञान न होने के कारण हो रहे हैं। विश्व में सुख-शांति की स्थापना हेतु शरीर की स्वस्थता आवश्यक है स्वयं की सुरक्षा आवश्यक है। हमारे शरीर को स्वस्थ एवं बलवान रखने का मुख्य आधार है-आहार। अतः ग्रंथकार यहाँ तीन चीजों का निषेध करते हैं-रात्रिभोजन, माँसाहार व मादक पदार्थ।

रात्रि में भोजन करना स्वास्थ्य के लिए तो हानिकारक है ही और दुर्गतियों में भी भ्रमण कराने वाला है। महाभारत के शांतिपर्व में रात्रि भोजन को नरक का प्रथम द्वार कहा है।

श्वभ्रद्वाराणि चत्वारि प्रथमं रात्रि भोजनं।

नरक में जाने के मनुष्य के लिए चार द्वार बतलाए उनमें सबसे पहला द्वार रात्रि भोजन है न केवल जिनधर्म में अपितु अन्य धर्मों में भी रात्रि भोजन त्याग की बात कही। जिस प्रकार वैदिक ग्रंथ मार्कण्डेय पुराण में कहा है-

अस्तंगते दिवानाथे, आपो रुधिर मुच्यते।
अन्नं मांससमं प्रोक्तं, मार्कण्डेय महर्षिणा॥

सूर्यास्त हो जाने पर पानी पीना रुधिर पीने के समान है और अन्न खाना माँस खाने के समान है। अतः सूर्यास्त के पश्चात् अन्न-जल ग्रहण करना मनुष्य के लिए वर्जित है।

रात्रि भोजन करने वाला निकृष्ट योनियों में जन्म प्राप्त करता है। महाभारत में कहा है-

उलूककाकमार्जारः गृद्ध-शंबर-शूकराः।
अहिवृश्चिक गोधाश्च जायंते रात्रि भोजनात्॥

रात्रि में भोजन करने वाले इस पाप के फलस्वरूप उल्लू, कौआ, बिल्ली, गिद्ध, शूकर, साँप, बिच्छू, गोधा आदि निकृष्ट योनियों में जन्म लेते हैं।

आचार्य महाराज कहते हैं-

उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योः सहस्राणि कुयोनिषु।
आपनीपद्यते दुःखं कुधीर्यो निशि वल्भते॥

जो दुर्बुद्धि रात्रि में भोजन करता है, वह हजारों उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल खोटी योनियों में दुःख को प्राप्त करता है।

विश्व धर्म अहिंसामय है और रात्रि में अन्न के बर्तन व अग्नि आदि में अनेक जीवों की हिंसा होती है या कई घटनाएँ तो ऐसी पढ़ने सुनने में आती हैं जब रात्रि में, भोजन में छिपकली आदि गिरने पर वे स्वयं भी मृत्यु को प्राप्त हुए अतः अहिंसा धर्म के पालन के लिए, जीवों की रक्षा के लिए रात्रि भोजन छोड़ने योग्य है।

अन्धाः कुब्जकवामनातिविकला अल्पायुषः प्राणिनः,
शोकक्लेशविषाददुःखबहुलाः कुष्ठादिरोगान्विताः।
दारिद्र्योपहता अतीवचपला मन्दादराः स्युर्ध्रुवं,
रात्रौ भोजनलम्पटाः परभवे तिर्यक्षु श्वभ्रादिषु॥

रात्रि भोजन के लोभी मनुष्य परभव में तिर्यंच तथा नरकादि गतियों में अंधे, बौने, अत्यंत विकलांग, अल्पायु, शोक, क्लेश, विषाद तथा दुःख से परिपूर्ण, कोढ़ आदि रोगों से सहित, दरिद्रता से पीड़ित अत्यंत चंचल और अल्प आदर वाले निश्चित रूप से होते हैं।

संभव है जो वर्तमान में इस प्रकार की दशा वाले लोग देखने में आते हैं वे अपने रात्रि भोजन के फलस्वरूप अर्जित पाप को ही भोग रहे हों। अतः रात्रि में कभी भोजन नहीं करना चाहिए।

2 दिसम्बर 1999 की रात नैनीताल जिले के हल्द्वानी क्षेत्र के विवाह समारोह में सभी बराती हलुआ खाने से बीमार पड़े। जाँच करने पर ज्ञात हुआ कि बनाए गए भोजन में विषाक्त जन्तु गिर जाने से ऐसा हुआ।

ऐसी एक नहीं कई घटनाएँ हैं। एक हिंदी समाचार पत्र में एक समाचार प्रकाशित था कि एक कच्चे मकान का छप्पर घास-फूस का था। रात्रि में सब्जी बनाई उसमें साँप गिर गया। जिसने भी सब्जी खाई उसकी मृत्यु हो गई।

रात्रि में जीव जन्तु अपने बिलों से निकलकर बाहर आ जाते हैं, कीट-पतंगे भी रात्रि में ज्यादा होते हैं। कुछ जीव जो सूर्य के प्रकाश में उत्पन्न नहीं होते वे सूर्यास्त होते ही उत्पन्न हो जाते हैं। आप स्वयं देखते भी हैं कि दिन में उत्पन्न जीवों से कई ज्यादा गुना संख्या रात्रि में उत्पन्न जीवों की होती है। जिनमें से कई जीव तो ऐसे होते हैं जो चर्म चक्षुओं के माध्यम से देखने में भी नहीं आते और भोजन के साथ शरीर में जाकर रोग पैदा करते हैं।

रात्रि में भोजन करना स्वास्थ्य की दृष्टि से भी खतरनाक है। कई रोगों की उत्पत्ति तो रात में भोजन करने से ही होती है। सूर्यास्त के बाद पित्त कमजोर हो जाता है जिसके कारण भोजन पचता ही नहीं है। जो भोजन किया जाता है उसका खून नहीं, कफ बनता है। नाभि कमल, जहाँ जाकर अन्न पड़ता है वह सूर्यास्त के बाद सिकुड़ जाता है और सूर्योदय के बाद वापस खिल जाता है। हमारे शरीर में पाचन के लिए तीन पाइप हैं। जब ग्रास नीचे जाता है तो वे पाइप पिचकारी मारते हैं, उनमें से जो द्रव निकलता है वह पाचन में सहायक होता है। वे पाइप सूर्योदय के लगभग आधा घंटे बाद खुलते हैं और सूर्यास्त के आधा घंटे पहले बंद हो जाते हैं। पाचन के लिए हमारे गले से कुछ द्रव की बूँदें निकलती हैं, धीरे-धीरे चबाकर खाने से वे बूँदें पर्याप्त मात्रा में निकलती हैं जिससे भोजन जल्दी पच जाता है।

रात्रि भोजन से शरीर में भोजन का पाचन करने की शक्ति में कमी आ जाती है, आँतों में एन्जाइम कम मिलते हैं और सूर्य की गर्मी

भी भोजन के पाचन करने के लिए नहीं मिलती। रात्रि के समय वातावरण व खाद्य पदार्थों में कीटाणुओं की संख्या भी अधिक हो जाती है, जो जाने-अनजाने आहार करते समय मुँह से आँतों में चले जाते हैं। अतः फूड एलर्जी, अपचन व अन्य बीमारियों की आशंका रहती है। कई लोगों का कहना भी है कि रात्रि भोजन त्याग से उनके कई रोगों में लाभ हुआ है।

रात्रि भोजन त्याग स्वास्थ्य वर्द्धक तो है ही और बहु पुण्य को देने वाला है।

धनवन्तो गुणोदाराः सुरूपा दीर्घजीविताः।
जिनबोध समायुक्ताः प्रधानपद संस्थिताः॥

जगत् में जो धनवान्, गुणों से उदार, सुंदर, दीर्घायु जिनज्ञान से सहित और प्रधान पद पर स्थित हैं वे सब दिन में भोजन करने से हुए हैं।

आचार्य भगवन् श्री शिवकोटि स्वामी कहते हैं-

छत्र-चामर-वाजीभ-रथ-पादाति-संयुताः।
विराजन्ते नरा यत्र, ते रात्र्याहार वर्जिनः॥

अतः सूर्यास्त से पूर्व ही भोजन ग्रहण करना चाहिए

पुनः यहाँ ग्रंथकार माँसाहार को वर्जित बताते हैं। जब प्रकृति ने फल-फूल आदि सबकी व्यवस्था की है तब धिक्कार है मनुष्य की तृष्णा को जो प्राणियों का वध कर उनका भक्षण करता है। जहाँ मानव अहिंसा, प्रेम, मैत्री का संदेश प्रसारित करता है। उसी माहौल में, वातावरण में रहना चाहता है वहाँ आश्चर्य होता है कि किस निर्दयता के साथ वह प्राणियों का वध करता है और उनका भक्षण भी। क्या मानव का पेट प्राकृतिक वस्तुओं से नहीं भर सकता? वह विचार करे कि यदि कोई अपनी लोलुपता के लिए उसे अपना भोजन बनाए तो

उसे कैसा प्रतीत होगा? यही भाव वह दूसरे के लिए भी रखे। प्रत्येक प्राणी चाहे वह विष्टा का कीड़ा ही क्यों न हो, सबको अपने प्राण प्रिय होते हैं और जिसको दे नहीं सकता उसे लेने का भी अधिकार मानव को नहीं। माँस भक्षण व्यक्ति की बुद्धि भ्रष्ट करता है और निकृष्ट योनियों में भ्रमण कराता है।

शुक्र शोणित सम्भूतं त्रसांगिसंकुलं वलम्।
तद्भोजी नरकं याति यावच्चंद्रदिवाकरौ॥

माँस शुक्र-शोणित से उत्पन्न होता है तथा त्रस जीवों से व्याप्त रहता है, उसे खाने वाला जीव तब तक नरक जाता है जब तक सूर्य और चंद्रमा हैं।

स्वल्पायुर्विकलो रोगी विचक्षुर्बधिरः खलः।
वामनः पंगुलः षंढो जायते स भवे-भवे॥

माँस खाने वाला जीव भव-भव में अल्पायु, विकलांग, रोगी, नेत्रहीन, बहरा, दुर्जन, बौना, लंगड़ा और नपुंसक होता है।

एक सर्वे किया गया जिसमें देखा गया कि शाक-सब्जी या सात्विक आहार करने वालों के परिणाम माँसाहार करने वालों से शांत, सात्विक व अहिंसात्मक थे। उनके हृदयों में करुणा मैत्री की भावना भी अधिक थी। शाकाहारी जीवों का विवेक जागृत रहता है। माँसाहार बुद्धि-विवेक को नष्ट कर देता है, उत्तेजना पैदा करता है और हिंसात्मक विचार व आचरण को देता है। आहार का मन पर पूर्ण प्रभाव पड़ता है। संतुलित आहार व्यक्ति को भी संतुलित करता है। अतः राष्ट्र में सुख-शांति की स्थापना के लिए चाहिए कि व्यक्ति शाकाहार करे। यह तन, मन, वचन के लिए तो अच्छा है ही साथ ही दुर्गति से भी बचाता है। आचार्य भगवन् श्री शिवकोटि मुनिराज ने "रत्नमाला" में कहा है-

मद्य मांस मधु त्याग-फलं केनानुवर्ण्यते।
काक मांस निवृत्याऽभूत्, स्वर्गे खदिरसागरः॥

मदिरा, माँस और शहद के त्याग के फल को किसके द्वारा कहा जा सकता है। कौए के माँस का त्याग करने से खदिरसागर को स्वर्ग की प्राप्ति हुई।

खदिरसार नामका एक भील था। एक दिन वह शिकार करने वन में पहुँचा। वहाँ उसे दिगंबर मुनिराज के दर्शन हुए। उसने मुनि को प्रणाम किया मुनि ने उसे माँस त्याग को कहा। वह बोला "हे देव ! मैं तो भील हूँ। मेरे लिए तो यह असंभव है। माँस के अतिरिक्त मैं तो और कुछ खाता नहीं।" मुनि ने कहा "ठीक है तो जिस माँस का भक्षण तुमने आज तक नहीं किया उसका त्याग कर दो।

उसने मुनि से कौए के माँस के त्याग का नियम ग्रहण किया वह बोला मुनिराज मैंने आज तक कौए का माँस नहीं खाया।

एक समय खदिरसार भील का स्वास्थ्य बहुत खराब हुआ। वैद्य जी ने कहा तुम्हारी इस बीमारी का इलाज कौए का माँस है। पहले तो खदिरसार भील ने हाँ कह दिया किंतु फिर उसे अपना नियम याद आया और उसने कौए का माँस खाने को मना कर दिया। वैद्य जी ने कहा फिर तो तुम्हारे प्राणों की रक्षा नहीं की जा सकती। भील ने कहा कुछ भी हो जाए किंतु मैं कौए का माँस नहीं खाऊँगा। उसकी पत्नी ने, परिवार वालों ने बहुत समझाया कितु वह अपने संकल्प में दृढ़ रहा। पत्नी ने खदिरसार को समझाने हेतु अपने भाई को बुलाया।

जब वह भाई रास्ते में वन से गुजरा तो एक स्त्री रोती हुई मिली। उसने उस स्त्री के रोने का कारण पूछा। वह बोली "मैं व्यंतरणी देवी हूँ। जिसको तुम समझाने जा रहे हो वह कौए के माँस के त्याग के प्रभाव से, मेरा पति होगा और यदि तुम समझा दोगे तो वह पति न

होकर दुर्गति में जाएगा।'' वह बोला ''तुम चिंता न करो मैं औपचारिकता के लिए तो कहूँगा परंतु जिद न करूँगा। उसने ऐसा ही किया किंतु जब खदिरसार ने मना कर दिया तो बोला ''आप धन्य हैं, कौए के माँस के त्याग के प्रभाव से आप देव होंगे।'' और रास्ते की पूरी घटना कह सुनायी, यह सुनकर खदिरसार आश्चर्य चकित हुआ और एक माँस के त्याग का प्रभाव देख सब प्रकार के माँसादि का त्याग कर दिया एवं अणुव्रतों को स्वीकार कर मृत्यु को प्राप्त हुआ।

कुछ दिन पश्चात् भीलनी का भाई लौटकर जाने लगा तो उसे मार्ग में फिर वह स्त्री रोती हुई मिली। वह बोला ''अब क्यों रो रही हो, अब तो वे तुम्हारे पति हो गए।'' देवी बोली ''नहीं, तुमने उन्हें सच्चाई बता दी, जिससे उन्होंने सभी माँसों का त्याग कर दिया और ऊँचे देव हुए हैं।''

माँस त्याग से व्यक्ति इह लोक और परलोक दोनों में सुख प्राप्त करता है।

अगली बात मदिरा आदि नशीले पदार्थों का सेवन भी कदापि नहीं करना चाहिये। यह व्यक्ति की बुद्धि भ्रष्टकर उसे गलत मार्ग पर अग्रसर कर देती है। जो मदिरा माता व पत्नी के बीच में भेद न करवा पाए, धिक्कार है उसे। अनन्त जीव राशि से युक्त यह मदिरा व्यक्ति के तन वचन और मन तीनों को खराब कर देती है। यह मदिरा ही द्वारिका के नाश का कारण बनी थी।

वर्तमान में कितने लोगों का हृदय, किडनी आदि मदिरा से खराब हुए हैं, कितनी गंभीर बीमारियों का शिकार नशीले पदार्थों के कारण हुए हैं, कितने ही लोग मृत्यु को प्राप्त हो रहे हैं। विडंबना है उसके दुष्प्रभाव को जानते हुए भी लोग हर प्रकार से नाश करने वाली मदिरादि नशीली वस्तुओं का सेवन कर रहे हैं। जहाँ लोग अपनी

विवेक-बुद्धि खो दें वहाँ सुख-शांति की स्थापना की कल्पना भी कैसे की जा सकती है। आचार्यों ने कहा है-

मदः प्रमादः कलहश्च निद्रा ह्यर्थक्षयो जीवननाशनं च।
धर्मस्य हानिर्नरकस्य पन्था अष्टावनर्थाः सरके गृहीते॥

मद, प्रमाद, कलह, निद्रा, धन नाश, जीवन नाश अर्थात् मृत्यु, धर्म की हानि व नरक का मार्ग ये 8 अनर्थ मदिरा के ग्रहण करने पर होते हैं।

वैरुप्यं व्याधिपिण्डं स्वजनपरिभवः कार्यकालातिपातोः,
विद्वेषो ज्ञाननाशः स्मृतिमतिहरणं विप्रयोगश्च सद्भिः।
पारुष्यं नीचसेवा कुलबलचलनं धर्मकामार्थ हानिः,
तिष्ठंते षोडशैते पुरुषभयकरा महापानस्य दोषाः॥

विरूपता, रोगसमूह, आत्मीयजनों के द्वारा तिरस्कार, कार्य में विलंब, विद्वेष, ज्ञान का नाश, स्मरण शक्ति और बुद्धि का हरण, सत्पुरुषों के साथ वियोग, प्रकृति में रूक्षता, नीच सेवा, कुल व बल का विचलित होना और धर्म अर्थ काम की हानि ये सोलह, पुरुष को भय उत्पन्न करने वाले मद्यपान के दोष हैं।

अतः स्व-पर कल्याण के लिए व्यक्ति को मदिरा आदि नशीले पदार्थों से सर्वथा दूर रहना चाहिए।

रात्रि भोजन, माँस व मदिरा त्याग कर व्यक्ति स्वयं का कल्याण तो करता ही है, दूसरे के कल्याण में भी निमित्त बनता है। जो व्यक्ति अपने जीवन में सुख-शांति की स्थापना कर सकता है, वही राष्ट्र में सुख-शांति की स्थापना कर सकता है। अतः अपने जीवन को उत्कृष्ट व शांतिमय बनाने हेतु इनका परित्याग आवश्यक है।

विश्व धर्म-अहिंसा

धम्मो अणाइ-यालादो, अहिंसा खलु विज्जदे।
जेण धम्मेण विस्सम्मि, सुहं संती य वड्ढदे।।५५।।

(विश्व में) अनादिकाल से अहिंसा धर्म विद्यमान है। जिस धर्म के द्वारा विश्व में सुख-शांति निश्चय से वृद्धि को प्राप्त होती है।

Non-violent religion is prevalent from immemorial times in the world. It is surely instrumental in increasing peace and happiness in the world.

भावार्थ:-आचार्यों ने अपने प्राकृत ग्रंथों में "धम्मो मंगल मुक्किट्ठं" कहा है अर्थात् धर्म मंगलमय व उत्कृष्ट है। धर्म हमें उत्कृष्ट मंगलमय जीवन-यापन करने की प्रेरणा देता है। धर्म के सिद्धांत प्रेरणादायक सिद्धांत हैं उनके पीछे परम विवेक है।

आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी ने कहा-"वत्थु-सहावो धम्मो" वस्तु का स्वभाव धर्म है। जैसे शक्कर का स्वभाव मीठापन है, नमक का स्वभाव या धर्म खारापन है, नीम का कड़वा और मिर्च का चरपरा है। वस्तु का धर्म, उस वस्तु (धर्मी) से कभी अलग नहीं होता उसी प्रकार आत्मा का धर्म भी अहिंसा है, हिंसा उसका स्वभाव नहीं है।

मानव जीवन में अहिंसा धर्म मंगलकारी है, धर्म हिंसक भाव उत्पन्न नहीं होने देता। किंचित् हिंसक भाव भी आत्मा को मलिन कर देते हैं। किसी के प्रति बुरे विचार पहले स्वयं का बुरा, अनिष्ट कर बैठते हैं। किसी के मुँह को कालिख लगाने से पूर्व स्वयं का हाथ काला होता है। मन में हिंसात्मक विकल्प उठते ही मन व आत्मा मलिन हो जाती है। यदि संसार में कोई मंगलमय धर्म है तो केवल अहिंसा धर्म है। अहिंसा किसी संप्रदाय, जाति अथवा देश की संपत्ति नहीं है यह प्रत्येक आत्मा की संपत्ति है।

वादिवृषभ आचार्य ने स्याद्वाद में लिखा है कि प्रत्येक आत्मा में अहिंसा विद्यमान है।

कोई प्राणी सर्वथा हिंसक नहीं है। कसाई भी आंशिक अहिंसक है क्योंकि वह भी अपने पाले हुए कुत्ते को मारने नहीं देता। अपने बच्चों की सुरक्षा करता है। जहाँ वह भक्षक है, दूसरे रूप में रक्षक भी है, जहाँ रक्षक है वहीं दूसरे रूप में भक्षक भी है। आचार्यों ने बहुत मनोवैज्ञानिक ढंग से इसका विवेचन किया है। शेर अपने बच्चे को दाँत से पकड़कर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाता है पर इससे उस बच्चे को जरा भी कष्ट नहीं होता क्योंकि वहाँ उसके रक्षा के भाव हैं। जो दूसरों के प्रति हिंसक है वह भी अपने बच्चे परिवार के प्रति अहिंसक है। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा में अहिंसक भाव प्राकृतिक है।

हमारे देश की परंपरा सदैव अहिंसक व धार्मिक रही है हमारे यहाँ के क्षत्रिय राजा शाकाहारी थे। महाराज जनक के जीवन चरित्र में लिखा है कि वे माँस परित्यागी थे।

"निवृत्तमासस्तु तत्र भवान् जनकः" -उत्तर रामचरित 4/1 राम का संदेश लेकर हनुमान जब सीता के पास पहुँचे तब सीता ने हनुमान पर राम का अनुचर होने का विश्वास नहीं किया और पूछा कि तुम राम के स्वभाव, रहन-सहन, खान-पान के बारे में बताओ, तभी मैं विश्वास कर पाऊँगी। तब हनुमान ने बताया कि-

न मांसं राघवो भुक्ते न चैव मधु-सेवते।
वन्यं सुविहितं नित्यं भक्तमश्नाति केवलम्॥

राम माँसाहार नहीं करते वे शाकाहारी हैं, वे मधु का सेवन नहीं करते, वे चावल का ही सेवन करते हैं, इत्यादि-इत्यादि। तभी सीता को हनुमान पर विश्वास हुआ।

दिव्यावदान ग्रंथ में लिखा है-अशोक के समक्ष प्याज परोसने पर अशोक ने कहा कि-"हे देवि! मैं उच्चकुलीन क्षत्रिय हूँ, मैं प्याज ग्रहण नहीं करता हूँ, तुम प्याज को हटा दो।

देश के वीर योद्धा महाराणा प्रताप को जब युद्ध के समय वन में निवास करना पड़ा तब उन्होंने घास की रोटियाँ तो खानी पसंद कीं किंतु माँस की बोटियों को हाथ तक नहीं लगाया।

अनादिकालीन अहिंसा को परम धर्म कहा गया है। "अहिंसो परमो धर्म:" अहिंसा विशाल है, समस्त चीजें, समस्त कार्य अहिंसा के लिए हैं। चौराहे पर लालबत्ती है, वह अहिंसा के लिए है। वह कहती है आप रुक जाइये वरना आपकी हिंसा हो सकती है, यातायात नियंत्रक पुलिस भी अहिंसा के लिए ही कार्यरत है कि दो गाड़ियाँ आपस में टकरा न जाएँ। मजिस्ट्रेट-अहिंसा के लिए, रक्षा के लिए हैं। कानून, विधान सभायें, मंत्री आदि सभी अहिंसा के लिए हैं, देश की सुरक्षा के लिए हैं। सीमा पर खड़ी सेना हिंसा के लिए नहीं है अपितु हमारी कोई हिंसा न कर पाए, हमारी सुरक्षा के लिए है। यदि अहिंसा ही न रहे तो देश में सुख-शांति-समृद्धि की कल्पना करना बिना नींव के भवन-निर्माण करना है।

अहिंसा हमें निर्माण सिखाती है, विध्वंस नहीं। एक अहिंसा के बल पर गाँधी जी ने पूरे देश को स्वतंत्र करा दिया। इस सृष्टि में जितना उपकार पशु-पक्षियों ने मानव पर किया है उतना शायद मानव-मानव पर नहीं कर सका। मानव जाति ने इतनी मात्रा में किसी को जल पिलाकर तृप्त नहीं किया होगा, जितना गौवंश ने मानव जाति को दूध पिला कर पोषण दिया है। ऐसे परोपकारी मूक पशु-पक्षियों को मारने, आगजनी आदि से हिंसा फैलाना कहाँ तक शोभनीय है।

सम्राट अशोक ने अहिंसा के प्रसार के लिए जगह-जगह शिलालेख लिखवाये। दिल्ली कोटला में अशोक का शिलालेख है कि मेरे राज्य

में निर्ग्रंथ मुनि व अन्य जो भी साधु इधर-उधर विहार करें, घूमें मेरे अमात्य और महामात्य सब ऐसी व्यवस्था करें कि उन्हें कोई बाधा अथवा कष्ट न हो। उसी महान् अहिंसक सम्राट का चक्र हमारे देश के ध्वज के मध्य शोभायमान है।

गृहस्थी व शासक के लिए गृह शासन व देश का शासन करते समय अहिंसा बाधक नहीं होती। ऐसी अहिंसा को बाधा मानने वालों ने अभी इसके विराट स्वरूप को समझा ही नहीं। गृह स्वामी व शासक का अपने सदस्य व प्रजा का पालन करना, उनकी रक्षा करना धर्म है परन्तु वे साथ ही करुणावान् भी होते हैं। व्यर्थ में हिंसात्मक कार्य, हत्यायें, युद्ध नहीं करते। निरपराध प्राणियों का वध नहीं करते। सम्राट अशोक ने गिरनार शिलालेख में स्पष्ट लिखा है कि अभिहिंसा नहीं होनी चाहिए अभिहिंसा अर्थात् विशेष रूप से की गई हिंसा, शिकार। क्षणिक सौंदर्य, खेल, स्वाद के लिए निरपराध प्राणियों की हत्या कहाँ तक उचित है? नहीं, यह सर्वथा अनुचित है। अहिंसा से महान् और कोई धर्म नहीं।

अतः सबके प्रति दया, करुणा, अहिंसा के भाव रखने चाहिये, उपकारक दृष्टि होनी चाहिए। पेड़ भी छाया, फल, फूल इत्यादि प्रदान करता है तो मनुष्य क्या इनसे भी नीचे स्तर पर हैं? नहीं। यदि प्रत्येक मनुष्य अपना कर्त्तव्य पालन करे, स्व-पर रक्षा के भाव रखे, स्वयं शांतिपूर्वक जिये और दूसरों को भी शांतिपूर्वक जीने दे तभी विश्व में सुख-शांति वृद्धिंगत हो सकती है, देश खुशहाल हो सकता है।

अहिंसा प्राणीमात्र का आत्मधर्म भी है। यह वस्तु स्वरूप होने से सभी को प्रिय है। 'वेरं मज्झं ण केण वि' कहने वाले तीर्थंकर विश्व के संपूर्ण जीवाजीव से निर्बैर थे। सब मानवों से, अशेष कीटपतंगों से, विश्व के प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष अणुमहत् परमाणु पुद्गलों से असीम

करुणामय व्यवहार करना अहिंसा धर्म का आरंभिक पाठ है। तीर्थंकर और उनके अनुयायियों ने अहिंसा को चारित्र रूप देकर मानवजाति का महान उपकार किया है। अहिंसा मूलक आचार से आर्यभूमि के कण-कण को अपनी स्वेच्छया संचारशील चरणविभूति से निरंतर पवित्र करने वाले जैनाचार्यों, मुनियों और तपस्वियों ने मानव को हिंसक पशुवृत्ति से ऊपर उठाकर मानवता की दयामयी मणिशिला पर प्रतिष्ठित किया है।

इस शब्द की मधुरता को चखकर प्राणियों के परस्पर वैरभाव का उपशमन होता है। बैरभाव की निवृत्ति से हृदय में शांति की शीतल धारा प्रवाहित होती है। अहिंसा के इस आत्मदर्शन मूलक धर्म का प्रभाव विश्व के सभी धर्मों पर छाया हुआ है। **''अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः''** अहिंसा की प्रतिष्ठा रखने से अहिंसक के पास बैर त्याग की भावना का उदय होता है। **''निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पांडव''** जो तत्त्वचिंतन की ओर प्रवृत्त हो सकता है, सब प्राणियों में बैर रहित है वह मोक्ष को प्राप्त होता है। **मा हिंस्याः** हिंसा मत करो। इत्यादि जीवन-सूत्र हिंदू शास्त्रकारों ने भी लिखे।

एक बार राजा, अमरचंद दीवान को अपने साथ वन में शिकार के लिए लेकर गए। अमरचंद दीवान अहिंसा के पुजारी थे परंतु राजा को क्या कहें? दुःखी मन से वे राजा के साथ जंगल में पहुँचे। उन्हें देखते ही हिरणों का झुंड भागने लगा। तब अमरचंद दीवान ने आवाज लगाई ''हे मृगो! रुक जाओ कहाँ जाते हो? जब रक्षक ही भक्षक बन जाए तब कौन तुम्हारी रक्षा कर सकता है। सब मृग वहाँ खड़े हो गए। राजा यह देखकर आश्चर्यचकित हुआ पूछा ''ये कैसे संभव है, क्या मृग तुमसे डरे नहीं?'' दीवान जी बोले राजा यह अहिंसा की भाषा का प्रभाव है। यदि अहिंसा हो तो पशु-पक्षी भी प्रेम-वात्सल्य से बात समझते हैं।

अमरचंद से दरबार के कुछ लोग ईर्ष्या करते थे। एक दिन उन्होंने राजा से कहा पिंजरे के शेर की रखवाली और खाने आदि का प्रबंध अमरचंद को सौंप दें। राजा ने ऐसा ही किया। अमरचंद दीवान समझ गए कि यह सब विरोधियों का किया है। क्योंकि वे जानते थे कि अमरचंद अहिंसक हैं और शेर को खाने को माँसादि देना पड़ेगा जो वो नहीं दे पाऐंगे जिससे राजा उन्हें क्रोधित होकर दंडित करेंगे।

अमरचंद जी ने शेर को माँसादि न भेज भोजन दिया जो शेर ने नहीं खाया और ऐसे तीन दिन बीत गए। तब अमरचंद दीवान हाथ में जलेबी का थाल लेकर स्वयं पहुँचे और पिंजरा खुलवाकर वह थाली रखकर बोले "हे वनराज ! मैं अहिंसक हूँ, किसी जीव को मार नहीं सकता। तुम्हें माँस खाने के लिए नहीं दे सकता या तो तुम ये जलेबियाँ खाकर अपनी भूख मिटा लो या मैं स्वयं तुम्हारे सामने उपस्थित हूँ।" यह सुनकर सिंह ने बिना कुछ कहे जलेबियाँ खा लीं। यह है अहिंसा की महान शक्ति।

जो अहिंसा सिंह जैसे हिंसक पशु को भी सात्विक बना सकती है वह अहिंसा यदि मनुष्यों को सात्विक बना दे, विश्व में शांति की स्थापना कर दे तो इसमें कौन सा आश्चर्य है।

अहिंसैव जगन्माताऽहिंसैवानन्दपद्धतिः।
अहिंसैव गतिः साध्वी श्रीरहिंसैव शाश्वती॥

अहिंसा जगत की माता है, अहिंसा ही आनन्द-पद्धति है। अहिंसा ही श्रेष्ठ गति है और अहिंसा ही शाश्वतिक लक्ष्मी है।

इस सृष्टि के प्रत्येक जीव को जीने का अधिकार है। अहिंसा से ही हम अपने और दूसरे प्राणियों के अस्तित्व की रक्षा कर सकते हैं। अहिंसा धर्म अनादिकाल से है। यह सब धर्मों से श्रेष्ठ है। इसमें सभी धर्म समाहित हैं। परस्परोपग्रहो जीवानाम् इसका मूलमंत्र है। यह विश्व धर्म की ही बात है।

अहिंसा के सिद्धान्तों पर चलकर ही विश्व में शांति स्थापित हो सकती है। प्राणियों के ऊपर दयाभाव रखना ही अहिंसा धर्म का स्वरूप है। शांति-सुख, धन दौलत से नहीं मिलती, वह तो मात्र अहिंसा के मार्ग पर चलने से मिलती है। दूसरों की सेवा और किसी को दु:ख न देने की भावना में ही सुख शांति विद्यमान है। लोक में माता का स्थान रक्षा करने वालों में सबसे बड़ा माना गया है। पुत्र या पुत्री के संकट में वह साथ नहीं छोड़ना चाहती, जैसे-तैसे भी उनकी रक्षा करती है। यही बात अहिंसा में भी है अत: उसे मातृ रूपा कहा। यह माता की गोद के समान समस्त प्राणियों को अभय प्रदान करने वाली है। अबोध बालक के मुख से जन्म के अनंतर बिना कुछ सिखाए ही माँ शब्द की ध्वनि निकल पड़ती है। अत: यह सिद्ध है जो रक्षा करे वह माँ है। अहिंसा को परम ब्रह्म परमात्मा कहा।

अहिंसा को हृदय से पालन करना, व्यवहार से भी हिंसा न हो उसका ध्यान रखना प्रत्येक मानव का कर्त्तव्य है। विश्व की रक्षा का मूल कारण अहिंसा धर्म है। विश्व का सर्व सम्मत, विश्वहितकारी धर्म अहिंसा धर्म ही है। अत: संपूर्ण विश्व में लोकप्रिय धर्म अहिंसा मयी है। समस्त धर्मों में प्राचीन धर्म अहिंसा-धर्म है। अहिंसा आत्मा का सहज व प्रांजल धर्म है। अहिंसा किसी धर्म या संप्रदाय की बात नहीं है बल्कि एक आदर्श जीवन शैली है जो प्राणीमात्र को आपस में मिलजुलकर रहना और सहयोग करना सिखाती है। अहिंसा के बल पर ही मनुष्य का सामाजिक रूप सुरक्षित रह सकता है।

मात्र अहिंसा ही एक ऐसा शस्त्र है जिससे हमारे जीवन मे ही नहीं, सारे विश्व में शांति की स्थापना होगी। विश्व तभी सुरक्षित रह सकता है जब प्रत्येक राष्ट्र व उसके नागरिक अहिंसा को समझें और इसका पालन करें। यह अहिंसा धर्म मानवता का धर्म है, राष्ट्र शांति का मर्म है और विश्व शांति का मंत्र है।

शाकाहार

अदेज्जा णियमेणज्जा, सागाहारं सया सया।
संतिं लहंति ते णेणं, बे-लोयम्मि सुहंकरो।।५६।।

अर्थः-निश्चय से आर्यों को सदा शाकाहार करना चाहिए, इससे वह शांति को प्राप्त करता है और यह दोनों (इह व पर) लोक में सुख को करने वाला है।

Virtuous people should always take vegetarian food. Because of this they attain peace.

भावार्थः-हमारे देश की संस्कृति, परंपरा और धर्म अब तक जीवित है इसका कारण है-भोजन। भोजन का सुरक्षित रहना इनकी जीवंतता का कारण है। खान-पान की शुद्धि अत्यंत आवश्यक है, कहावत है-**''जैसा खाओ अन्न, वैसा होवे मन।''** व **''यथा मतिस्तथा गतिः।''** जैसी बुद्धि वैसी गति। व्यक्ति जिस प्रकार का भोजन ग्रहण करता है उसके परिणाम भी उसी प्रकार के हो जाते हैं। माँसाहार विचारों में से सत्ववृत्ति का संहार कर देता है।

जो विषयाग्राही दिढमूढ़ दुर्जन शरीरवादी हैं उन्हें ही जीववधजनित यह आमिषाहार रुचता है **''आहार शुद्धौ सत्त्वशुद्धिः''** यह मनीषियों की गवेषणा है। अतः प्रथम तीर्थंकर श्री आदिनाथ भगवान् ने अन्नोपदेश या कृषि उपदेश दिया और इसको दृष्टिपथ में रखते हुए कोई भी ईमानदार व्यक्ति यह घोषणा कर सकता है कि भगवान् आदिनाथ ने अहिंसक विश्व रचना के प्रथम सूत्र को आहार में देखा और उसके लिए उपाय किया। उनका यह अनुशासन संपूर्ण सत्-संस्कारों की आधारभूमि कहा जा सकता है। क्योंकि **''अन्नमयोऽयं पुरुषः''** यह पुरुष अन्नमय है। आयुर्वेद शास्त्र का अभिमत है कि **'रसासृक्माँसभेदोऽस्थि मज्जशुक्राणि धातवः'** मनुष्य शरीर में सात

धातुएँ हैं। खाए हुए अन्न से रस, रस से रक्त, रक्त से माँस, माँस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा और मज्जा से शुक्र बनता है। इस रस परंपरा में मूल रसायन पदार्थ के गुण ही संक्रांत होकर वीर्य तक चले जाते हैं। जो हित-मित और सत् भोजन करता है, उसका प्रभाव उसके परिणामों पर होता है अतः शांति, सौमनस्य, दया, प्रेम, अहिंसा और विश्व बंधुत्व के लिए 'अन्नमय' आहार लेना आवश्यक है। अन्नवर्जित आमिष आहार का प्रभाव मनुष्य की मति, मेधा प्रवृत्ति और भावनाओं पर पड़ता है तथा उसे लोभी, दम्भी, स्वार्थी, कदाशयी और हीन मनोवृत्ति वाला बना देता है।

आज मनुष्यों में जो नैतिक पतन हो गया है उसका कारण आहारविवेक न रखना ही है। जिस जिह्वा पर भगवान की स्तुति रखते हैं, उसी पर माँस रखते हुए उनका हृदय इस विसंगति से भीत होकर क्या दीर्ण नहीं हो जाएगा? जिन हाथों से जिनबिंब के चरणस्पर्श का सौभाग्य मिलता है, जिन हाथों से अन्य पुण्य कार्य करते हो उन्हीं से अस्पृश्य आमिष उठाने का साहस कर सकोगे क्या? क्या वे हाथ फिर चरणस्पर्श के योग्य रह सकेंगे? पवित्र आगम शास्त्रों को उन हाथों में लेने का दम कैसे भरोगे? जिन हाथों से अपने पुत्र-पुत्रियों को, बच्चों को प्रेम करते हो, क्या किसी और की संतानों के मृत कलेवर को उठाने में हाथ कंपित नहीं हो जाऐंगे? क्या एक बार भी तुम्हारा हृदय चिल्लाकर नहीं कहेगा कि आज जिनका कलेवर खाकर तुम आनंद मना रहे हो कल वैसा ही यदि तुम्हारे बच्चों के साथ हुआ तो क्या देख पाओगे, क्या सह पाओगे? पशु-पक्षी हैं तो क्या हुआ, हैं तो वे भी किसी की संतान, किसी की माँ आदि।

भारत में रहकर भारतीय संस्कृति को अपनाने का दावा करते हैं किंतु भारतीय संस्कृति ने कभी किसी के प्राण लेना नहीं सिखाया।

व्यक्ति जिन भी आराध्य को मानता हो किंतु किसी भी धर्म के किसी भी आराध्य ने आज तक माँस सेवन नहीं किया। चाहे वे महावीर हों या राम, कृष्ण हों या हनुमान, पैगम्बर हों या ईसा, बुद्ध हों या नानक या अन्य कोई भी। तो जिस निकृष्ट माँसाहार को तुम्हारे आराध्यों ने स्वीकार नहीं किया उसको तुम कैसे स्वीकार कर सकते हो। भारत एक धर्म निरपेक्ष देश है। यहाँ प्रत्येक व्यक्ति को अपना धर्म स्वीकारने की स्वतंत्रता है किंतु ऐसा कोई धर्म नहीं जहाँ माँसाहार की पुष्टि की गई है। अत: स्व-पर कल्याण हेतु माँसाहार का त्याग करें।

''पृथिव्यां त्रीणि रत्नानि जलमन्नं सुभाषितं'' पृथ्वी पर तीन ही रत्न हैं अन्न, जल व अच्छे वचन। अत: अन्न ग्रहण करो। शाकाहारी जीवन राष्ट्र में सुख-शांति की स्थापना कर सकता है वरना बिलबिलाते करोड़ों प्राणियों के करुण स्वर, अति रुदन व उनकी आंतरिक पीड़ा से जब तक राष्ट्र गूंजता रहेगा तब तक वहाँ सुख-शांति की कल्पना भी नहीं की जा सकती। जिस घर में एक व्यक्ति कराह रहा हो उस घर की सुख शांति भंग हो जाती है तब जहाँ करोड़ों पशु बिलख रहे हों उस राष्ट्र में सुख-शांति की स्थापना कैसे हो सकती है? दूसरों को शांति देकर ही स्वयं शांति प्राप्त की जा सकती है। दूसरों की झोंपड़ी में आग लगाकर वह ज्यादा समय तक सुखी नहीं रह सकता।

अत: माँसाहार का परित्याग करें, शाकाहार अपनायें। यह शाकाहार तन, मन, वचन और राष्ट्रहितकारक है।

जल ही जीवन है

रक्खिज्जदि घयं दुद्धं, रक्खेज्जा हु जलं तहा।
णीरं हि जीवणं जम्हा, जले णट्ठे वि णस्सदे॥५७॥

अर्थ:-घी दूध की जैसे रक्षा की जाती है वैसे ही जल की रक्षा करनी चाहिए क्योंकि जल ही जीवन है। जल के नष्ट होने पर जीवन नष्ट हो जाता है।

As milk and ghee are protected, in the same way water should be preserved because water is life. If water is destroyed, life is destroyed.

भावार्थ:-जल के बिना जीवन की कल्पना करना उसी प्रकार है जैसे आकाश में पुष्पों का खिलना। किसी भी कार्य में चाहे गृह आदि में या व्यापार उद्योग में जल की नितांत आवश्यकता होती है। यह कृषि या ऋषि प्रधान देश बिना जल के किस प्रकार फसल उत्पन्न कर सकता है। प्रत्येक स्थान पर जल की आवश्यकता होती है। केवल मानव ही नहीं अपितु जल के बिना पशु-पक्षी, पेड़-पौधे आदि भी जीवंत नहीं रह सकते हैं। गर्मियों के समय जहाँ जल का समुचित सद्भाव नहीं है वहाँ कई पशु-पक्षियों के कलेवर दिखाई पड़ते हैं। मानव शरीर के लिए भी सबसे आवश्यक जल है। मानव मस्तिष्क में ऑक्सीजन समुचित मात्रा में जल के माध्यम से ही पहुँचता है।

दिगम्बर आचार्य श्री उग्रदित्य स्वामी ने "कल्याणकारकम्" में पानी एक स्वतंत्र अध्याय लिखा है। उसमें बताया है पानी सात प्रकार का होता है। सबसे उत्कृष्ट पानी चश्मे का होता है, दूसरे स्तर पर सरोवर का पानी, फिर बहती हुई नदी का, फिर वर्षा का। इस प्रकार पानी के विविध प्रकार और उपयोग बताये हैं। आचार्य भगवन् श्री देवसेन स्वामी ने 'भाव संग्रह' में लिखा है कि विवेकी, धर्मात्मा

सम्यग्दृष्टि वह है जो पानी का प्रयोग घी-दूध की तरह से करता है, कहीं पानी की एक बूँद भी फालतू न चली जाये। ग्रंथकार यहाँ जल की उपयोगिता, उसकी बहुमूल्यता बताते हुए कह रहे हैं कि जिस प्रकार मानव घी, दूध की रक्षा करता है उसी प्रकार जल की रक्षा की जानी चाहिए।

यह कहना इसीलिए आवश्यक है क्योंकि कई बार नल खुला छोड़कर लोग अन्य कामों में लग जाते हैं और पानी अनावश्यक रूप से बहता रहता है इससे जीवों की हिंसा का पाप भी लगता है और जल तो नष्ट हो ही रहा है। यत्नपूर्वक जल का उपयोग करना चाहिए। एक सेठ जी के घर में नई बहू आयी, उसके हाथ से पानी का मटका छूट गया। सेठ जी ने उसे खूब डाँटा वह रोती हुई चली गई। संयोगवशात् अगले दिन सेठानी जी के हाथ से घी का मटका फूट गया। सेठ जी बोले देखकर चला करो। यह सब बहू भी देख रही थी उसे बहुत बुरा लगा। वह सेठ जी के पास पहुँची और बोली ''पिताजी, क्षमा करना, यदि आज्ञा हो तो कुछ कहूँ।'' सेठ जी तो चाह ही रहे थे उन्होंने कहा बेटा निःसंकोच पूछो। वह बोली ''पिताजी, कल मेरे हाथ से पानी का मटका फूटा तो आपने मुझे बहुत डाँटा और माँ के हाथ से घी का मटका फूटा तब भी आपने उन्हें कुछ नहीं कहा। मेरा मटका तो 5-10 रु. का था जबकि उनके मटके की कीमत 5 हजार होगी।'' सेठ जी बोले, ''बेटा ! मैं भी आपको समझाना चाह रहा था। बात 5 रु. या 5000 रु. की नहीं है। घर में किसी चीज की कमी नहीं है। जब कल तुम मटका लेकर आयीं, वह गिरा तो तुम्हारे चेहरे पर शिकन तक नहीं थी ऐसा लगा जैसे कुछ हुआ ही नहीं।'' मैं बताना चाहता हूँ कि बेटा जल भी बहुत कीमती है। जिस तरह से घी के मटके की सुरक्षा करते हो वैसे ही जल की भी करो। जल जीवन है हमारे पास तो जल है किन्तु जहाँ जल की कमी है उन लोगों

से जाकर पूछो।'' बहू को पिताजी की बात समझ आयी और चरण छूकर बोली पिताजी आपके द्वारा दी गई इस शिक्षा को मैं सदैव याद रखूँगी।

जल को भी जहाँ तक संभव हो सके छानकर ही प्रयोग में लाना चाहिए। कुछ वर्ष पूर्व की संयुक्त राष्ट्र संघ की रिपोर्ट के अनुसार दो सौ राष्ट्रों में से डेढ़ करोड़ व्यक्ति अनछना पानी पीने से यमराज का शिकार हो रहे हैं। पानी का वह कीड़ा जो आँखों से देखने में नहीं आता शरीर में पहुँचकर प्राणों का हरण कर लेता है। अत: कम से कम पीने में तो बिना छना जल प्रयोग में लाना ही नहीं चाहिए। जैनाचार्य तो यह बात बहुत वर्षों पूर्व कह चुके हैं पर आज विज्ञान भी उसको सिद्ध कर चुका है। अत: अधिक से अधिक छने जल का प्रयोग आवश्यकतानुसार सावधानी से करें।

कहा जाता है कि एक-एक बूँद से घड़ा भरता है तब वह एक-एक बूँद से खाली भी तो हो सकता है। कई नलों से पानी टपकता जाता है लोग देखकर निकल जाते हैं परंतु सौ में से कोई एक सड़क पर लगे उस नल को बंद करता है। जल के प्रति रखी गई असावधानी आपको स्वयं को भुगतनी पड़ेगी। आज कई लोग जल की समस्या से जूझ रहे हैं। यदि आज इस पर ध्यान नहीं दिया गया जल की सुरक्षा नहीं की गई तो भविष्य संकट में होगा। अत: आवश्यकता के अनुसार जल का प्रयोग करें इसको नष्ट होने से बचाएँ क्योंकि जल के नष्ट होने पर जीवन की संभावना भी नहीं रहती।

वृक्षों की उपयोगिता

णहि रुक्खं विणा सक्कं, सुही णरस्स जीवणं।
तम्हा रक्खेज्ज रुक्खा हु, तहिं धम्मो जहिं तरू॥५८॥

अर्थ:-वृक्ष के बिना मनुष्य का सुखपूर्वक जीवित रहना शक्य नहीं है इसीलिए वृक्षों की रक्षा करनी चाहिए। जहाँ वृक्ष हैं वहाँ धर्म है।

It is not possible to live happily without trees, so trees must be saved. Where there are trees, there is religion.

भावार्थ:-वृक्ष प्रकृति की एक ऐसी संपदा है जो प्राकृतिक तंत्र को संतुलित रखती है। आचार्य भगवन् श्री उमास्वामी मुनिराज ने एक वैज्ञानिक सूत्र दिया "परस्परोपग्रहो जीवानाम्" प्रत्येक जीव एक-दूसरे का उपकार करते हैं। गोम्मटसार जीवकांड में लिखा भी है-

अण्णोण्णुवयारेण य जीवा वट्टंति पोग्गलाणि पुणो।
देहादीणिव्वत्तण कारण भूदा हु णियमेण॥

जीव परस्पर में उपकार करते हैं। एक जीव दूसरे जीव का उपकार करके ही जीवित रह सकता है। धर्म सीमित नहीं है, विशाल है। बिना उपकार करे कोई जीव जीवित नहीं रह सकता है। वृक्ष कार्बनडाइ-ऑक्साइड ग्रहण करते हैं और ऑक्सीजन छोड़ते हैं। यह ऑक्सीजन मनुष्यों के लिए प्राण वायु है। पाँच एकड़ में लगे वृक्षों से जितनी ऑक्सीजन प्राप्त होती है उतनी ऑक्सीजन एक मनुष्य को स्वस्थ-निरोगी व दीर्घायु रहने के लिए आवश्यक है। बढ़ते प्रदूषण का कारण वृक्षों की कमी भी है। अधिक वृक्षारोपण के माध्यम से बढ़ते हुए प्रदूषण को भी रोका जा सकता है। वृक्षों के माध्यम से वृष्टि भी समय पर होती है जिससे फसल उत्पादन भी अच्छा रहता है। यदि वृक्ष पर्याप्त मात्रा में हों तो जल की समस्या भी खड़ी नहीं होगी। वृक्ष

की जड़ें अंदर मिट्टी को बांधे रखती हैं जिससे बाढ़ आदि प्राकृतिक प्रकोप भी थम जाते हैं। वृक्ष भोजन, श्रृंगार, फर्नीचर, वस्त्र आदि सभी कामों में प्रयोग में लाये जाते हैं। वृक्ष से अधिक उपकारी और कौन हो सकता है जो कुछ जल ग्रहण कर इस मानव जाति को इतना कुछ प्रदान करते हैं। वृक्ष गर्मी, सर्दी, बरसात सब मौसम में खड़े रहते हैं। धूप की तपन और भूमि में वपन सहते हैं। किसी को शीतल छाया और किसी को मिष्ट फल देते हैं।

वृक्ष भी एकेन्द्रिय जीव है, उनमें भी जीवन है, सुख-दु:ख उन्हें भी होता है। एक प्रयोग के अनुसार जब व्यक्ति वृक्ष के पास कुदाली लेकर आया तब लाल बल्ब जला जो भय व दु:ख का प्रतीक था और एक व्यक्ति जो वृक्ष को पानी डालने आ रहा था तब हरा बल्ब जला जो खुशी का प्रतीक था। उनमें भी प्राण होते हैं इसलिए उनकी रक्षा करने का दायित्व भी आप पर ही है। आज 'प्रदूषण हटाओ' या स्वच्छता का अभियान जोर-शोर से चल रहा है तो इनके लिए सर्वप्रथम आवश्यकता है वृक्षों के संरक्षण व संवर्द्धन की। बिना वृक्षों के अकाल जैसी समस्या भी यदि मानव जाति के सामने आ खड़ी हो तो यह कोई आश्चर्य जनक बात नहीं। बुद्धिमान् वही है जो समस्या खड़ी होने से पूर्व ही उसका निराकरण कर दे अत: दूरदृष्टा बन वृक्षों का संरक्षण और संवर्द्धन करें। बिना वृक्षों के जीवन संभव नहीं है। वनों के लुप्त होने के कारण ही तो पशु-पक्षियों की कई जातियाँ लुप्त होने की कगार पर हैं अथवा लुप्त हो चुकी हैं। यह एक तंत्र है वृक्ष प्राकृतिक संतुलन बनाता है। वृक्ष पर कुछ जीव जीवित हैं और उन पर कुछ पशु, इन पशुओं पर अन्य पशु। यदि वृक्ष ही कम हो जाऐंगे तो संतुलन बिगड़ना तो स्वाभाविक ही है। हर क्षेत्र में मानव जाति की सुरक्षा हेतु वृक्षों की अनिवार्यता है।

कई उद्योग भी वृक्षों के माध्यम से ही चलते हैं। वृक्षों के अभाव में उद्योग भी न रहेंगे। जो शाकाहार परिणामों में निर्मलता, कषायों में

मंदता का कुछ कारण है वह भी वृक्षों पर निर्भर है। वृक्ष के बिना मनुष्य का जीवन प्राय: नष्ट हो जाएगा। जहाँ वृक्ष होंगे वहाँ हरियाली होगी, खुशहाली होगी और वहीं धर्म का वास भी होगा क्योंकि अकाल में धर्म नहीं ठहरता। आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने जब निमित्त ज्ञान से जाना कि जिस स्थान पर वे हैं वहाँ अकाल पड़ने वाला है तो वे लगभग 12000 शिष्यों सहित उस स्थान को छोड़ दक्षिण की ओर विहार कर गए। अत: सभी प्राणियों को वृक्षों का संवर्द्धन और संरक्षण करना चाहिए जिससे मानव जीवन और धर्म की रक्षा हो सके।

एक समय पद्मखेट नगर का मणिप्रभ नामक राजा वन सैर के लिए घोड़े पर सवार होकर निकला। अचानक उसी समय मौसम में बदलाव आया। तेज वर्षा होने लगी, आंधी चलने लगी। राजा वर्षा से बचने के लिए एक पेड़ के नीचे अपने घोड़े सहित खड़ा हो गया। तेज हवा से वृक्ष की टहनी टूटकर घोड़े पर गिरी। राजा घोड़े को लेकर प्राण बचाकर वहाँ से निकला किंतु चोट आ जाने के कारण उसके प्रिय घोड़े की मृत्यु हो गई।

वह राजा क्रोधित होता हुआ उस वृक्ष के पास आया और बोला मेरे घोड़े की मृत्यु की सजा तुम्हारे साथ-साथ सब भुगतेंगे। वृक्ष ने कहा ''राजन् ! इसमें मेरा दोष नहीं है। तेज आंधी तूफान के कारण मेरी शाखा टूट कर गिर पड़ी परंतु आपके घोड़े की मृत्यु का मुझे भी खेद है।'' राजा ने कहा मैं नहीं मानता। वृक्ष ने कहा ठीक है मेरी गलती की सजा केवल मुझे दे दें। मुझे ही जड़ से कटवा दें।

राजा बोला नहीं ''मैं तुम सबको पूरे वन को काटकर नष्ट कर दूँगा। वृक्ष बोला'' नहीं राजा, ऐसा मत करना, बहुत अनर्थ हो जाएगा। वृक्ष और प्राणियों का बहुत गहरा नाता है। वृक्षों के नष्ट होते ही

पशु-पक्षी बेघर हो जाऐंगे जो प्रजा के बीच जाकर उन्हें नुकसान पहुँचा सकते हैं। वे भूखे मर जायेंगे। राज्य से खुशहाली पलायन कर जाएगी। अतिवृष्टि-अनावृष्टि-दुर्भिक्ष आदि होगा। समय पर वर्षा नहीं होगी जिससे फसलें नष्ट हो जाऐंगी और ऐसा हुआ तो महंगाई और भुखमरी बढ़ेगी। शुद्ध प्राणवायु न मिलने से बीमारियाँ बढ़ेंगी। हम में से कुछ वृक्ष औषधि का कार्य करते हैं वे भी नहीं रहेंगे, फलादि भी नष्ट हो जाऐंगे। हम अपनी जड़ों से मिट्टी को बांधे रहते हैं किंतु बाद में बाढ़ादि की संभावना रहेगी। हम वृक्ष नहीं रहे तो लोग पानी के लिए तरसेंगे, ग्रीष्म ऋतु में आग बरसेगी जिससे सब झुलस जाएँगे। विष के समान प्रदूषण को हम रोकते हैं किंतु वृक्षों के नहीं होने से यह उनके लिए घातक होगा। आप सोचिए आप कैसा अनर्थ करने जा रहे हैं।''

राजा ने उसकी एक न सुनी और वन के सभी वृक्षों को कटवा दिया। कुछ माह बीते राजा मणिप्रभ पर अपराजित नामक राजा ने अचानक आक्रमण कर दिया। राजा मणिप्रभ किसी प्रकार अपने प्राण बचाकर वहाँ से भागा। कितु अपराजित के सैनिकों ने उसका पीछा नहीं छोड़ा। भागता-भागता वह उसी वन में पहुँचा जहाँ उसने वृक्षों को कटवा दिया। किंतु उसे छिपने का कहीं स्थान नहीं मिला। उसे अपनी मृत्यु सामने दिखाई देने लगी। तभी अचानक उसकी नजर वहाँ से थोड़ी दूर पर एक कटे वृक्ष की जड़ से फूटकर निकले एक छोटे से वृक्ष पर पड़ी। उसकी छोटी-छोटी शाखाएँ, नए-नए पत्ते हवा में झूल रहे थे।

उस वृक्ष को देखकर राजा उनके बीच जा छिपा। अपराजित के सैनिक मणिप्रभ को न पाकर निराश हो लौट गए। खतरा टला देख जब वह वहाँ से चलने लगा तब वह वृक्ष राजा से बोला ''राजन् ! आपने मुझे पहचाना नहीं। मैं उसी वृक्ष की जड़ से फूटकर निकला हूँ जिसकी एक शाखा गिरने से आपके घोड़े की मृत्यु हो गई थी।''

राजा के सामने वह घटना झूलने लगी। वह शर्मसार हुआ। वृक्ष ने कहा ''मैंने तो आपको पहले ही समझाया था यदि आपने मेरी सुनी होती तो आपको अपने प्राण बचाने बहुत आसान होते।''

राजा ने क्षमा माँगी और बहुत पछताने लगा। उसने प्रतिज्ञा की कि मैं पहले से भी दो गुने वृक्षों का आरोपण करवाऊँगा।

कहने का आशय यह है कि वृक्ष मानव जीवन के लिए बहुत उपकारी हैं अत: उनकी सदैव रक्षा करनी चाहिए। राष्ट्र में सुख-शांति की स्थापना भी तभी हो सकती है जब प्रकृति साथ हो वरना प्रकृति का प्रकोप सब कुछ तहस-नहस कर देता है। अत: वृक्षों की रक्षा करें। वृक्षों का संवर्द्धन व संरक्षण करें।

त्रियोग व धन का सदुपयोग

अज्जेज्जा धण-जोगेहिं, कित्तिं सच्चं सुहं बलं।
पुण्णं तहा करेज्जा हु, सगवरं हियं सया॥५९॥

अर्थ:-तीन योग और धन के द्वारा हमेशा ही पुण्य, कीर्ति, सत्य, सुख व बल का अर्जन और स्व-पर का हित करना चाहिए।

By three volitions (mind, voice and body) and wealth always merit, pleasure, fame, truth and strength should be attained. It should be for themselves and for others.

भावार्थ:-एक ही वस्तु व्यक्ति के उत्थान का कारण भी हो सकती है और वही वस्तु व्यक्ति के पतन का कारण भी हो सकती है। जीना (सीढ़ियाँ) वही है उसके माध्यम से ऊपर भी जाया जा सकता है और उसी के माध्यम से नीचे भी जाया जा सकता है। तलवार वही है उसके माध्यम से रक्षा भी की जा सकती है और किसी का घात भी किया जा सकता है। कहीं गंदगी है तो उसके माध्यम से खाद बनाकर फूलों की बगिया भी महक सकती है और उसी गंदगी से बीमारी भी फैल सकती है। इसी प्रकार से तन, मन, वचन और धन प्राय: सभी के पास हैं। कोई व्यक्ति उनका सदुपयोग कर उन्नति की ओर बढ़ सकता है या दुरुपयोग कर पतन के गर्त में भी समा सकता है।

ग्रंथकार यहाँ प्राणी मात्र के कल्याण व हित के लिए निर्देशन दे रहे हैं कि तीन योग तन, मन व वचन और धन इनका सदुपयोग कर पुण्य का अर्जन करना चाहिए। तन के द्वारा अच्छे कार्य कर, पूजन, तीर्थवंदना, वैयावृत्ति सेवा आदि कर पुण्य का अर्जन कर लेना चाहिए। शरीर तो सबके पास है परंतु सफल व सार्थक तो उसी का है जो उसके माध्यम से शुभ कार्य करे, उसी का शरीर पूजने योग्य है। शरीर से गंदे कार्य करने वालों को तो लोक भी सम्मान नहीं देता।

दूसरा है वचन, वचन से अहिंसा का पालन करें। कोई ऐसे शब्द न बोलें जिससे किसी प्राणी को कष्ट हो, दु:ख हो, पीड़ा हो। वचन तो प्राय: सबके पास है हीं परंतु उसके वचन धन्य हैं जो कभी कटुक शब्दों का प्रयोग नहीं करता, मंगलमय शब्दों का उच्चारण ही उसके मुख से होता है। आचार्य महोदय कहते हैं कि जिस व्यक्ति के मुख से ॐ, जय, नम: या स्वाहा इन चारों में से दिन में एक भी शब्द नहीं निकलता उसका मुख, मुख नहीं मलद्वार है। एक व्यक्ति जो स्तुति, भजन आदि गा रहा है उसकी वचन वर्गणाएँ सभी सुनने वालों को आह्लादित करने वाली हैं और एक व्यक्ति जो अपशब्दों का प्रयोग कर रहा है उसकी तो कषायें तीव्र हैं हीं सुनने वालों के परिणाम भी निर्मल नहीं होंगे। अच्छे ललित शब्दों का प्रयोग करना, प्रभु परमात्मा का गुणगान करना वचन का सदुपयोग है।

अगली बात है मन। सर्वप्रथम शरीर से अच्छे कार्य करे, पुन: वचन से और इसके पश्चात् सूक्ष्म मन से।

''मन एव मनुष्याणां कारणं बंध मोक्षयो:''

मनुष्य का मन ही बंध और मोक्ष का कारण है। मन के माध्यम से ही जीव के कर्मों का तीव्र आस्रव भी होता है और निर्जरा भी।

कहा भी है-

जलेन जनितं पंकं, जलेन परिशुद्धयति।
चित्तेन जनितं कर्म, चित्तेन परिशुद्धयति॥

जल से ही कीचड़ पैदा होती है और साफ भी जल से ही होती है। कर्म भी चित्त से ही उत्पन्न होते हैं अर्थात् कर्मों का बंध भी चित्त से ही होता है और कर्मों की निर्जरा भी चित्त से ही होती है।

चित्त से ही कर्मों का बंध होता है, चित्त से ही मोक्ष का प्रबंध होता है और इससे ही आत्मा का आत्मा से संबंध होता है। मन के

सदुपयोग का अर्थ है अच्छे विचार, शुभ चिंतन। जब सोचना ही है तो अच्छा सोचना, अच्छा चिंतन ही श्रेष्ठ है। व्यक्ति के जैसे परिणाम होते हैं वैसा ही उसका परिणाम (रिजल्ट) होता है। जिस वस्तु के भाव जितने ज्यादा होते हैं वह वस्तु उतनी ही कीमती होती है। उसी प्रकार जिस व्यक्ति के परिणाम, उसके भाव, चित्त से उत्पन्न विचार जितने श्रेष्ठ होते हैं वह व्यक्ति उतना ही अच्छा होता है।

एक समय राजा श्रेणिक अपनी सेना, राजपरिवार व प्रजा सहित भगवान् महावीर स्वामी के समवशरण में जा रहा था। उसे मार्ग में पेड़ के नीचे बैठे तपस्या में लीन निर्ग्रंथ दिगंबर मुनिराज के दर्शन हुए। राजा ने पूर्ण श्रद्धा-भक्ति से मुनिराज को नमस्कार किया। तभी दो सैनिक उन्हें देख आपस में बात करने लगे। पहला सैनिक बोला धन्य है दिगंबर साधुओं की चर्या, धन्य हैं ये मुनिराज। यह सुन दूसरा सैनिक बोला अरे काहे के धन्य, ये तो राजा श्वेतवाहन थे। इन्होंने अपने छोटे से पुत्र को राज्य दे दिया और उस छोटे से राजा पर शत्रु देश ने आक्रमण कर दिया, वह बड़ा संकट में है।

वे तो अपनी बात कर आगे निकल गए परंतु इनकी बातों को सुन मुनिराज का मन विचलित हो गया। वे सोचने लगे अरे ! यह तो वही शत्रु है जिसे मैंने कई बार पराजित करके क्षमा किया परंतु यह कृतघ्नी अब मेरे पुत्र को परेशान करता है। बस अब क्या था उनके ध्यान में युद्ध चलने लगा। वे शत्रु सेना पर वार करते पर शत्रु सेना भी हल्की न पड़ी उसने चक्रव्यूह की रचना कर ली। उन्होंने चक्रव्यूह तोड़ने का बहुत प्रयास किया पर शत्रु सेना ने उनके सभी अस्त्र-शस्त्र नष्ट कर दिए। अब उनके पास कुछ न बचा तो उन्होंने गुस्से में अपना मुकुट सामने वाले पर उतारकर फेंकना चाहा। ज्यों ही उनका हाथ अपने सिर पर गया तो मुकुट तो नहीं मिला अपितु केश रहित सिर था।

तुरंत याद आया अरे ! ये मैं क्या कर रहा हूँ। मैं तो मुनिराज हूँ कितने पापों का आस्रव कर रहा हूँ और पुनः प्रायश्चित कर ध्यान मग्न हो गए। उधर इसी बीच राजा श्रेणिक ने प्रभु वंदना कर उनसे प्रश्न पूछा "हे भगवन् ! अभी मार्ग में हमने एक मुनिराज के दर्शन किए कृपया बताइये यदि उस समय उन्हें आयु का बंध होता तो कौन सी आयु का बंध होता। गौतम स्वामी ने उत्तर दिया "हे श्रेणिक! धर्मरुचि मुनिराज जो पूर्व में राजा श्वेतवाहन थे। यदि उस समयं के परिणामों के साथ उनका आयु बंध होता तो वे सप्तम नरक जाते किंतु यदि इस समय हुआ तो मध्यलोक, द्वितीय स्वर्ग, पंचम स्वर्ग, षोडश स्वर्ग, नव ग्रैवेयक, अनुदिश। तभी राजा श्रेणिक बोले राजन् ! ये देवों के विमान कहाँ जा रहे हैं? बोले जिन मुनिराज की आप बात कर रहे थे उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई है।

यह है व्यक्ति के भावों की तारतम्यता। अभी तो ऐसे परिणाम जहाँ सप्तम भूमि नरकायु का बंध हो जाए और कुछ क्षण बाद मोक्ष की संप्राप्ति। अतः मन से अच्छा विचार करना ही उसकी सद्उपयोगिता है।

अगली चीज है धन। मन, वचन, तन के अतिरिक्त वह धन के माध्यम से भी पुण्य का अर्जन कर सकता है। जो धन का दान करता है, अच्छे कार्यों में उसको खर्च करता है उसी का धन श्रेष्ठ है। आचार्य महाराज कहते हैं जो व्यक्ति अपनी आय का 10 प्रतिशत दान नहीं करता वह निर्माल्य सेवन ही करता है। धन की तीन गति नीतिकारों ने कहीं।

या धन की गति तीन हैं, दान भोग अरु नाश।
दान भोग यदि ना किया, तो निश्चित होत विनाश।।

धन का या तो दान किया जाता है या भोगा जाता है अथवा रखे-रखे वह नाश को प्राप्त हो जाता है। यदि धन को सप्त क्षेत्रों में

दान किया जाता है अथवा चार प्रकार के औषध, शास्त्र, अभय व आहार दान दिया जाता है तब वह धन वास्तव में व्यक्ति की उन्नति का कारण है। जिन व्यक्तियों ने धर्मायतनों की स्थापना की उन व्यक्तियों का नाम इतिहास में स्वर्णाक्षरों से अंकित हो गया। रावण का धन जिससे उसने सोने की लंका का निर्माण कराया आज उसका नामोनिशान भी नहीं है। भरत का धन जिससे उसने कैलाश पर्वत पर 72 जिन मंदिरों का निर्माण करवाया वे आज भी स्थित हैं।

अत: ग्रंथकार यहाँ कह रहे हैं कि मन, वचन, तन और धन का सदुपयोग कर पुण्य, सुख, यश, सत्य और बल का अर्जन करना चाहिये तथा अपना व दूसरों का सदैव हित करना चाहिये। आत्मा के प्रक्षालन हेतु ये चार कलश प्राय: सभी के पास हैं इनके माध्यम से अपनी आत्मा से कर्मों की किट्ट कालिमा को दूर करने का प्रयास सभी को करना चाहिए।

मिष्ट व शिष्ट वचन

देंति पिय-वयं णिच्चं, संतिं तुट्ठिं तहा गुणा।
वदेज्ज सुवयं तम्हा, वयणे का दरिद्ददा॥६०॥

अर्थ:-प्रिय वाक्य शांति, तुष्टि और गुणों को देते हैं इसीलिए प्रिय वाक्य बोलने चाहिये। प्रिय वाक्य बोलने में क्या कृपणता ?

Loving or well-intentioned words give peace, satisfaction and virtues. So sweet words should be spoken. Why should one be miser in using sweet words ?

भावार्थ:-विश्व गुरु कहलाने वाले इस भारत देश में अनेक ऋषि, मुनि, विद्वान्, मनीषी, साधु, यति हुए जिन्होंने आध्यात्मिक शिक्षा के साथ-साथ व्यवहारिक शिक्षा भी प्रदान की। जहाँ उन्होंने बताया कि पानी को कपड़े से छानकर पीना चाहिए वहीं उन्होंने कहा कि वाणी को भी मन-वचन-काय से छानकर बोला जाना चाहिए। व्यक्ति की वाणी, उसके शब्द जोड़ने का काम भी करते हैं और तोड़ने का भी। द्रोपदी के शब्द "अंधों के अंधे ही होते हैं" इनके ही कारण महाभारत का इतना बड़ा युद्ध हुआ जिसमें 18 दिन के अंदर कई हजार अक्षौहिणी सेना विनाश को प्राप्त हुई।

ग्रंथकार यहाँ इष्ट, मिष्ट और शिष्ट वाणी बोलने का निर्देशन दे रहे हैं। व्यक्ति यदि फल खरीदता है तो कड़वे-खट्टे फलों को छोड़ देता है और मीठे फलों को ग्रहण करता है इसी प्रकार मिष्ट वाणी का प्रयोग करना चाहिए। "इंसान एक दुकान है जुबान उसका ताला, ताला खुलने पर ही पता लगता है कि दुकान हीरे की है या कोयले की।" अर्थात् व्यक्ति की वाणी उसके व्यक्तित्व का परिचय करा देती है। व्यक्ति की बोली से घर के संस्कार, आस-पास का माहौल और शिक्षा के विषय में अनायास ही पता चल जाता है। नीतिकार कहते हैं-

कुल-प्रसूतस्य न पाणिपद्मं, न जार-जातस्य शिरोविषाणम्।
यदा यदा मुंचति वाक्यबाणं तदा तदा जाति कुल-प्रमाणम्॥

उच्च कुल में उत्पन्न व्यक्ति की हथेली में कमल पुष्प नहीं होता और किसी जारज संतान के सिर पर श्रृंग नहीं आता। सामान्य दृष्टि में दोनों समान प्रतीक होते हैं किंतु जब-जब उनमें से कोई वाणी का प्रयोग करता है, तब-तब जाति-कुल का प्रमाण अपने आप प्राप्त हो जाता है। व्यक्ति की वाणी स्वयं को और दूसरों को भी शीतलता प्रदान करने वाली हो। जिस बात को क्रोध से कहा जा रहा है उसे सरलता, सहजता से भी तो कहा जा सकता है। अपशब्दों का प्रयोग करने से अथवा कड़वे वचन बोलने से स्वयं का व्यक्तित्व मलिन होता है। संभव है आपकी मिष्ट और धीमी वाणी सामने वाले पर अधिक प्रभावी हो। यह व्यक्तित्व का महत्त्वपूर्ण अंग है। मीठी वाणी बोलने वाले को सभी लोग चाहते हैं और कटु वाणी बोलने वाले को देखते ही संभव है लोग इधर-उधर हो जाएँ कि यह मुझसे कहीं कुछ कह न दे।

एक बार कोयल वृक्ष की डाली पर बैठी हुई थी तभी उसने देखा कि कौआ तेजी से उड़ता हुआ कहीं जा रहा है। कोयल ने आवाज लगाई कौआ मामा इतनी जल्दी में कहाँ जा रहे हो। सब कुशल तो है न। कौआ बोला क्या कुशल, मैं तो इस देश को छोड़कर जा रहा हूँ बस अब ज्यादा समय तक मैं इस देश में नहीं रुकना चाहता। कोयल ने पूछा "मामा ! आखिर ऐसा क्या हुआ जो आप देश छोड़कर जाने को कह रहे हैं?" कौआ बोला "अरे ! यहाँ के लोग पक्षपाती हैं, तुम्हें तो सब बहुत चाहते हैं खीर पूरी खिलाते हैं और मुझे पत्थर मारकर भगाते हैं, यहाँ लोग अच्छे नहीं हैं। मैं दूसरे देश जाऊँगा तो लोग मुझे चाहेंगे।" कोयल बोली "मामा ! देश बदलने की आवश्यकता नहीं है यदि दूसरे देश जाकर भी कड़वा बोले तो भगा दिए जाओगे और यहाँ भी मीठी वाणी का प्रयोग किया तो सम्मान पाओगे।"

कोयल का को देत है, कागो का को लेत।
मीठी वाणी बोलकर, जग अपनो कर लेत॥

एक मिष्ट वाणी के माध्यम से जग को अपना किया जा सकता है। संसार में सबसे मीठी वाणी होती है। किसी को खूब उसकी पसंद का मीठा खिलाकर पश्चात् अपशब्द बोलने से वह असंतुष्ट रहता है, जबकि यदि किसी को आपने मिठाई तो क्या कुछ भी खाने के लिए नहीं दिया और प्यार के दो शब्द बोल लिए तो वे प्रिय वाक्य उसको संतुष्टि प्रदान करने वाले होंगे। कहा भी है **"प्रिय वाक्य प्रदानेन सर्वे तुष्यंति जंतवः"**, प्रेम की, प्यार की, वात्सल्य की भाषा एक ऐसी भाषा है जिसे संसार के सभी प्राणी समझते हैं। जब कड़वे और मीठे दोनों प्रकार के वचन आपके पास हैं तब तो मीठे वचनों का प्रयोग करना ही श्रेष्ठ है। इसमें क्या कृपणता ? क्या वचनों का खजाना भी घटता है। यदि नहीं तो फिर अच्छे वाक्यों को बोलने में क्या कंजूसी?

शास्त्रों में अनुवीची भाषण कला को झरने की उपमा दी गई है। जिस प्रकार कठोर से कठोर चट्टान को फोड़कर झरना फूट पड़ता है और कठोर पहाड़ में भी अपना स्थान बना लेता है उसी प्रकार सामने वाले का हृदय कितना ही कठोर क्यों न हो परंतु उसकी मिष्ट वाणी उसके कठोर हृदय में भी अपना स्थान बना लेती है। प्रिय वाक्य शांति, तुष्टि और गुणों को प्रदान करते हैं अतः सदैव प्रिय वाक्य बोलने चाहिए।

अन्य भी कहा है-

वाङ्माधुर्यात् सर्वलोकप्रियत्वं, वाक्पारुष्यात्स्वोपकारोऽपि नष्टः।
किं तद् द्रव्यं कोकिलेनोपनीतं, किं वा लोके गर्दभेनापनीतम्॥

वचन की मधुरता से सब लोगों का प्रेम प्राप्त होता है और वचनों की कठोरता से किया हुआ अपना उपकार भी नष्ट हो जाता है।

कोयल ने लोक में क्या दे दिया और गधे ने क्या छीन लिया? अपनी वाणी से ही वे प्रियता एवं अप्रियता को प्राप्त होते हैं।

भाषा-सद्व्यवहार की पहचान

करेदि जस्स जो गोट्ठिं, सो तस्स लहदे गुणं।
सक्कराए जहा णीरं, मिट्ठं होदि तहा वयं॥६१॥

अर्थ:-जो जिसकी चर्चा करता है वह उसके गुण प्राप्त करता है। शक्कर से जैसे नीर मीठा होता है वैसे ही वचन का प्रभाव होता है।

A person who talks about a particular thing imbibes its virtues. As water gets sweetened by sugar, similar is the effect of words.

भावार्थ:-व्यक्ति जैसी संगति में रहता है उसका प्रभाव उस पर पड़ता ही है और सूक्ष्म परिवर्तन समझ में नहीं आता जब परिवर्तन अधिक हो जाता है तब वह स्वयं भी समझ जाता है कि संगति का प्रभाव उस पर कितना रहा। जो व्यक्ति नाटक में जिसका किरदार सर्वाधिक निभाता है उसका अंश उसमें दिखाई देता है। व्यक्ति जैसे चित्र, फिल्म आदि देखता है उसके परिणाम उसी प्रकार के हो जाते हैं इसीलिए देवदर्शन को श्रावक के आवश्यक कर्त्तव्यों में प्रमुख स्थान दिया क्योंकि जिसको देखता है उसके जैसा बनने की भावना भा सकता है। व्यक्ति जिस प्रकार के लोगों के बीच रहता है उसकी भाषा, व्यवहार उन जैसा हो जाता है। इसी प्रकार व्यक्ति जिसकी चर्चा करता है उस जैसे गुणों को प्राप्त करता है।

ग्रंथकार यहाँ कह रहे हैं कि प्रत्येक व्यक्ति शब्दों के माध्यम से अपने विचारों का आदान-प्रदान करता है। शब्दों की पोशाक पहनाये बिना वह अपनी बात को समीचीन रूप से सामने वाले के सामने नहीं रख सकता, शब्दों का सहारा लेना जरूरी है। व्यक्ति चर्चा करे किंतु उसकी चर्चा में पर निंदा न हो, किसी की बुराई न हो, दोषों का गान न हो। यदि व्यक्ति दोषों की चर्चा कर रहा हो तो समझो वह दोषों को

अपने अंदर आमंत्रित कर रहा है, अपने अंदर तक आने का मार्ग तैयार कर रहा है। अरे ! प्रत्येक व्यक्ति में बुराईयाँ भी हैं और अच्छाईयाँ भी। सकारात्मक दृष्टिकोण से उसकी अच्छाईयों की चर्चा करो, गुणों को देखो। कहा है-

अच्छाईयाँ देख ले तू सारे जहान की।
बुराईयों का कहीं कोई अंत नहीं है॥

गुणों को देखकर, गुणों की चर्चा करने से वे गुण स्वयं के अंदर भी प्रकट होते हैं। अत: जैसा बनना चाहते हो वैसी चर्चा करनी आरंभ कर दो। जिसको जीवन में आदर्श स्वीकार किया है, जिन महापुरुष के प्रति विशेष श्रद्धा हो, जिनके गुणों से प्रीति हो उनकी चर्चा करें। निश्चित तौर पर वे गुण आपके अंदर भी प्रकट हो जाएँगे। जैसी चर्चा होती है वैसी चर्या हो जाती है। अत: यदि बातें ही करनी हैं तो अच्छी करें, बुरे शब्दों को कहकर, निंदा बुराई कर अपनी भाषा वर्गणा को व्यर्थ क्यों खोते हो।

विमर्शपूर्वकं स्वास्थ्यं स्थापकं हेतुसंयुतम्।
स्तोकं कार्यकरं स्वादु निर्गर्वं निपुणं वदेत्॥

विद्वानों को विचारपूर्वक यानि सोच-समझकर, स्वास्थ्यवर्द्धक, निर्णायक, हेतुसहित, अल्प, कार्यकारी, मधुर, गर्व रहित और चातुर्य पूर्ण वचन बोलना चाहिए।

कम बोलो, बोलो भला, बोलो मधुर बोल।
बोल-तोल सूं हृदय बढ़े, मिनख पणारो मोल॥

भगवान को धन्यवाद दो हे भगवन् ! आपने मुझे बोलने योग्य बनाया मैं आपके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। इन वचनों से कभी किसी की निंदा या दोषों की चर्चा न हो। अच्छी व सकारात्मक चर्चा करने से वे शब्द पुद्गल हैं नष्ट तो होते नहीं वायुमंडल में घूमते रहते

हैं और पुनः आपको प्रभावित करते हैं। अतः ग्रंथकार गुणी बनने का सुगम मार्ग बता रहे हैं कि सदैव गुणों की चर्चा करो।

जिस प्रकार शक्कर से जल मीठा होता है उसी प्रकार का प्रभाव वाणी का होता है। वाणी से ही शत्रु को मित्र, मित्र को शत्रु बनाया जा सकता है। किसी समय एक ब्राह्मण जिसे अपनी कन्या का विवाह करना था किंतु धनाभाव के कारण वह मजबूर था अतः धन की व्यवस्था करने दूसरे गाँव जा रहा था। एक गाँव से दूसरे गाँव के बीच में एक जंगल पड़ता था। संयोग से जंगल पार करते समय उसको सामने एक शेर दिखाई दिया। पहले तो वह बहुत डर गया फिर देखा वह शेर पीड़ित है। वह धीरे-धीरे हिम्मत रखता हुआ उसके पास पहुँचा उसकी पीड़ा को समझा। देखा उसके पैर में एक काँटा चुभा हुआ था। ब्राह्मण ने उसे निकाल दिया और पीड़ा से मुक्त किया। शेर बोला "तुमने अपने प्राणों की चिंता न करते हुए मेरी पीर मिटायी मैं कृतज्ञी हूँ। तुम आज से मेरे मित्र हुए, कभी आपत्ति के समय मैं तुम्हारी सहायता कर सकूँ तो यह मुझपर उपकार होगा।"

ब्राह्मण बोला मित्र मुझे अपनी बेटी के विवाह हेतु धन की नितांत आवश्यकता है। इसी हेतु मैं दूसरे गाँव जा रहा था। शेर बोला मित्र चिंता मत करो, तुम बस कुछ क्षण ठहरो। शेर भूमि खोदकर धन निकालता है और ब्राह्मण को दे देता है। ब्राह्मण वह धन ले खुशी-खुशी अपने घर लौट गया। बेटी का विवाह निश्चित हुआ। निश्चित तिथि व समय पर अतिथियों को आमंत्रित किया और अपने मित्र शेर को भी बुलाया। शेर निश्चित समय पर विवाह में पहुँच गया। सभी अतिथिगण शेर को देखते ही डरकर इधर-उधर दौड़ने लगे। तब यह सब देख ब्राह्मण की पत्नी बोली अरे डरो नहीं, ये शेर नहीं कुत्ता है।

ये शब्द शेर के कानों में पड़ गए और वह जंगल की ओर लौट गया। कुछ दिन बाद ब्राह्मण शेर के पास गया और विवाह से वापिस

लौट आने के विषय में पूछा। वह शेर कुदाली देते हुए बोला या तो तुम मुझे मारो वरना मैं तुम्हारा हनन कर दूँगा। डरकर ब्राह्मण ने शेर के कुदाली मारी जिससे उसके गहरा घाव हो गया। शेर ने कहा कि अब कुछ दिनों बाद आना। ब्राह्मण कुछ दिन पश्चात् शेर के पास पहुँचा तो शेर ने कहा देखो जो घाव तुमने कुदाली से दिया था वह ठीक हो चुका लेकिन तुम्हारी पत्नी के वे शब्द आज भी मेरे मन में तीर से चुभते हैं। आज भी वे घाव नहीं भरे।

शरीर के घाव तो भर भी जाते हैं किन्तु वचनों के घाव कभी नहीं भर पाते। अतः सोच-समझकर तोलकर ही इष्ट-मिष्ट व शिष्ट शब्दों का प्रयोग करें। जिस प्रकार की चर्चा व्यवहार में की जाती है उसी प्रकार की चर्या भी हो जाती है। अतः अच्छाईयों की, गुणों की चर्चा करें जिससे जीवन चर्या सम्यक् हो सके।

उभय सुखी कौन ?

पिअर-पहुभत्तो य, जेट्ठाण विणयी सया।
जो गुरु-सेवगो णिच्चं, बे-लोये लहदे सुहं॥६२॥

अर्थ:-माता-पिता का भक्त, ज्येष्ठों में विनयी, प्रभु भक्त, गुरु सेवक उभय लोक में सदा सुख प्राप्त करता है।

A person who is devotee of parents, polite towards elders, a devotee of God and follower of his preceptor achieves pleasure in both worlds.

भावार्थ:-प्रत्येक व्यक्ति सुख को प्राप्त करना चाहता है। दु:ख का तो नाम भी वह लेना नही चाहता है। उभय लोक सुख प्राप्ति की कामना रखता है। यहाँ उभय लोक का आशय है इह लोक और परलोक। इह लोक अर्थात् वर्तमान काल में जहाँ जिस गति में निवास करते हैं और पर लोक अर्थात् मरण के बाद जहाँ जन्म लें। व्यक्ति मंजिल तक तो पहुँचना चाहता है परंतु मार्ग का पता नहीं, सुख तो प्राप्त करना चाहता है परंतु सुख प्राप्ति का मार्ग जानता नहीं अथवा उस पर चलना नहीं चाहता। बोता तो बबूल का वृक्ष है और सोचता है फल आम के आयें तो ऐसा तो संभव नहीं। अत: उभय लोक में सुख प्राप्त करने के हेतु ग्रंथकार यहाँ कह रहे हैं।

प्राकृतिक वस्तुएँ निरपेक्ष सेवाभावी होती हैं और सभी मनुष्यों को भी सेवाभावी होने का निर्देश देती हैं, जैसे-वृक्ष, कोई भी वृक्ष अपने फल स्वयं नहीं खाता, दूसरों को ही देता है। कोई भी नदी या झरना अपना पानी स्वयं नहीं पीते, दूसरों को ही प्रदान करते हैं। सूर्य के प्रकाश और चंद्रमा की चाँदनी का आनंद सभी लोग लेते हैं। कुछ पशु भी निरपेक्ष सेवाभावी होते हैं जैसे-गाय, गाय सूखी घास-चारा आदि खाकर भी पौष्टिक दूध देती है। जब प्रकृति पर दृष्टि पात करें

तो देखते हैं कि उसके मानव पर बहुत उपकार हैं और यही संदेश वह संभवत: मानव को देती है। बादल जब समुद्र से जल लेता ही लेता रहता है तो उसका मुख काला हो जाता है और नीचे झुक जाता है किंतु जब जल का परित्याग कर देता है तो उसका मुख धवल और उज्ज्वल हो जाता है, ऊँचा उठ जाता है। इसी प्रकार यदि मनुष्य लेता ही लेता रहे तो सब कुछ नष्ट हो जाए, वह सद्गति व सुख भी प्राप्त नहीं कर पायेगा। इसीलिए मनुष्य के लिए सेवा भाव आवश्यक बताया है।

आचार्य भगवन् श्री शिवकोटि मुनिराज भगवती आराधना में कहते हैं कि "जो सेवाभावी है, परोपकारी है जो मन, वचन, काय व धन से सेवा करते हैं उन्हें तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है।" महात्मा बुद्ध ने अपने उपदेशों में कहा-माता-पिता की सेवा करो, बुजुर्गों और रोगियों की सेवा करो। आशाधर सूरी ने कहा कि यदि पुत्र माता-पिता की सेवा सौ वर्षों तक भी करता है तब भी वह उनके ऋण से मुक्त नंहीं हो सकता। पुत्र को तन-मन-वचन-धन से माता-पिता की सेवा करने का उपदेश दिया। प्रत्येक संतान का कर्त्तव्य है अपने माता-पिता की सेवा करना। माता-पिता की सेवा से उनके हृदय से निष्पन्न आशीष सर्व कार्यों की सिद्धि करने वाला होता है। वृद्धों की सेवा करने से उसका उन्नति का मार्ग प्रशस्त होता है, सफलताएँ स्वयं चलकर आती हैं। नीतिकारों ने कहा भी है-

अभिवादन-शीलस्य, नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते, आयुर्विद्यायशोबलं॥

माता-पिता व वृद्धों की सेवा करने से आयु, विद्या, यश और बल इन चारों की वृद्धि होती है।

अत: ग्रंथकार यहाँ माता-पिता व वृद्ध जनों की सेवा करने की प्रेरणा दे रहे हैं अथवा आपके कर्त्तव्यों का स्मरण करा रहे हैं। जो

माता-पिता अपनी संतान को प्रतिकूलताओं में भी दुनिया की सारी खुशियाँ उसकी झोली में भरते हुए, स्वयं प्रतिकूलता सहकर उसे अनुकूलता देने का प्रयास करते हुए उसका पालन-पोषण करते हैं। जो माता-पिता अपनी संतान की आँखों में एक आँसू नहीं देख सकते यदि वही संतान बड़े होकर अपने माता-पिता की आँखों में अश्रु दे तो उस संतान को धिक्कार है।

यन्मातापितरौ क्लेशं, सहेते संभवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥

मनुष्यों के जन्म देने में माता-पिता जो क्लेश सहन करते हैं उसका मूल्य सैकड़ों वर्षों में भी नहीं चुकाया जा सकता।

एक दंपत्ति ने अपने बेटे का विवाह धूमधाम के साथ किया। घर में वधू का आगमन हुआ। कुछ ही महीने हुए थे कि घर में लड़ाई-झगड़ा शुरू हो गया। बहू ने अपने पति से कहा मैं इन बूढ़े व्यक्तियों के साथ नहीं रह सकती। आप कुछ भी करो चाहे तो इन्हें वृद्धाश्रम छोड़ आओ। बेटे ने दो-तीन बार अपनी पत्नी की बात सुनी और उन्हें वृद्धाश्रम छोड़ने के लिए तैयार हो गया। माता-पिता ने जब यह बात सुनी तो हृदय पर पहाड़ टूट पड़ा, कहते क्या और कोई चारा भी तो नहीं था आँखों में आँसू भर चलने के लिए तैयार हो गए। वृद्धाश्रम पहुँचे तो वहाँ का संचालक जो वृद्ध था जिसकी लम्बी-लम्बी सफेद दाढ़ी, सफेद बाल थे उनके सामने आया। वह संचालक उन वृद्ध माता-पिता को देखकर मुस्कुराने लगा। माता-पिता ने भी ऐसे देखा जैसे वे उन्हें जानते हों। यह देख बेटे ने पूछा क्या आप लोग एक-दूसरे को जानते हो। वृद्ध संचालक ने उत्तर दिया हाँ ये लोग आज से लगभग 25 साल पहले मेरे पास आये थे और यहाँ अनाथाश्रम से एक शिशु को गोद लेकर गए थे। यह सुनकर वह पुत्र स्तब्ध रह गया

कि जिन माता-पिता ने मुझे अनाथ से सनाथ कर दिया, मुझे अनाथपने का अहसास भी नहीं होने दिया मैं उन ईश्वर समान अपने माता-पिता को यहाँ अनाथ करने आ गया।

माता-पिता तो उस वृक्ष की तरह होते हैं जिसने हमेशा देना ही सीखा है। जब तक वृक्ष पर फल आते हैं तब तक सभी को मिष्ट फल प्रदान करता है। फल आने बंद भी हो गए तब भी छाया तो प्रदान करता ही है और यदि पत्ते भी झड़ गए तो वे लकड़ियाँ फर्नीचर बनाने के काम आती हैं। अरे ! संतानें माता-पिता को क्या दे सकती हैं जबकि माता-पिता का एक बार का आशीष जीवन बना सकता है। कहा जाता है ''वृद्धा नारी ईश्वरी।'' मंदिर के परमात्मा की पूजन वही समीचीन रूप से कर सकता है जिसने पहले घर के परमात्माओं अर्थात् माता-पिता की सेवा की हो। आज भी ऐसे श्रवण कुमार हैं जिनके लिए माता-पिता की सेवा सर्वप्रथम है। एक व्यक्ति जो अपने पिता को गोदी में लेकर बैलगाड़ी तक जा रहा था। पिता तो कह रहे थे मैं धीरे-धीरे खिसकता-खिसकता पहुँच जाऊँगा, तू थक जाएगा। वह बेटा कहता है कि आज तक आपने मेरे ऊपर अनंत उपकार किए हैं इतनी भीषण गर्मी में मेरे रहते हुए आपको खिसकने की क्या जरूरत।

बहुत ज्यादा नहीं कर सकते तो कम से कम इतना तो करना कि आपके कारण आपके माता-पिता की आँखों में पानी न आए। क्योंकि दुनिया का सबसे महंगा जल आँसू ही हैं। माता-पिता या वृद्ध जन आपसे ज्यादा कुछ नहीं चाहते हाँ आपके मिष्ट वचन की आकांक्षा जरूर रखते हैं। हृदय पिघल जाता है जब कोई वृद्ध आकर कहता है कि ''हमारे बच्चे आपकी सारी बात मानते हैं मुझे उनसे कुछ नही चाहिए बस आप उनसे इतना कह देना कि अपनी माँ से चिल्लाकर न बोला करें।

एक ऐसी माँ जिसके दो बेटे थे। वह 15 दिन अपने एक बेटे के यहाँ भोजन करती थी और 15 दिन दूसरे बेटे के यहाँ परंतु इसीलिए नहीं कि वे बेटे उसे चाहते थे बल्कि इसलिए कि माँ को कौन खिलाए तो आधा-आधा बाँट दिया और इससे भी ज्यादा अफसोस की बात तो यह है कि जिस महीने में 31 दिन होते थे उस महीने में वह एक दिन भूखी-प्यासी खाट पर पड़ी रहती थी। एक माता-पिता मिलकर दस पुत्रों का पालन-पोषण कर सकते हैं किंतु दस पुत्र मिलकर एक माता-पिता का पालन-पोषण नहीं कर सकते। ऐसी संतानों के समृद्धि नहीं होती। ऐसे बच्चे सुख-शांति प्राप्त नहीं कर सकते और पूर्व पुण्य से इस लोक में सुख प्राप्त कर भी लिया तो परलोक में तो कदापि नहीं आज जो व्यक्ति जैसा व्यवहार अपने माता-पिता के साथ कर रहा है याद रखना वह वैसा ही अपनी संतानों से पायेगा। अत: प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है माता-पिता और वृद्धजनों की सेवा करना।

अगली बात कही ज्येष्ठां में विनय युक्त हो अर्थात् अपने से बड़ों की विनय, आदर, सम्मान करने वाला हो। वृक्ष की शाखाओं के नम्रीभूत होने का आशय है कि वह वृक्ष हरा-भरा फल-फूल युक्त है इसी प्रकार जो विनयी होता है वह गुणों का पुंज माना जाता है। बड़ों का सम्मान, विनय करना शिष्टाचार भी है, सदाचार भी है, कर्त्तव्य भी है और धर्म भी है। बड़ों के सामने वही झुक सकता है जो उठना चाहता है जमीन पर यदि वस्तु गिर जाए तो उस वस्तु को उठाने के लिए भी झुकना पड़ता है तो क्या गुणों को अपनाने के लिए झुकना नहीं होगा? अर्थात् अवश्य झुकना होगा, विनयी बनना होगा, आदर व सम्मान देना होगा और दूसरी बात यह है कि व्यक्ति जो देता है वही प्राप्त करता है आदर-सम्मान देने से, आदर-सम्मान प्राप्त करता है।

अगली बात कही व्यक्ति प्रभु-परमात्मा और गुरु का भक्त हो। बचपन में व्यक्ति का सबसे अच्छा मित्र माँ होती है। बच्चों के लिए

माँ से अच्छा मित्र और कोई नहीं हो सकता। माँ उन्हें गलत-सही का ज्ञान कराती है जैसे संस्कारों का साँचा वह बच्चों के लिए तैयार करती है बच्चे उसी साँचे में ढल जाते हैं। चलना-उठना-खाना-पीना सब माँ ही सिखाती है। युवावस्था में सबसे अच्छा मित्र है-महात्मा अर्थात् गुरु। जो उसे जीवन के हर पग पर सम्यक् मार्ग निर्देशन देते हैं, कल्याण का मार्ग प्रशस्त करते हैं, हितकारी वचनों के माध्यम से उसका उपकार करते हैं। गुरु का उपकार इस जन्म में तो क्या, अन्य जन्मों में भी नहीं चुकाया जा सकता।

संसार में गुरु कृपा सबसे निराली।
होली यही दशहरा यही है दिवाली॥
जो शिष्य है वह सदैव ऋणी रहेगा।
निर्वाण प्राप्त कर ही ऋण यह चुकेगा॥

गुरु सेवा सर्व विघ्नों का नाश करती है और दोनों भव संबंधी सुखों को प्रदान करती है। वृद्धावस्था में सबसे अच्छा मित्र है परमात्मा। जिस वृद्ध ने भी अंत में परमात्मा की शरण ली है उसे किसी से कोई शिकायत नहीं रही वह अपना शेष जीवन परमात्मा के चरणों में अर्पित-समर्पित करके स्वयं को धन्य मानता है।

अतः सुख के इच्छुक मानवों को माता-पिता, गुरु, प्रभु की सेवा व उनका आदर-सम्मान सदैव करना चाहिये। इनकी छत्रछाया तीनों पन अर्थात् बचपन, युवापन एवं वृद्धापन को समीचीन व निराकुल बनाती है एवं सम्यक् मार्ग प्रदान करती है।

चतुर्फल की प्राप्ति

भोया दाणेण दिग्घाऊ, संपडंते दयाइ हु।
णाणं च वुड्ढ-सेवाए, तवेणं च सिवं पदं॥६३॥

अर्थ:-दान से भोग की प्राप्ति होती है, वृद्ध सेवा से ज्ञान की प्राप्ति होती है, अहिंसा से शुभ (सुखपूर्ण) आयु की व तप से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

Enjoyment or prosperity is obtained by charity, knowledge is gained by the service of old people, long-life is gained by non-violence and salvation is attained by penance.

भावार्थ:-मनुष्य संसार में रहते हुए भोगों की इच्छा करता है, ज्ञान को प्राप्त करना चाहता है, वह चाहता है रोगादि न हों शुभ-दीर्घ आयु हो और बाद में मोक्ष की प्राप्ति हो। जैसा कारण होता है वैसा ही कार्य होता है। जिस प्रकार के बीज का वपन भूमि में किया जाता है उसी प्रकार के फल की प्राप्ति होती है। यदि मनुष्य यह सब चाहता है तो उसी के अनुरूप उसे कार्य करने होंगे। सर्वप्रथम ग्रंथकार बताते हैं कि दान देने से भोगों की प्राप्ति होती है।

दान को आचार्यों ने श्रावक के आवश्यक कर्त्तव्यों में भी रखा है। जो कार्य करना अनिवार्य होता है, जिसको छोड़ा नहीं जा सकता उसको आवश्यकों में रख दिया जाता है। जिस प्रकार विद्यालयों में विद्यार्थियों के लिए कुछ विषय वैकल्पिक होते हैं और कुछ अनिवार्य। अनिवार्य विषय अर्थात् जिनको छोड़ा नहीं जा सकता, पढ़ना अनिवार्य है। उसी प्रकार कुछ कार्य जो श्रावकों द्वारा नहीं छोड़े जाने चाहिए उन्हें आवश्यक कहा गया। कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य भगवन् श्री वीरसेन स्वामी ने श्रावकों के 4 आवश्यक कर्त्तव्य बताए-

"दाणं पूया शीलमुववासो सावय धम्मो" दान, पूजा, शील और उपवास।

आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी ने श्रावकों के दो आवश्यक कर्त्तव्य कहे।

"दाणं पूया मुक्खं सावय धम्मो ण सावया तेण विणा।

दान और पूजा श्रावक के दो मुख्य या आवश्यक कर्त्तव्य हैं। और कहा भी है-

सत्पात्रेषु यथाशक्ति दानं देयं गृहस्थितैः।
दानहीना भवेत्तेषां निष्फलैव गृहस्थता॥

गृहस्थों को सत्पात्रों में यथाशक्ति दान देना चाहिए क्योंकि दान के बिना उनका गृहस्थपना निष्फल है।

आचार्य भगवन् श्री पद्मनंदी स्वामी ने भी षट् आवश्यक कर्त्तव्यों में दान को रखा। श्री ब्रह्मदेव सूरी ने भी दान के विषय में कहा। आचार्य भगवन् श्री जिनसेन स्वामी ने भी महापुराण में दान को पुण्य का श्रेष्ठ कारण बताया है-

"पुण्यं सुपात्र गतदान समुत्थमेतद्"

यह दान भोगों को देने वाला है। आचार्य भगवन् श्री वीरसेन स्वामी भोगभूमि में जाने का मुख्य कारण दान कहते हैं। आचार्य भगवन् श्री समंतभद्र स्वामी कहते हैं **"भोगो दानात्"** दान से भोग की प्राप्ति होती है। अन्य भी कहा है-

"दानेन भोग सारा।"

राजा श्रीषेण, राजा वज्रजंघ आदि ने आहार दान के प्रभाव से भोगभूमि को प्राप्त किया।

वज्रजंघो नृपोदत्वा, चारणाभ्यां सुभावतः।
अन्न दानं क्रमादासीदादि नाथोऽपि यो जिनः॥

राजा वज्रजंघ युगल चारण मुनियों को भाव सहित आहार दान देने से क्रम से जिनेन्द्र भगवान आदिनाथ तीर्थंकर हुए।

क्रमात् श्री शांतिनाथोऽयं जातस्तीर्थंकरा ह्वयाः।
पात्र दान सुपुण्येन कामदेवश्च चक्रभृत॥

पात्र दान के सुपुण्य से क्रमशः (राजा श्रीषेण) कामदेव, चक्रवर्ती पद के साथ तीर्थंकर पद के धारक शांतिनाथ जिनेन्द्र हुए।

आहार दान के प्रभाव से अग्निला ब्राह्मणी भगवान् श्री नेमिनाथ की यक्षिणी देवी अंबिका हुई। आहार दान की अनुमोदना मात्र से अकृत पुण्य धन्यकुमार हुआ, सिंह भरत हुआ, नकुल, सिंह, वानर, शूकर मतिवर मंत्री, अकंपन सेनापति, आनंद पुरोहित हुए, कबूतर-कबूतरी जयकुमार व सुलोचना हुए। कहा है-

तृणानत्ति यथा गौश्च दत्ते दुग्धामृतं नृणाम्।
तथा च यमिनः स्तोकं, भुक्तं स्वर्गामृतं धनम्॥

जिस प्रकार गाय घास खाती है परंतु मनुष्यों के लिए दूध रूपी अमृत देती है, उसी प्रकार मुनियों के लिए दिया हुआ थोड़ा आहार भी स्वर्ग और मोक्षरूपी धन को देता है। आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज कहा करते थे कि तीन पाव आटे में मोक्ष मार्ग मिलता है अर्थात् उस अन्न का आहार बना कर मुनि को दे, स्वयं करे ऐसा करके वह श्रमण और श्रावक दोनों धर्म का पालन करते हैं जो परंपरा से मुक्ति का कारण है। शास्त्रों में चार प्रकार के दानों का उल्लेख है-औषधि, आहार, शास्त्र व अभय दान। एक भव में दिया दान आगे बहुत बड़े फल को देने में समर्थ होता है।

वटबीजं यथा स्तोकं चोप्तं भूरिगुणं भवेत्।
सुक्षेत्रे च महापात्र दानं भोगधरादिषु॥

जिस प्रकार उत्तम क्षेत्र में बोया हुआ वट का छोटा सा बीज बहुत गुणा हो जाता है उसी प्रकार महापात्र-मुनिराज के लिए दिया हुआ थोड़ा सा दान कई गुणा फल देता है।

भारतीय संस्कृति व धर्म में चारों दानों का अत्यंत महत्त्व है। दान धर्म का सलाहकार है, यह धर्म की प्राप्ति का साधन है। आहार दान की भाँति औषधदान भी बहुत उत्तम है। नाग श्री के द्वारा दिए गए औषधि दान से वह आगे चलकर वृषभसेना हुई जिसके स्नान के जल से बड़े-से-बड़ा रोग भी ठीक हो जाता था।

मनुष्य व्यवहार में भी चिकित्सा दिलवाकर साधर्मी का कष्ट दूर कर धर्म के लिए प्रेरित कर सकते हैं। जनता यदि चाहे तो साधर्मियों के लिए औषधालय खोलकर सरकार की भी मदद कर सकती है।

जनतंत्र का तात्पर्य है जनता का, जनता के द्वारा, जनता के लिए शासन। सरकार तो केवल संरक्षण देती है। सभी लोग एक दूसरे के प्रति प्रेम व सेवा भाव रखें तभी जनतंत्र सफल होगा। यदि कोई साधर्मी भूखा है तो उसके लिए भोजनादि की व्यवस्था करें, रोगियों के लिए चिकित्सालयादि खुलवायें। आज भी कहीं-कहीं चिकित्सक शिविर लगाए जाते हैं जिनके माध्यम से रोगी कष्ट से मुक्ति भी पाता है। यदि कोई पढ़कर धर्म, देश, राष्ट्र, समाज की सेवा करना चाहता है तो उसकी पढ़ायी करवायें। इससे वह कम से कम अपने परिवार का तो पोषण कर सकेगा, पाप से तो दूर होगा। सभी को जीने का अधिकार है। किसी को जीवन यदि दे नहीं सकते तो उसे लेने का भी अधिकार नहीं है। अतः सभी को अभय दान प्रदान करें, किसी से उसका जीवन न छीनें।

आचार्य भगवन् श्री जिनसेन स्वामी ने महापुराण के सोलहवें अध्याय में जैनों के लिए संविधान प्रस्तुत किया है-उसमें पच्चीस प्रतिशत आपको धार्मिक कार्यों हेतु दान देने के लिए लिखा है, छः प्रतिशत सरकार को कर रूप में देने के लिए लिखा है शेष बचा उनहत्तर प्रतिशत में से पचास प्रतिशत व्यापार में लगाइये तथा शेष उन्नीस प्रतिशत में से कुछ अन्य आवश्यकताओं के लिए खर्च कीजिए व कुछ बचाइये, इसको उन्होंने वर्णलाभ क्रिया का नाम दिया है। इस प्रकार अकलंक संहिता, जिनसेन संहिता, अरहनन्दि संहिता आदि कुल दस संविधान बने हुए हैं, जिनमें सबमें दान को अत्यंत महत्त्व दिया गया है। दान करने से धन घटता नहीं अपितु वृद्धि को प्राप्त होता है जो यहाँ तो सम्यक् फल को देने वाला है ही आगे भी भोगों को देने वाला होता है।

अगली बात कही वृद्ध सेवा। वृद्ध का अर्थ है जो अपनी उम्र के चौथेपन में प्रवेश कर चुके। जो स्वानुभव से परिपक्व हो चुके अथवा जो विवेक रूपी प्रकाश से वृद्धिंगत हो चुके अथवा जो तप रूपी तेज से वृद्धिंगत हैं अथवा ज्ञान, ध्यान, संयम के द्वारा वृद्ध हों। नीतिकारों ने कहा है-

तप-श्रुत-धृति-ध्यान-विवेकयम-संयमैः।
ये वृद्धास्तेऽत्र शस्यंते, न पुनः पलितांकुरैः॥

जो तप, शास्त्र ज्ञान, धैर्य, ध्यान, विवेक, यम और संयम के द्वारा वृद्ध हैं वे प्रशंसनीय हैं न कि सफेद बाल वाले।

वृद्धो की सेवा दोषापहारिणी होती है। वृद्धों को घर का परमात्मा कहा जाता है। कहा जाता है, 'वृद्धा नारी ईश्वरी' अर्थात् वृद्ध नारी ईश्वर का रूप होती है। मंदिर के परमात्मा की समीचीन पूजन वही कर सकता है जिसने घर के परमात्मा की पूजा की हो। जिस प्रकार

आँगन में लगा वृक्ष फल देता है, बाद में यदि फल देना बंद भी कर दे तो शीतल छाया प्रदान करता है, और छाया भी देना बंद कर दे तो उसकी लकड़ियाँ भी फर्नीचरादि के काम में आती हैं उसी प्रकार वृद्ध पुरुष भी जब तक शक्ति है तब तक परिवार वालों को, बच्चों को देते ही देते हैं और जब कुछ नहीं देते तो अपनी शीतल छाया तो प्रदान करते ही हैं। उनकी प्रत्येक झुर्री पर पड़े 80-80 अनुभव व्यक्ति को पथभ्रांत होने से रोकते हैं। माता-पिता का आशीर्वाद संतानों के लिए सबसे अधिक बहुमूल्य होता है। सौभाग्यशाली हैं वे लोग जिनको वृद्धों की संगति, उनके अनुभव, उनकी बातें सुनने को मिलती हैं। परंतु उन लोगों के विषय में क्या कहें जो माता-पिता का आशीर्वाद लेने में असमर्थ हैं।

वृद्ध सेवा से इस लोक में उन्नति सुनिश्चित है। उनके आशीर्वादात्मक वचन उन्नति के सोपान का कार्य करते हैं। आज भी कई लोग ऐसे हैं जो कहते हैं कि यह हमारे दादा-दादी का या माता-पिता का ही आशीर्वाद है जो हम उच्च पद पर आसीन हैं अन्यथा हम इस योग्य कहाँ थे, आज हम जो कुछ भी हैं, उन्हीं के कारण हैं। वृद्धों का आशीर्वाद कभी खाली नहीं जाता। और भी कहा है-

लोकद्वय-विशुद्धयर्थं भावशुद्धयर्थमञ्जसा।
विद्याविनयवृद्धयर्थं वृद्धसेवैव शस्यते॥

दोनों लोकों की शुद्धि के लिए तथा विद्या और विनय की वृद्धि के लिए वृद्ध सेवा ही प्रशंसनीय है। यह वृद्ध सेवा विद्या व ज्ञान को देने वाली होती है।

अगली बात ग्रंथकार कहते हैं कि अहिंसा से दीर्घ या शुभ आयु की प्राप्ति होती है। अहिंसा का अर्थ है कि आपकी चर्या, आचरण,

वाणी, विचारों से किसी को भी कष्ट न हो। कष्टदायक प्रवृत्ति भी हिंसा के अंतर्गत आती है।

कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वथा।
अक्लेश जननं प्रोक्ता ह्यहिंसा परमर्षिभिः॥

सब प्राणियों में मन, वचन, काय से सब प्रकार का क्लेश उत्पन्न नहीं करने को महर्षियों ने अहिंसा कहा है।

आचार्य भगवन् श्री उमास्वामी मुनिराज श्री तत्त्वार्थ सूत्र में कहते हैं ''प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा'' प्रमत्त योग से प्राणों का हरण हिंसा है। जबकि जीवों की रक्षा अहिंसा है।

जिस प्रकार फसल उत्पादन में मुख्य कारण जल है उसी प्रकार समस्त व्रतों की सिद्धि में मुख्य कारण अहिंसा है। अहिंसा के बिना धर्म का प्रारंभ ही नहीं है। जो बिना अहिंसा के धर्म का पालन करना चाहते हैं वे मानो आकाश में पुष्प लगाना चाहते हैं। जननी के समान अहिंसा सबकी रक्षा करने वाली है।

यदि धर्म में से अहिंसा को निकाल दिया जाए तो उसमें कुछ भी नहीं बचेगा क्योंकि धर्म स्वयं अहिंसा रूप है। कर्नाटक के एक कवि ने अपनी कविता में लिखा था जिसके भाव इस प्रकार हैं ''जिस धर्मग्रंथ में जीव दया, प्राणी रक्षा की बात नहीं कही वे सभी अग्नि में ईंधन बनने योग्य हैं।'' कहा भी है-

भानुभ्रष्टमहो यदि प्रभुमृते राज्यं च संजायते,
राजीवं च जलाशयेन रहितं चित्रं तथापाश्रये।
पुंभामापगतं कुलं यदि धराहीनस्तथानोकहः,
प्राणित्राणविवर्जितोऽपि नियतं जायेत धर्मस्तदा॥

यदि सूर्य से रहित दिन, राजा के बिना राज्य, सरोवर के बिना कमल, आश्रय के बिना चित्र, स्त्री-पुरुषों से रहित कुल तथा पृथ्वी

के बिना वृक्ष हों तो प्राणी रक्षा-जीवदया से रहित धर्म भी उस समय निश्चित रूप से हो। जिस प्रकार उपर्युक्त बातों का होना असंभव है, उसी प्रकार दया के बिना धर्म का होना असंभव है।

जो प्राणी अन्य के प्राणों की रक्षा करता है तो उसके प्राणों की भी रक्षा होती है अर्थात् दीर्घायु प्राप्त होती है।

आयुष्मान् सुभगः श्रीमान् सुरुपः कीर्तिमान् नरः।
अहिंसा व्रतमाहात्म्यादेकस्मादेव जायते॥

मनुष्य एक अहिंसाव्रत के माहात्म्य से ही दीर्घायु, सुंदर, श्रीमान् उत्तम रूप वाला और कीर्तिमान् होता है।

जिसने दूसरों के प्राणों की रक्षा की है तब उसके प्राणों की भी रक्षा हुई है। उज्जैनी नगरी में मृगसेन नामक एक धीवर रहा करता था उसकी पत्नी का नाम जयघंटा था। एक दिन उसने मुनिराज का उपदेश सुना सभी लोग मुनिराज से कोई-न-कोई नियम ग्रहण कर रहे थे वह भी मुनिराज के पास नियम लेने पहुँचा तो मुनिवर ने उसे अहिंसाव्रत पालन करने की प्रेरणा दी। उसने कहा "मुनिवर ! मैं तो धीवर हूँ, हिंसा ही मेरा व्यापार है। मुनिराज ने कहा "तो आज तुम्हारे जाल में जो पहली मछली आए उसे छोड़ देना।" यह नियम लेकर धीवर खुशी-खुशी वहाँ से चला गया।

नदी के किनारे पहुँचकर उसके जाल में पहली ही मछली इतनी बड़ी व अच्छी आई जिसकी उसे कल्पना भी नहीं थी। तुरंत उसे अपना नियम याद हो आया कि पहली मछली छोड़नी है। उसने पहचान के लिए उसके गले में काला धागा बांध दिया। मृगसेन को सुबह से शाम हो गई किंतु पाँच बार मछली पकड़ में आई और वही जिसके गले में काला धागा बंधा था। उसे देखकर वह मछली को छोड़ता रहा। जब वह घर पहुँचा तो उसे उसकी पत्नी ने बहुत

धिक्कारा। वह घर के बाहर चुपचाप नियम पालने की प्रसन्नता के साथ एक वृक्ष के नीचे सो गया। वहाँ रात्रि में साँप के काटने पर उसकी मृत्यु हो गई।

मृत्यु के पश्चात् वह उसी नगर के राजश्रेष्ठी गुणपाल की पत्नी धनश्री के गर्भस्थ हुआ। नगर के राजा विश्वंधर के मंत्री के पुत्र ने जो कि व्यसनी था विवाह के लिए गुणपाल की पुत्री बंधु श्री का प्रस्ताव रखा। व्यसनी के साथ गुणपाल अपनी पुत्री का विवाह नहीं करना चाहता था अतः अपनी गर्भवती स्त्री व एक अरब 8 करोड़ की संपत्ति को अपने मित्र श्रीदत्त के यहाँ छोड़कर अपनी पुत्री को ले नगर छोड़कर चला गया। श्रीदत्त के घर के पास एक श्रावक रहता था। एक दिन वहाँ शिवगुप्त व त्रिगुप्त मुनि आहारार्थ आए। धन श्री को दीनावस्था में आँगन में खड़े देख त्रिगुप्त मुनि, शिवगुप्त मुनि से बोले ''लगता है इसके गर्भ में कोई पापी जीव आया है उसी से इसकी यह दुर्दशा है।'' यह सुन अवधिज्ञानी मुनिराज बोले ''ऐसा नहीं है, यह गर्भस्थ जीव इस नगर का राजा होगा''

यह बात श्रीदत्त ने सुन ली। उससे यह सहन नहीं हुआ। उसने पुत्र के जन्म लेते ही उसे चांडाल को वध करने हेतु दे दिया और सबसे कह दिया कि मृत पुत्र का जन्म हुआ है। चांडाल ने बालक को न मारकर उसके भाग्य के भरोसे वन में छोड़ दिया कुछ समय पश्चात् वहाँ से श्रीदत्त का बहनोई इंद्रसेन गुजरा। नवजात शिशु को देख उसने अपनी पत्नी राधा से कहा कि हमारे कोई संतान नहीं थी यह संतान पुण्य से वन में प्राप्त हुई है। दोनों उसको लेकर बहुत प्रसन्न हुए। पापी श्रीदत्त को जब यह पता चला तो उसने छल से अपनी बहन को घर बुला लिया और पुत्र को जल्लादों को दे दिया। उन्होंने भी उसे नहीं मारा और वृक्षों के झुंड में रख दिया। उसके पास आकर गायों के थनों से दूध झरने लगे। ग्वाल वहाँ आ पहुँचे और उस बालक को मुख्य

गोविंद ग्वाल को सौंप दिया। गोविंद के भी कोई संतान नहीं थी इसलिए उसने पुत्र को अपनी पत्नी सुनंदा को सौंप दिया। उसका नाम धनकीर्ति रखा।

एक दिन श्रीदत्त घी खरीदता हुआ वहाँ पहुँच गया। यद्यपि धनकीर्ति बड़ा हो चुका था किंतु फिर भी श्रीदत्त ने उसे पहचान लिया। संदेह दूर करने के लिए सच्चाई का पता लगाया तो उसे संपूर्ण सत्य ज्ञात हो गया। अपने पापाशय को छिपाते हुए उसने गोविंद से कहा कि यदि तुम्हारा बेटा चिट्ठी व घी लेकर मेरे घर जाए तो बड़ी कृपा होगी। भोला गोविंद उसकी पाप बुद्धि को समझ नहीं पाया। धनकीर्ति घी व चिट्ठी लेकर चला। वह रास्ते में एक स्थान पर सो गया। उसकी सुंदरता देख मृगसेना वेश्या उस पर मोहित हो गई। उसने उसके गले में पड़ी चिट्ठी देखी तो उसे पढ़ने लगी, उसका हृदय काँप उठा। उसने चिट्ठी बदल दी और लिख दिया कि "मेरी प्रतीक्षा किए बिना अपनी बहन का विवाह इसके साथ कर दो।"

इन सबसे अंजान धनकीर्ति की जब नींद खुली तो वह श्रीदत्त सेठ के यहाँ पहुँचा। पत्र पढ़कर महाबल अति प्रसन्न हुआ और बहन श्रीमती का विवाह उसके साथ कर दिया। कुछ दिन पश्चात् जब सेठ पहुँचा तो आश्चर्य चकित रह गया। उसने पुनः उसको मारने के प्रयास से उससे कहा कि रात्रि 12 बजे कुलदेवता को नैवेद्य चढ़ाना हमारे यहाँ की परंपरा है और पहले से तलवार लिए सैनिक वहाँ नियुक्त कर दिए। धनकीर्ति को रात्रि में कहीं जाता देख महाबल बोला जीजा जी आप कहाँ जाते हैं। धनकीर्ति ने उसे सारी बात बताई। महाबल बोला आप भटक जाएँगे, नैवेद्य मैं चढ़ा आता हूँ। धनकीर्ति तो बच गया किंतु महाबल की मृत्यु हो गई।

एक दिन सेठ ने अपनी सेठानी विशाखदत्ता को सब बताया और कहा विष देकर इसे मार डालो। सेठानी ने दो प्रकार के लड्डू बनाए

काले व सफेद। सफेद विष मिश्रित थे। सेठानी ने पुत्री से कहा भोजन में पिता को काले व पति को सफेद परोसना। भोजन के समय यह सोचकर कि पिता क्या सोचेंगे, सफेद लड्डू पिता को परोस दिए जिससे पिता की मृत्यु हो गई। पति को मृत देख विशाखदत्ता भी मृत्यु को प्राप्त हो गई। सेठ की सब संपत्ति उसे प्राप्त हुई। आगे उससे राजकुमारी का भी विवाह संपन्न हुआ। राजा का पुत्र नहीं होने से धनकीर्ति उस देश का राजा बना।

एक दिन धनकीर्ति सपरिवार मुनि दर्शन को गया। पूर्वभव सुना तो ज्ञात हुआ कि मछली को 5 बार जीवन दान देने से उसकी भी पाँच बार रक्षा हुई, राज्य पद प्राप्त किया। अहिंसा व्रत की महिमा अचिंत्य है।

जिसका मन पवित्र होगा, उज्ज्वल होगा उसी का जीवन श्रेष्ठ होगा। अपने सम्यक् आदर्शों को, संस्कृति को, सिद्धांतों को नहीं छोड़ना चाहिए। जब हम स्वयं की हिंसा नहीं चाहते तो दूसरों की कैसे करना चाहते हैं? यदि स्वयं सुरक्षित रहना चाहते हैं, तो दूसरों को भी सुरक्षित रहने दो, दूसरों को भी सुरक्षा प्रदान करो। हम सब अपनी सुरक्षा चाहते हैं इसका तात्पर्य है कि हम हिंसा चाहने वाले नहीं हैं, अहिंसा चाहने वाले हैं। जो हिंसा पर विश्वास करते हैं उनकी दुर्गति होती है। यदि हिंसा अच्छी होती तो हिटलर को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता, जिसने घोर हिंसक कार्यवाहियाँ की थीं, पर ऐसा नहीं है। हमारी संस्कृति अहिंसा से जुड़ी हुई है, इसको बनाए रखने के लिए सचेष्ट रहना चाहिए। इसी अहिंसक संस्कृति से ही महात्मा गांधी ने देश को स्वतंत्र कराया था।

अगली बात कही तप से मोक्ष की प्राप्ति होती है। तप उस अग्नि के समान है जो सब कर्मों को जलाकर राख कर देती है और सब कर्मों का क्षय हो जाना ही मोक्ष है। आचार्य भगवन् श्री पूज्यपाद

स्वामी सर्वार्थसिद्धि में कहते हैं ''सर्वकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः''। सब कर्मों का जुदा होना मोक्ष है। तप अंतरंग व बहिरंग के भेद से दो प्रकार का होता है। महिलाएँ तवे पर रोटी सेकती हैं यदि वे एक तरफ से सेंक दें, दूसरी ओर से नहीं सेकें तो वह कच्ची कहलाएगी। इसी प्रकार यदि एक तप को ही महत्त्व दें तो वह परिपक्व तप नहीं होगा। सिक्के के दो पहलू होते हैं-एक पहलू के बिना दूसरे का अस्तित्व संदिग्ध है। बहिरंग तप साधन है व अंतरंग तप साध्य है। साधन और साध्य दोनों इष्ट की सिद्धि होने तक साथ चलते हैं।

एक युवक कुछ रत्न लेकर दूसरे शहर गया। मार्ग में गाड़ी खराब हो जाने से सब यात्री वहाँ रुक गए। टी.टी. ने सबसे टिकट माँगे। उस युवक से भी माँगा किंतु उसने कोई जवाब नहीं दिया। टी.टी. ने उसे पुलिस के हवाले कर दिया। रात भर उसने गर्मी भूख-प्यास आदि कष्टों को सहा। प्रातःकाल मजिस्ट्रेट के पास ले जाया गया, उसने मजिस्ट्रेट को तुरंत टिकट दे दिया। मजिस्ट्रेट ने कहा तुमने यह टी.टी. को क्यों नहीं दिया। वह बोला मेरे पास कीमती माल था, इसकी सुरक्षा आवश्यक थी। माल के साथ जान को भी खतरा था तब पुलिस चौकी ही सुरक्षित रहने का विकल्प था मैंने एक दिन कष्ट सहकर जान व माल दोनों की सुरक्षा कर ली। अतः जिस प्रकार कष्ट सहने से हीरे-जवाहरात की रक्षा हुई उसी प्रकार आत्म-रत्न की रक्षा के लिए तप-उपवास की आवश्यकता है। तप की महिमा बताते हुए आचार्य महाराज कहते हैं-

यस्मात्तीर्थकृतो भवन्ति भुवने भूरिप्रतापाश्रया-
श्चक्रेशा हरयो गणेश्वरबलाः क्षोणीभृतो वज्रिणः।
जायन्ते बलशालिनो गतरुजो यस्माच्च पूर्वर्षिभिः,
यच्चक्रे धनकर्मपाशमथनं जीयात्तपस्तच्चिरम्॥

जिससे मनुष्यलोक में अतिशय प्रताप के आधारभूत तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण, गणपति, बलभद्र, राजा तथा इंद्र होते हैं, जिससे मनुष्य बलिष्ठ तथा निरोग होते हैं, पूर्व ऋषियों ने जिसे धारण किया है तथा जो कर्मरूपी सुदृढ़ पाश को खंडित करने वाला है, वह तप चिरकाल तक जयवंत रहे।

तपश्चर्या की महिमा तो देखो जिससे कितने भव्य जीवों ने मोक्ष को प्राप्त किया। तपस्वियों में महान शक्ति होती है उनके लिए प्रकृति भी करवट बदलती है। तप के लिए तीनों लोकों में स्थित कोई भी वस्तु अलभ्य नहीं। यह स्वर्ग लक्ष्मी और मोक्षलक्ष्मी को भी प्राप्त कराने वाला है। तप से आत्मा के पूर्वसंचित कर्म नष्ट होते हैं और मोक्ष की प्राप्ति होती है। सुकुमाल मुनि, गजकुमार मुनि, सुकौशल मुनि, बाहुबली स्वामी, संजयंत मुनि, देश-भूषण-कुलभूषण मुनि, पांडव आदि प्रथमानुयोग में कई उदाहरण हैं जिन्होंने तप करके अपने कर्मों को क्षय किया।

सम्यग्दृष्टि का लक्षण

मेत्तिं पमोद-कारुण्णं, मज्झत्थं सुह-भावणा।
भावेज्ज हि सुहाकंखी, सद्दिट्ठी पुरिसो अमू॥६४॥

अर्थ:-मैत्री, प्रमोद, कारुण्य व माध्यस्थ भावनाऐं नित्य ही भायी जानी चाहियें। इस भावना से युक्त पुरुष ही हितकारी, सुखाकांक्षी होता है और वह ही सम्यग्दृष्टि है।

Generous friendship or Benevolence, joy, compassion and neutral passions should be a part of daily life of a person. A person endoured with these passions is benevolent, desirous of bliss and right believer.

भावार्थ:-सम्यक् यानि समीचीन। सही, समीचीन और सम्यक् दृष्टि का धारक सम्यक्दृष्टि है। सम्यक्दृष्टि सच्चे देव, शास्त्र, गुरु की भक्ति में अहर्निश लगा रहता है, सप्त तत्त्वों पर श्रद्धान रखता है, जिन धर्म व धर्मियों के प्रति निष्ठावान् रहता है। सम्यग्दृष्टि के विषय में आचार्य महाराज कहते हैं-

आप्तागममुनीन्द्राणां श्रद्धानं तद्धि दर्शनं।
शंकादिदोषनिष्क्रांतं गुणाष्टकविभूषितं॥

आप्त, आगम और मुनिराजों का शंकादि दोषों से रहित तथा नि:शंकितादि गुणों से सहित जो श्रद्धान है, वह सम्यग्दर्शन है अथवा तत्त्वानुशासन में कहा है-

जीवादयो नवाप्यर्था ये यथा जिनभाषिता:।
ते तथैवेति या श्रद्धा सा सम्यग्दर्शनं स्मृतम्॥

जीवादिक जो नौ पदार्थ-जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप के नाम हैं उन्हें जिस प्रकार से सर्वज्ञ जिन ने निर्दिष्ट किया है वे उसी प्रकार से स्थित हैं-अन्यथा रूप से नहीं,

ऐसी जो श्रद्धा, रुचि अथवा प्रतीति है उसका नाम सम्यग्दर्शन है अथवा सरल शब्दों में बताते हुए आचार्य महाराज कहते हैं-

नास्ति चार्हत्परो देवो, धर्मो नास्ति दयापरः।
तपो नास्ति च नैर्ग्रंथ्या देतत्सम्यक्त्व लक्षणम्॥

अरिहंत से बढ़कर देव नहीं है, दया से बढ़कर धर्म नहीं है और निर्ग्रंथता से बढ़कर तप नहीं है, ऐसा श्रद्धान ही सम्यक्त्व का लक्षण है।

अथवा सम्यक् यानि समीचीन अर्थात् जिसकी दृष्टि समीचीन है। जो हर परिस्थिति को सही दृष्टिकोण से देखता है व समझता है। सही दृष्टिकोण व्यक्ति के जीवन को सही मार्ग निर्देशन भी देता है।

सम्यक्दृष्टि जीवों के द्वारा मैत्री, प्रमोद, कारुण्य व माध्यस्थ भावनाएँ निरंतर भायी जानी चाहिए। आचार्य महाराज ने सर्वप्रथम स्थान मैत्री भावना को दिया। इसका कारण यह है कि मैत्री संसार के प्रत्येक प्राणी के प्रति रखी जा सकती है और रखी भी जानी चाहिए। सबसे पहले कथन अधिकतम की अपेक्षा किया जाता है। चारों में से यही भावना ऐसी है जो एकेंद्रिय से पंचेंद्रिय तक के प्रति भायी जा सकती है। इसकी संख्या सबसे ज्यादा है, हम प्रत्येक जीव के प्रति मैत्री स्थापित कर सकते हैं। चाहे वह संसार की किसी भी गति में हो, चाहे वे संसार से अतिक्रांत होकर के सिद्धालय में विराजमान हो चुके हैं, चाहे वह मेरी स्वयं की आत्मा ही क्यों न हो इसलिए मैत्री सबके साथ हो। आचार्य भगवन् श्री पूज्यपाद स्वामी ने कहा है-**''परेषां दुःखानुपत्यभिलाषा मैत्री''** दूसरों के दुःखों की अनभिलाषा यानि दूसरों को दुःख न हो ऐसी अभिलाषा मैत्री है।

अथवा आचार्य भगवन् श्री शिवकोटि स्वामी कहते हैं ''अनंत काल से मेरा आत्मा घटीयंत्र के समान इस चतुर्गतिमय संसार में भ्रमण कर रहा है। इस संसार में संपूर्ण प्राणियों ने मेरे ऊपर अनेक बार महान्

उपकार किए हैं।'' ऐसा मन में जो विचार करना है वह मैत्री भावना है।'' गौतम गणधर स्वामी प्रतिक्रमण में कहते हैं-**''मित्ती मे सव्व भूदेसु वैरं मज्झं ण केण वि''** संसार में कोई शत्रु है ही नहीं तुम सबको मित्र समझो। संसार के सभी प्राणियों में जीव मात्र में मैत्री भाव स्थापित करो, जब तुम दूसरों के प्रति मैत्री भाव रखोगे तो आज नहीं तो कल उसके मन में भी तुम्हारे प्रति मित्रता का भाव निष्पन्न हो जायेगा।

मित्रता के मायने और क्या हैं-मित्र कहिये तो मिष्ट, मित, मिलनसार, मितव्ययी जो हमारी आत्मा के लिए रक्षक है हमारे संसार को अल्प करने वाला है, मिष्ट व शिष्ट हो, जिससे मिलकर तृप्ति न हो, वह मित्र है।

दूसरी भावना है-प्रमोद। प्रकृष्टं मोदं इति प्रमोदं प्रकृष्ट मोद-आनन्द प्रमोद भाव है। गुणी जनों को देखकर प्रमोद भाव हो, अंतरंग से आनंद का झरना फूट पड़े। आचार्य भगवन् श्री पूज्यपाद स्वामी सर्वार्थसिद्धि में कहते हैं-**''वदनप्रसादादिभिरभित्यज्य-मानान्तर्भावित रागः प्रमोदः''** मुख की प्रसन्नता आदि के द्वारा भीतर भक्ति व अनुराग का व्यक्त होना प्रमोद है। पंचपरमेष्ठी, संयमी अथवा गुणी जनों को देख उसके अंतरंग में उठ रहीं आनंद की हिलोरें उसके चेहरे पर स्पष्ट दिखती हैं। वह प्रमोद भाव से युक्त जीव गुणी जनों को देख अपनी मुख मुद्रा मलिन नहीं करता, ईर्ष्या या मात्सर्य का भाव नहीं रखता अपितु उनके आगमन का समाचार भी उसके हृदय कमल को विकसित करने वाला होता है।

अगली भावना है कारुण्य भावना। दुःखी जीवों के प्रति दया का, करुणा का भाव रखना कारुण्य भावना है। आचार्य भगवन् श्री अकलंक देव स्वामी ''राजवार्तिक'' में कहते हैं **''दीनानुग्रह भावः कारुण्यं''** दीनों पर दया भाव रखना कारुण्य है अथवा शारीरिक,

मानसिक और स्वाभाविक ऐसी असह्य दुःखराशि प्राणियों को सता रही है, यह देखकर हा! इन दीन प्राणियों ने मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय व अशुभयोग से जो कर्म उत्पन्न किया था वह उदय में आकर इन्हें दुःख दे रहा है, कर्म के वश होकर ये कितना दुःख भोग रहे हैं इस प्रकार दूसरों के दुःखों को देख दुःखी होना कारुण्य भाव है।

''दया सर्वप्राणिविषया'' सर्व प्राणियों के ऊपर उनका दुःख देखकर अंतःकरण आर्द्र होना दया का लक्षण है। आचार्य श्री अकलंक देव तो संक्लेशतम दया को तीर्थंकर प्रकृति के बंध का कारण कहते हैं। प्राणियों के प्रति इतनी दया कि उनका अनुग्रह करने हेतु व्यक्ति संक्लेशित हो जाए और ऐसी दया करुणा से युक्त सम्यग्दृष्टि जीव हो सकता है। ग्रंथकार ने स्वयं किन्हीं प्रतिकूल परिस्थितियों में स्वयं के पहाड़ जैसे दुख को भुलाकर सामान्य प्राणियों के प्रति कुछ इसी प्रकार की भावना निम्न पंक्तियों के माध्यम से प्रकट की थी-

अपने दुःख से नहीं दुःखी मैं, मैं पीड़ित पर पीर से।
मैंने अपनी कही भावना वर्द्धमान महावीर से॥

अंतिम भावना है माध्यस्थ भावना। आचार्य देवनंदी स्वामी अपर नाम श्री पूज्यपाद स्वामी 'सर्वार्थ सिद्धि' में माध्यस्थ भावना को परिभाषित करते हुए कहते हैं-**रागद्वेषपूर्वकपक्षपाताभावो माध्यस्थ्यं**-रागद्वेष पूर्वक पक्षपात का न करना माध्यस्थ्य है। प्रतिकूल प्रवृत्ति करने वाले, धर्म का विरोध करने वाले, धर्मात्मा को परेशान करने वाले, धर्म का विध्वंस करने वाले, धर्म की मर्यादा का लोप व उल्लघंन करने वाले व्यक्तियों के प्रति राग तो हो नहीं सकता और द्वेष करने पर कर्म बंध होगा, तो ऐसे व्यक्तियों के प्रति न राग भाव रखना, न द्वेष भाव उनके प्रति माध्यस्थ हो जाना चाहिये।

इस प्रकार सुख की आकांक्षा रखने वाले सम्यक्दृष्टि पुरुषों के द्वारा ये चार प्रकार की भावना निरंतर भायी जानी चाहिए।

सम्यक्दृष्टि के गुण

णिंदा संवेअ-णिव्वेओ, गरहा भत्ति-वच्छलं।
उवसमाणुकंपा य, सद्दिट्ठीणं गुणा वसू॥६५॥

अर्थ:-निंदा, संवेग, निर्वेग, गर्हा, भक्ति, वत्सल, उपशम भाव व अनुकंपा निश्चय से सम्यग्दृष्टि के आठ गुण हैं।

There are eight virtues of a real believer-self censure, samvega (fear of transmigration), nirvega (disregard of worldly things), garha (confessing before the master), veneration, affection, subsidence and compassion.

भावार्थ:-सम्यग्दर्शन कल्याण का प्रथम सोपान है, सम्यग्दर्शन बिना आत्मा का कल्याण संभव नहीं है। आचार्य समंतभद्र स्वामी ने तो यहाँ तक कह दिया कि यदि सम्यग्दर्शन का एक अंग भी कम है तो वह जन्म की परंपरा को नष्ट नहीं कर सकता जैसे अक्षर से विहीन मंत्र विष की वेदना को दूर करने में समर्थ नहीं होता वैसे ही अंग से विहीन सम्यग्दर्शन संसार की संसृति को नष्ट नहीं कर सकता। सम्यग्दर्शन मोक्ष रूपी महल की नींव है। बिना नींव के जैसे कोई भवन या महल नहीं बन सकता उसी प्रकार सम्यग्दर्शन रूपी नींव के बिना मोक्ष मार्ग व मोक्ष महल नहीं बन सकता।

सम्यक् दर्शन होने पर ज्ञान सम्यक्ज्ञान, वैराग्य सम्यक् वैराग्य, चारित्र सम्यक् चारित्र, तप सम्यक्तप और ध्यान सम्यक् ध्यान धर्म ध्यान कहलाता है, शुक्ल ध्यान की भूमिका बनती है। बिना सम्यग्दर्शन के कोई भी जीव कर्मों का क्षय करने में समर्थ नहीं हो पाता है। ग्रंथकार ने यहाँ सम्यग्दृष्टि के आठ लक्षण कहे हैं क्योंकि बिना लक्षण के लक्ष्य की पहचान नहीं होती। लक्षणों के माध्यम से वस्तु या व्यक्ति की पहचान की जा सकती है। ये ही आठ लक्षण सिद्धांत चक्रवर्ती आचार्य वसुनंदी स्वामी ने कहे।

प्रथम लक्षण है संवेग। संवेग का व्युत्पत्ति अर्थ है सं-अर्थात् सम या समीचीन। आशय यह है समीचीन या समान वेग से बहना अथवा धर्म व धर्म के फल को देखकर आनंदित होना। पंचाध्यायी में कहा है-

संवेगः परमोत्साहो धर्मे धर्मफले चितः।
स धर्मेष्वनुरागो वा प्रीतिर्वा परमेष्ठिषु॥

धर्म व धर्म के फल में आत्मा के परम उत्साह को संवेग कहते हैं अथवा धार्मिक पुरुषों में अनुराग अथवा पंचपरमेष्ठी में प्रीति रखने को संवेग कहते हैं।

और भी कहा है- **धम्मे य धम्म फलम्हि दंसणे य हरिसो य हुंति संवेगो।** धर्म में, धर्म के फल में और दर्शन में जो हर्ष होता है, वह संवेग है।

देवे दोषोज्झिते धर्मे तथ्ये शास्त्रे हिते गुरौ।
निर्ग्रंथे योऽनुरागः स्यात् संवेगः स निगद्यते॥

दोषरहित देव, धर्म, यथार्थ शास्त्र व हितकारी निर्ग्रंथ गुरु में जो अनुराग है, वह संवेग कहलाता है।

कनकपुर में राजा कनकरथ ने एक समय बहुत बड़ी पूजा का आयोजन करवाया और प्रत्येक व्यक्ति को बैठने का निर्देश दिया। दूसरे नगर के ब्राह्मण प्रीतिंकर कुमार ने जब जिनेंद्र देव की महापूजा देखी तो उसको देख वह भी भक्ति में सराबोर हो उठा। जयघोषों के साथ स्वयं भी जयकारा लगाई और भावना भायी कि कभी मैं भी जिन प्रभु की पूजा का भव्य आयोजन करूँ। जिनपूजा की अनुमोदना से वह व्यंतर देव हुआ और वहाँ मुनियों का उपसर्ग दूर कर आगे महाराक्षस नाम का विद्याधर हुआ और मोक्ष को प्राप्त किया। धर्म व धर्म के फल में यह हर्ष उसके निर्वाण का कारण बना।

अथवा संवेग का अन्य अर्थ है-संसार, शरीर, भोगों से विरक्ति। आचार्य भगवन् श्री पूज्यपाद स्वामी सर्वार्थ सिद्धि ग्रंथ में कहते हैं-**''संसारदुःखान्नित्यभीरुता संवेगः''** संसार के दुःखों से नित्य डरते रहना संवेग है। इस प्रकार यह सम्यग्दृष्टि जीव का प्रथम लक्षण है। सम्यग्दृष्टि जीव जिन दर्शन, पूजन, मुनि आगमन आदि पर अति हर्षित होता है और संसार से सदा भयभीत रहता है। संसार अनित्य है, दुःखमय है, असार है। यह जन्म मरण की परंपरा अनादिकाल से हमारे द्वारा ही चल रही है और इसको नष्ट भी हम ही कर सकते हैं। यह शरीर रोगों का घर है, इस एक शरीर में 5 करोड़ 68 लाख 99 हजार 584 रोग हैं। कब कौन सा रोग उदय में आ जाये नहीं कहा जा सकता। यह तन मिला है इसकी सार्थकता तो तभी है जब इसके माध्यम से मुक्ति का उपाय कर लिया जाये। कहा है-**''यह तन पाय महा तप कीजे यामें सार यही है''** सनत् कुमार चक्रवर्ती जिनकी सुंदरता की चर्चा देवलोक में भी हो रही थी। उन्हीं मुनिसनत् कुमार का शरीर कुष्ट रोग से व्याप्त हो गया। देव वैद्य का रूप बना परीक्षा लेने आए तब कहा कि मुझे कोई औषधि नहीं चाहिए परंतु जब वैद्य (देव) अधिक कहने लगे तो वे बोले यदि जन्म-जरा-मृत्यु जैसे रोगों की दवा आपके पास हो, जिससे ये रोग नष्ट हो सकें तो वह आप प्रदान करें। यह सुनते ही वह देव असली रूप में प्रकट हो गया और मुनिराज की स्तुति कर प्रस्थान किया।

अतः सम्यग्दृष्टि जीव संसार में रहकर भी अत्यंत आसक्त नहीं होता और इसके दुःखों से डरता रहता है। संसार से भयभीत व्यक्ति गलत कार्यों में शीघ्र प्रवृत्त नहीं हो सकता और संभव है यदि भयभीत है तो संसार से शीघ्र मुक्ति पाने का प्रयास करे।

दूसरा लक्षण है निर्वेग। निर्वेग का अर्थ है सर्व अभिलाषाओं का त्याग।

त्यागः सर्वाभिलाषस्य निर्वेदो लक्षणात्तथा।

सब अभिलाषाओं का त्याग निर्वेद कहलाता है। सम्यग्दृष्टि जीव अभिलाषाओं से रहित होता है, पुण्य-पाप पर पूर्ण विश्वास रखता है। वह जानता है जो भाग्य का है उसे कोई छीन नहीं सकता और भाग्य से ज्यादा कोई दे नहीं सकता। जो मिल जाए वह उसी में संतुष्ट रहता है। जो संसार से भयभीत है वह सांसारिक सुखों की वांछा क्यों करेगा वह जानता है भोग दुःख का कारण हैं और आत्मा की शक्ति को लुप्त करने वाला है।

अगला लक्षण है निंदा। क्या सम्यग्दृष्टि का लक्षण निंदा करना भी है? हाँ ! परन्तु दूसरों की नहीं, अपनी।

पुत्रमित्रकलत्रादि हेतोः कार्ये विनिर्मिते।
दुष्टे योऽनुशयः पुंसो निंदा सोक्ता विचक्षणैः॥

पुत्र, मित्र तथा स्त्री आदि के निमित्त खोटा कार्य होने पर पुरुषों को जो पश्चाताप होता है, विद्वज्जनों के द्वारा वह निंदा कही जाती है।

आचार्य भगवन् श्री उमास्वामी कहते हैं **"परात्मनिंदाप्रशंसे सदसद्- गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य"** परनिंदा, आत्मप्रशंसा, सद्गुणों का आच्छादन या ढकना और असद्गुणों को प्रगट करना ये नीच गोत्र के आस्रव हैं। पर निंदा करने से नीचे गोत्र का बंध होता है। वह नीच गोत्र का बंध मिथ्यादृष्टि द्वारा दूसरे गुणस्थान तक होता है। सम्यग्दृष्टि अपने दोषों की निंदा करता है। अपने दोषों की निंदा करने से दोषों का परिहार होता है और गुण उत्पन्न होते हैं।

आचार्य भगवन् श्री शिवकोटि मुनिराज "भगवती आराधना" में कहते हैं कि जो मुनिराज अपने दोषों की आलोचना करने जा रहे हैं और पहुँचने से पूर्व मार्ग में ही उनकी समाधि हो जाए तो वे आलोचक व आराधक कहलाते हैं। जो समाधि के निकट हैं यदि वे

अपने गुरु के निकट रहते हुए भी निंदा न करें तो वे आराधक नहीं होते।

कहा भी है **''आत्मसाक्षिदोष प्रकटनं निन्दा''** आत्मसाक्षी पूर्वक अर्थात् स्वयं अपने किये दोषों को प्रगट करना या उन सम्बन्धी पश्चाताप करना निंदा कहलाती है। यह सम्यग्दृष्टि का लक्षण इसीलिए रखा गया है क्योंकि आत्म निदा करने से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र निर्मल होते हैं। आत्म निंदा करने से हम अपनी आत्मा को मानो सर्फ साबुन से धो रहे हैं, आत्मनिंदा न करने पर वह आत्मा मलिन हो जाता है।

अप्पाणं जो णिंदइ, गुणवंताणं करेइ बहुमाणं।
मण-इंदियाण विजई सो सरूव-परायणो होउ॥

जो मुनि अपने स्वरूप में तत्पर होकर मन और इंद्रियों को वश में करता है, अपनी निंदा करता है और सम्यक्त्वादि गुणवंतों का बहुमान-प्रशंसा करता है उसके बहुत निर्जरा होती है।

अतः किसी भी व्यक्ति को पर निंदा व आत्म प्रशंसा नहीं करनी चाहिए। कुरल काव्य में कहा है-

शुभादशुभसंसक्तो नूनं निन्द्यस्ततोधिकः।
पुरः प्रियंवदः किंतु पृष्ठे निंदापरायणः॥

सत्कर्म से विमुख हो जाना और कुकर्म करना निस्संदेह बुरा है परंतु किसी के मुख पर तो हँसकर बोलना और पीठ पीछे उसकी निंदा करना उससे भी बुरा है।

पर निंदा करने वाले को तो शास्त्रों में पिट्ठमाँसभोजी कहा है अर्थात् पीठ का माँस खाने वाला या पीठ पीछे निंदा करने वाला। अतः सम्यग्दृष्टि जीव पर निंदा का परित्याग करते हैं।

अगला लक्षण है गर्हा। अर्थात् गुरु के सामने अपनी आलोचना करना, अपनी निंदा करना। **गुरु-साक्षि-दोष-प्रकटनं गर्हा**-गुरु के समक्ष अपने दोष प्रकट करना गर्हा है।

रागद्वेषादिभिर्जाते दूषणे स्वगुरोः पुरः।
भक्त्या याऽऽलोचना गर्हा साऽर्हद्भिः प्रतिपाद्यते॥

रागादि के द्वारा दोष होने पर अपने गुरु के समक्ष भक्ति पूर्वक जो आलोचना की जाती है वह जिनेंद्र देव के द्वारा गर्हा कही जाती है।

आत्मनिंदा स्वयं की जाती है और गर्हा गुरु के सामने। जैसे जब हम अपने कपड़े स्वयं साफ करने में असमर्थ होते हैं तब वे धोबी या श्रेष्ठ धोने वाले को दिए जाते हैं वह कूटकर उन्हें साफ करता है। इसी प्रकार हम जिन दोषों को स्वयं दूर करने में असमर्थ हैं उनको गुरु के सामने प्रकट किया जाता है। जिस प्रकार एक छोटा बालक निश्छल भाव से अपनी माँ से सब कुछ कह देता है उसी प्रकार साधक, आराधक, प्रभु, गुरु के सामने अपने दोषों को कहा जाना चाहिए। मौन रहकर आलोचना नहीं की जाती। अतः कर्म क्षय के लिए पंचपरमेष्ठी के समक्ष आत्मनिंदा करना गर्हा है।

अगला लक्षण है उपशम। उपशम का अर्थ है दबा देना। अभी तक अनादिकाल से आत्मा के गुणों का दबाया है अभी तक आत्मा ने कर्मों का दबाव सहन किया है किंतु जब तक कर्मों को न दबाया जायेगा, उनको नष्ट नहीं किया जायेगा, आत्मा के गुणों को प्रकट न किया जायेगा तब तक आत्मा शुद्ध न हो पायेगी। कषायों को दबाने का भाव उपशम भाव है।

रागद्वेषादयो दोषा यस्य चित्ते न कुर्वते।
स्थिरत्वं सोऽत्र शान्तात्मा भवेद् भव्यमचर्चिका॥

जिसके चित्त में रागादिक दोष स्थिरता नहीं करते वह श्रेष्ठ भव्य उपशम गुण का धारक होता है।

आचार्य अकलंक देव स्वामी 'राजवार्तिक' में कहते हैं कि जैसे कतकफल या निर्मली डालने से मैले पानी का मैल नीचे बैठ जाता है और जल निर्मल हो जाता है उसी तरह परिणामों की विशुद्धि से कर्मों की शक्ति का अनुद्भूत रहना अर्थात् प्रकट न होना उपशम है।

सम्यग्दृष्टि जीव मंद कषायी होता है। उसकी कषाय शमित होती हैं वह क्रोधादि के निमित्त मिलने पर भी आग बबूला नहीं होता। यदि कोई कुछ कहता है तो सम्यग्दृष्टि जीव तत्त्व चिंतन के द्वारा अपनी कषायों का शमन कर लेता है। वह चिंतन करता है कि कर्मों की ऐसी ही लीला है। संभव है मैंने पूर्व में ऐसे शब्द कहे हों जो आज मुझे सुनने मिल रहे हैं अथवा यदि कहने वाला सच बोल रहा है तो सत्यभाषी पर क्रोध करने की आवश्यकता नहीं और यदि झूठ बोल रहा है तो उसे कोई अंतर नहीं पड़ता।

जिस चित्त में उपशम की धारा, समत्व की, तत्त्व चिंतन की, आनंद की धारा बह रही है वहाँ कषायें नहीं टिक पातीं। जो विवेकी होते हैं, आत्म चिंतक होते हैं, जो आत्मा के कल्याण की भावना भाते हैं, जो वैराग्य से परिपूरित होते हैं वहाँ कषायों की अग्नि नहीं जल पाती।

अगला लक्षण है भक्ति। पंचपरमेष्ठी के गुणों में अनुराग होना, इष्ट आराध्य के गुणों को प्राप्त करने या उन ही जैसा बनने का प्रयास करना भक्ति है। आचार्य भगवन् श्री शिवकोटि मुनिराज कहते हैं **''अर्हदादिगुणानुरागो भक्तिः''** अर्हदादि पंचपरमेष्ठी के गुणों में प्रेम करना भक्ति है अथवा आचार्य भगवन् श्री पूज्यपाद स्वामी के शब्दों में **''पूज्येष्वगुणानुरागो भक्तिः''** पूज्य पुरुषों के गुणों में अनुराग करना भक्ति है अथवा **''स्वस्वरुपानुसंधानं भक्तिः''** अपने स्वरूप का अनुसंधान या खोज करना भक्ति है।

अथवा भक्ति शब्द भ्, क्, इ त् से मिलकर बना है। इसका अर्थ-भ यानि भक्ति, क् यानि करो इ यानि इष्ट की, त् यानि तल्लीन होकर। जिसने भी पंच परमेष्ठी की भक्ति की उसने संसार समुद्र तैरकर शीघ्र मुक्ति महल में स्थान प्राप्त किया है।

स्तोत्रमन्त्रमाहात्म्येन चान्तरस्थाघराशयः।
सकलाश्च क्षयं यान्ति मंत्रात्सर्पविषं यथा॥

जिस प्रकार मंत्र से सर्प का विष नष्ट हो जाता है उसी प्रकार स्तोत्र रूपी मंत्र से भीतर स्थित पापों के समूह नष्ट हो जाते हैं।

अगला लक्षण है वात्सल्य जिनधर्म व धर्मात्मा लोगों के प्रति प्रीति होना वात्सल्य भाव है।

धर्मस्थेषु मातरि पितरि भ्रातरि वानुरागो वात्सल्यम्।

धार्मिक लोगों पर और माता-पिता भ्राता के ऊपर प्रेम रखना वात्सल्य गुण है।

सद्यः प्रसूता यथा गौर्वत्से स्निह्यति तथा चातुर्वर्ण्ये संघेऽकृत्रिम स्नेहकरणं वात्सल्यं।

जिस प्रकार तुरंत की प्रसूता गाय अपने बच्चे पर प्रेम करती है, उसी प्रकार चार प्रकार के संघ (मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका) पर अकृत्रिम या स्वाभाविक प्रेम करना वात्सल्य अंग कहा जाता है।

वात्सल्यं नाम दासत्वं सिद्धार्हद्बिम्बवेश्मसु।
संघे चतुर्विधेशास्त्रे स्वामिकार्ये सुभृत्यवत्॥

स्वामी के कार्य में उत्तम सेवक की तरह, सिद्ध प्रतिमा, पंचाध्यायी जिनबिंब, जिनमंदिर, चार प्रकार के संघ में और शास्त्रों में जो दासत्व भाव रखना है, वही सम्यग्दृष्टि का वात्सल्य नामक अंग या गुण है।

यह वात्सल्य भाव साधर्मी को साधर्मी से जोड़ता है। वात्सल्य भाव से युक्त जीव तोड़ता नहीं, प्रेम भाव से व्यक्ति को धर्म से

जोड़ता भी है। वह कहता है "मत ठुकराओ, गले लगाओ, धर्म सिखाओ।" वात्सल्य भावी कभी किसी का अपमान, तिरस्कार नहीं करता, धर्म व धर्मियों की रक्षा में अग्रिम रहता है। आगम में इसका सुप्रसिद्ध उदाहरण है विष्णुकुमार मुनि। जो यदि कुछ समय और ध्यानारूढ़ रहते तो केवलज्ञान प्राप्त कर लेते परंतु वात्सल्य से ओतप्रोत उन धीर-वीर मुनिराज ने श्री अकंपनाचार्यादि सात सौ मुनिराजों की रक्षा की। यह वात्सल्य भाव तीर्थंकर प्रकृति के बंध का भी कारण है।

अगला लक्षण है अनुकंपा। धर्म का मूल आधार अहिंसा, करुणा, दया है। अनुकंपा अर्थात् दया, करुणा का भाव। पंचास्तिकाय में आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी अनुकंपा को परिभाषित करते हुए कह रहे हैं-

तिसिदं बुभुविखदं वा दुहिदं दट्ठूण जो दूदुहिदमणो।
पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकंपा॥

तृषातुर, क्षुधातुर अथवा दु:खी को देखकर जो जीव मन में दु:ख पाता हुआ उसके प्रति करुणा से वर्तता है, उसका वह भाव अनुकंपा है अथवा आचार्य भगवन् श्री पूज्यपाद स्वामी कहते हैं-

"अनुग्रहार्द्रीकृतचेतसः परपीडात्मस्थामिव कुर्वतोऽनुकंपनमनुकंपा।"

अनुग्रह से दयार्द्र चित्त वाले के दूसरे की पीड़ा को अपनी ही मानने का जो भाव होता है उसे अनुकंपा कहते हैं।

"भगवती आराधना" में आचार्य भगवन् ने अनुकंपा के तीन भेद कहे-धर्मानुकंपा, मिश्रानुकंपा व सर्वानुकंपा। धर्मानुकंपा अर्थात् मुनियों पर दया करना। योग्य अन्न, जल, निवास, औषधि आदिक पदार्थ देना व अपनी शक्ति को न छिपाकर उनके उपसर्ग को दूर करना, उनके गुणों का स्तवन, कीर्तन करना और स्वयं उनके गुणों का अनुकरण

करना। मिश्रानुकंपा का अर्थ है संयतासंयत यानि गृहस्थों पर जो दया की जाती है अथवा जो जिन सूत्र से बाह्य हैं उन पर करुणा करना भी मिश्रानुकंपा के अंतर्गत आता है। सम्यग्दृष्टि हो या मिथ्यादृष्टि ये दोनों भी स्वभावत: मार्दव से युक्त होकर संपूर्ण प्राणियों के ऊपर दया करते हैं, इस दया का नाम सर्वानुकंपा है। पशु-पक्षियों आदि को पीड़ित देख अथवा व्यवसायादि से रहित लोगों को देख दया से परिपूर्ण हो उनकी पीड़ा का उपशम करना सर्वानुकंपा है।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि के द्वारा ये आठ भावनाएँ निरंतर भायी जानी चाहिये। ये आठ निश्चय से सम्यग्दृष्टि के गुण हैं।

संपूर्ण सुख का मार्ग

कामं कोहं तहा मोहं, मदं हिंसं च मच्छरं।
सज्जणो खलु उज्झेज्ज, बे-सुहं जइ कंखदे॥६६॥

अर्थ:-काम, क्रोध, मोह, मद, हिंसा, मत्सर का निश्चय से सज्जनों के द्वारा त्याग किया जाना चाहिए यदि वे दोनों प्रकार के सुख चाहते हैं तो।

Passion, anger, attachment, violence, arrogance and envy should be relinquished by the virtuous people, if they want both kind of pleasure.

भावार्थ:-बुद्धिमान् व्यक्ति वह है जो त्याग करने योग्य अपने अहित कारकों का पूर्व में ही त्याग करता है। संसार का प्रत्येक प्राणी अपना हित चाहता है परंतु हित के कारणों को संभव है स्वीकार नहीं कर पाता। अहित के कारणों का परित्याग और हित के कारणों की संप्राप्ति उसे उज्ज्वल मार्ग प्रदर्शित करने वाली है। अपना अहित होते देख यदि वह अहित कारणों को न छोड़े तो उसे बुद्धिमान् कौन कहेगा? जिस प्रकार मधुमेह का रोगी अपने शरीर के हित के हेतु शक्कर आदि मीठे का त्याग करता है और कड़वी औषधियों को ग्रहण करता है। कॉलस्ट्रॉल बढ़ा हो तो हृदय की सुरक्षा हेतु घी आदि चिकने पदार्थों का त्याग करता है।

अत: धीमान् शरीर की सुरक्षा हेतु रोगवर्द्धक वस्तुओं का परित्याग करते हैं, व्यायामादि करते हैं। घर की सुरक्षा हेतु दरवाजे, चौकीदार आदि रखते हैं। देश की सुरक्षा हेतु सीमा पर सैनिक प्रति समय पहरा देते हैं, अनाज की सुरक्षा हेतु औषधियों का प्रयोग करते हैं, खेत की सुरक्षा हेतु बाढ़ लगाते हैं, संस्कृति और संस्कारों की सुरक्षा हेतु ऐतिहासिक इमारतें, विद्यालय, धर्मायतन, पाठशाला आदि का निर्माण

किया जाता है। साहित्य की सुरक्षा हेतु पुस्तकालय का निर्माण, वायुमंडल की सुरक्षा हेतु वृक्षारोपण किया जाता है।

जिस प्रकार किसी भी वस्तु की सुरक्षा हेतु उसके नष्ट करने वाले कारणों को दूर किया जाता है और उसको संरक्षित व संवर्द्धित करने वाले कारणों को अपनाया जाता है। उसी प्रकार ग्रंथकार यहाँ व्यवहार से दृष्टि हटा निश्चय की ओर ले जाना चाहते हैं। आज व्यक्ति प्रत्येक वस्तु की सुरक्षा करता है किंतु ग्रंथकार आत्मा की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। आत्मा के अहित कारक काम, क्रोध, मोह, मद या अहंकार, हिंसा, मत्सर-ईर्ष्या आदि का त्याग कर देना चाहिए। विद्वत्वर दौलत राम जी ने कहा है-

''आतम के अहित विषय कषाय, इनमें मेरी परिणति न जाये''

आत्मा के घातक इन क्रोध मोह आदि का त्याग कर दोनों प्रकार के सुखों की प्राप्ति होती है। दो प्रकार के सुख का आशय है नि:श्रेयस सुख व अभ्युदय सुख। अभ्युदय सुख यानि भौतिक सुख और नि:श्रेयस सुख यानि मोक्ष सुख अर्थात् विषय कषायों का त्याग करने वाला दोनों प्रकार के सुखों को प्राप्त करता है। अत: ग्रंथकार कह रहे हैं कि यदि आप इन दोनों प्रकार के सुखों को प्राप्त करना चाहते हैं तो काम, क्रोध, मोह, मद, मत्सर, हिंसा आदि को छोड़ देना चाहिए।

प्रत्येक जीव अनादिकाल से इन्हीं के कारण संसार में परिभ्रमण कर रहा है। प्रत्येक भोग को बार-बार भोगने के पश्चात् भी उन्हीं के पीछे लगा हुआ है। ये भोग तो मनुष्य की उच्छिष्ट, वमन के समान हैं जैसे मनुष्य द्वारा वमन करने पर पुन: उसी को ग्रहण करना। आचार्य भगवन् श्री पूज्यपाद स्वामी इसी बात को इष्टोपदेश में कहते हैं-

भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गला:।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा॥

अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि विषय भोगों के विषय में विचार करता है कि सभी पुद्गल परमाणु मैंने मोह से बार-बार भोगकर छोड़ दिए हैं फिर आज अब जूठन के समान उन पुद्गलों में तत्त्ववेत्ता बुद्धिमान् मेरी क्या अभिलाषा है? अर्थात् कुछ नहीं।

संसार के प्राय: सभी प्राणी उन भोगों में आसक्त हैं जिन्हें एक बार नहीं सहस्त्रों बार भोगकर भी अतृप्त ही हैं। भोगों को भोगकर तृप्ति की आकांक्षा वैसे ही है जैसे घी डालकर अग्नि को बुझाने की चेष्टा करना।

सोचा करता हूँ भोगों से, बुझ जावेगी इच्छा ज्वाला।
परिणाम निकलता है लेकिन, मानो पावक में घी डाला॥

अत: अनंत दु:ख के कारण, निंदनीय, सब अनर्थों की जड़, दुष्कर्म-दायक, अतृप्तिकारक भोगों का, काम का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

अगली बात-क्रोध। क्रोध के विषय में कौन नहीं जानता? सब जानते हैं इस क्रोध रूपी राक्षस ने कितने ही लोगों के प्राण हर लिए, कितने ही लोगों के घर जलाकर राख कर दिए, कितने ही लोगों की खुशी पर प्रश्न चिह्न बनकर खड़ा हो गया। शरीर को नष्ट करने वाला, मन में क्लेश उत्पन्न करने वाला यह क्रोध उस अग्नि के गोले के समान है जिस पर फेंका जाता है वह जले या नहीं। किन्तु जो उसे हाथ में लेता है वह तो जल ही जाता है।

यह क्रोध व्यक्ति के सद्गुणों को नष्ट कर देता है। विवेक, ज्ञान, बुद्धि, सद्विचार आदि को तो सर्वप्रथम नष्ट करता है और इतना ही नहीं तीनों लोकों में वंदनीय, प्रशंसनीय, सम्यग्दर्शन को भी नष्ट कर देता है। आचार्य भगवन् श्री अमितगति स्वामी कहते हैं-

दुःखार्जितं खलगतं बलभीकुतं च,
धान्यं यथा दहति वह्निकण-प्रविष्टः।
नाना विधव्रतदयानियमोपवासैः।
रोषोर्जितं भवभृतां पुरुपुण्यराशिम्।

जैसे खलिहान की धान्यराशि अग्नि कण द्वारा नष्ट हो जाती है उसी प्रकार नाना प्रकार के व्रत, दया, नियम, उपवास से संचित पुण्यराशि को क्रोध नष्ट कर देता है।

अगला शत्रु-मोह। यह मोह सब शत्रुओं का सरदार है। कहा भी है 'महामोहातंक'' अर्थात् सबसे बड़ा आतंकवादी यदि कोई है तो वह मोह है जिसने संसार चक्र में जीवों को फँसाया हुआ है। मोहनीय कर्म ही सब कर्मों का राजा है। यदि शिव साम्राज्य पर विजय प्राप्त करनी है तो मोह रूपी शत्रु को नष्ट करना होगा। विद्वत्वर दौलतराम जी ने कहा है-

''मोह महामद पियो अनादि, भूल आपको भरमत वादि''

अर्थात् मोह रूपी मदिरा को पीकर जीव स्वयं को भूला हुआ है। यह मोह ही है जो जीव को स्व स्वरूप का बोध नहीं होने देता। अतः इसका परित्याग भी सज्जन पुरुषों को करना चाहिए।

अगला कहा-मद। घमंड या अहंकार मद कहलाता है। जैमिनी मद को परिभाषित करते हैं-

कुल-वीर्य-स्वरूपार्थै, र्यो गर्वो ज्ञानसंभवः।
स मदः प्रोच्यतेऽन्यस्य, येन वा कर्षणं भवेत्॥

कुल, रूप, वीर्य, धन, विद्या से जो गर्व किया जाता है अथवा दूसरों को नीचा दिखाया जाता है, उसे मद कहते हैं।

ऐसे मद का सद्पुरुषों को त्याग करना चाहिए। आचार्य नागसेन स्वामी ने अहंकार को मोह की ही संतान कहा।

ममाऽहंकार-नामानौसेनान्यौ तौ च तत्सुतौ।
यदायत्तः सुदुर्भेदः मोह-व्यूहः प्रवर्तते॥

उस मोह के जो दो प्रकार 'ममकार' और 'अहंकार' नाम के हैं, वे दोनों उस मोह के सेनानायक हैं, जिनके अधीन मोहव्यूह-मोहचक्री का सैन्यसन्निवेश बहुत ही दुर्भेद बना हुआ है। यह मद निश्चित ही जीव के पतन का कारण है।

अगली बात कही हिंसा-रागादि भावों का उत्पन्न होना हिंसा है। जीवों को दु:ख पहुँचाने वाला, उनका वध करने वाला जीव कभी भी सुख प्राप्त नहीं कर सकता। हिंसा करने वाला अनेक प्रकार के दु:खों को इस भव में भी और पर भव में भी सहन करता है और नरकादि दुर्गतियों में परिभ्रमण करता है।

और अगली बात-ईर्ष्या, मात्सर्य सदैव त्याजनीय है क्योंकि ईर्ष्या-मत्सर वह चिंगारी है जो व्यक्ति के समस्त गुणों को जलाकर नष्ट कर देती है। यह घुन की भाँति अंदर घुसकर उसके गुणों को नष्ट कर देती है।

अत: यदि व्यक्ति दोनों भवों में सुख चाहता है तो इन सब दुर्गुणों का त्याग कर देना चाहिए।

ईश-भक्ति

णिच्चं बंभ-मुहुत्तम्मि, ईस-भत्तिं करेदि जो।
जसं बलं सुहं कित्तिं, पुण्णाउं सो हु पावदे॥६७॥

अर्थ:-जो नित्य ब्रह्म मुहूर्त में ईश्वर भक्ति करता है वह निश्चय से यश, बल, सुख, शांति, पूर्णायु प्राप्त करता है।

A person who worships God in brahma-muhurta (the moments just before sunrise) gets fame, strength, happiness, peace and longlife.

भावार्थ:-"भक्ति" यह शब्द भ्, क्, त्, इ इन वर्णों से मिलकर बना है। भ का अर्थ है भक्ति, क् अर्थात् करो, त् यानि तल्लीन होकर, ई यानि ईश की। आचार्य भगवन् श्री पूज्यपाद स्वामी के शब्दों में **"पूज्येषु गुणानुरागो भक्तिः"** पूज्य पुरुषों के गुणों में अनुराग करना भक्ति है अथवा **"स्वस्वरुपानुसंधानं भक्तिः"** अपने स्वरूप का अनुसंधान करना, खोज करना भक्ति है। भक्ति वह है जो भक्त को उसके आराध्य के समान बनने के लिए प्रेरित कर दे।

भक्ति मानसिक अवबोध की उत्कृष्ट सरागावस्था है। मुक्तावस्था से पूर्व भक्ति का आलंबन शनैः-शनैः आत्मा पर अनादिकाल से दृढ़लिप्त कर्मकश्मल की निर्जरा में उपकारी सिद्ध होता है। भक्ति की धारा में अवगाहन किए बिना कोई भी जीव स्वत्व की प्राप्ति करने में समर्थ नहीं। संसार से शिवद्वार तक के सेतु का नाम है भक्ति, कर्ममल को प्रक्षालित करने वाली अविरल धारा का नाम है भक्ति, भवकूप में पड़े प्राणियों को बाहर निकालने वाली रज्जू का नाम है भक्ति, कर्म रूपी पर्वत को चकनाचूर करने वाले वज्र का नाम है भक्ति, आत्मा का सही परिचय देने वाली सखी का नाम है भक्ति, आत्मा को परमात्मा में ढालने वाले साँचे का नाम है भक्ति।

आचार्य भगवन् श्री वादीभ सिंह सूरी क्षत्रचूड़ामणि नामक ग्रंथ में कहते हैं-

''यद्भक्तिः शुल्कतामेति मुक्ति कन्या करग्रहे''

जिस प्रकार लोक में किसी कन्या से विवाह करने में धन सहायक होता है उसी प्रकार जिनभक्ति मुक्ति रूपी कन्या का वरण करने में धन का काम करती है।

जो भी भव्य जीव ब्रह्म मुहूर्त में प्रभु के नाम का स्मरण करता है, उनकी जय बोलता है, उनकी भक्ति करता है तब उसको बल, यश, सुख, शांति व पूर्णायु की प्राप्ति होती है। कहा भी है-

वृद्धिं व्रजति विज्ञानं यशश्चरति निर्मलं।
प्रयाति दुरितं दूरं श्रीजिनेन्द्र-कीर्तनात्॥

जिनेंद्र प्रभु का कीर्तन करने से विज्ञान वृद्धि को प्राप्त होता है। निर्मल यश फैलता है और पाप दूर चला जाता है। आचार्य भगवन् श्री वीरसेन स्वामी भी कहते हैं-

विघ्नाः प्रणश्यन्ति भयं न जातु, न दुष्ट देवा परिलंघयंति।
अर्थान् यथेष्टांश्च सदा लभंते, जिनोत्तमानां परिकीर्तिनेन॥

जिनेन्द्र भगवान् का कीर्तन करने से सभी प्रकार के विघ्न नष्ट हो जाते हैं, कोई भय उत्पन्न नहीं होता, कोई दुष्ट देवादि भी बाधा नहीं पहुँचा पाते और वह कीर्तन सभी प्रकार की इष्ट वस्तुओं को देने में समर्थ होता है अर्थात् भक्ति से उस मनुष्य को मनोवांछित फल की प्राप्ति होती है।

सर्वे रोगाः भयाः सर्वे सर्व दुःखस्य सन्ततिः।
सर्वज्ञस्तोत्रमात्रेण नश्यन्त्यत्र न संशयः॥

सर्वज्ञ के स्तवन मात्र से सब रोग, सब भय और समस्त दुःखों की परंपरा नष्ट हो जाती है, इसमें संशय नहीं।

सुख-शांति-कीर्ति के इच्छुक मनुष्यों को प्रभु के नाम का स्मरण सदैव करना चाहिए। ब्रह्म मुहूर्त में लिया गया प्रभु का नाम एक नया उत्साह, उमंग और शुभ कार्य करने की प्रेरणा देता है, पुण्य फल प्रदाता होता है, दिन को मंगलमय बनाता है। सत्य है उमंग, उल्लास, उत्साह से शुभ कार्य करने वाले व्यक्ति की कीर्ति, बल, सुख, शांति तो स्वतः बढ़ेगी ही और भगवान के नाम लेने से एकत्रित हुआ पुण्य व अच्छे कार्य करने से लोगों द्वारा भायी गयी शुभ भावनाएँ पूर्णायु प्रदान करती ही हैं।

एक व्यक्ति जो अत्यंत दरिद्र था जिसको यदि दिन में एक बार पेटभर भोजन मिल जाए तो अपना सौभाग्य समझता था किंतु ऐसे दिन वर्ष में पाँच-दस ही हुआ करते थे। एक समय वह गाँव से बाहर गया और भगवान की एक प्रतिमा लाकर अपने घर में ही स्थापित की। अब ब्रह्म मुहूर्त में भगवान की पूजार्चना करना उसका नित्य कर्म था। प्रभु अर्चना के बिना उसका जीवन शून्य था उसने अपना संपूर्ण जीवन प्रभु चरणों में अर्पित कर दिया। जिसके प्रभाव से उसकी दरिद्रता धीरे-धीरे नष्ट होने लगी। सुख-शांति और समृद्धि दिनोंदिन बढ़ने लगी और एक दिन उसकी गिनती नगर के धनिक व्यक्तियों में होने लगी।

एक समय चार चोर रात्रि के द्वितीय पहर में उस व्यक्ति के यहाँ पहुँचे। उस व्यक्ति की निद्रा भंग हुई। चारों चोर उससे बोले कि अपना सारा कीमती सामान हमें दे दो। प्राणों के भय से उस व्यक्ति ने ऐसा ही किया। सब सामान इकट्ठा कर चोर जैसे ही उस व्यक्ति को मारने को हुए वह बोला "रुको तुम मेरे प्राण लेना चाहते हो तो ले लेना किंतु उससे पूर्व मुझे नदी किनारे ले चलो। मैंने जिन भगवान की पूजा की है मेरे बाद उनकी पूजा करने वाला कोई नहीं, मैं मृत्यु से पूर्व प्रतिमा को नदी में सिराना चाहता हूँ।

दो चोर मध्य रात्रि में उसको नदी किनारे ले गए। वह प्रतिमा लेकर थोड़ा सा जल के अंदर गया और कहने लगा "भगवन् ! तुमने मुझे सब कुछ दिया, मुझ दरिद्र को धनवान् बना दिया किंतु क्या तुम्हारी भक्ति मेरे प्राणों की रक्षा करने में समर्थ नहीं है।" इतना कहकर वह रोने लगा। तभी एक आवाज आई कि "तुमने पूर्व भव में इन चार लोगों का वध किया था इसके फलस्वरूप ये चार लोग अलग-अलग चार भवों मे तुम्हारा वध करते, चार भव बिगाड़ते किन्तु तुम्हारे द्वारा की गई भक्ति के पुण्य से चारों एक साथ ही आ गए।

यह बात वहाँ खड़े दो चोरों ने भी सुनी। उन्होंने आवाज लगाई "ठहरो ! अभी प्रतिमा को लेकर लौट आओ और हमारे साथ अपने घर चलो वहीं जाकर कुछ निर्णय करना है।" वे सभी घर पहुँचे उन्होंने बाकी दोनों चोरों को सब बात बताई। तब वे चार चोर बोले कि यदि धर्म में इतनी शक्ति है तो हम भी धर्म स्वीकार करते हैं। इस प्रकार जिन भक्ति के प्रभाव से वह दरिद्र व्यक्ति धन संपन्न हुआ, सुख-शांति को प्राप्त किया और अपनी पूर्णायु को भी प्राप्त किया।

अत: जो भी श्रद्धा-भक्ति पूर्वक प्रभु-परमात्मा की पूजा-भक्ति, स्तुति आदि करता है वह अभ्युदय सुख को प्राप्त करता हुआ नि:श्रेयस सुख को भी प्राप्त करता है।

विषयासक्तता गुणदाहक

विसयासत्त-पुंसाणं, णस्संति णहि किं गुणा।
विवेगो य दमो बुद्धी, सच्चं सुई दया खमा॥६८॥

अर्थ:-विषयासक्त मनुष्यों के कौन से गुण नष्ट नहीं होते हैं। बुद्धि, सत्य, शौच, दया, क्षमा, इंद्रिय दमन सभी गुण नष्ट हो जाते हैं।

Which virtues of a person do not get destroyed if he is attracted to worldly pleasures ? His intelligence, truthfulness, purity, sympathy, forgiveness and repression of the senses etc all qualities get destroyed.

भावार्थ:-संसार का प्रत्येक प्राणी अपना हित चाहता है। हित के लिए उसके कारणों को जानना आवश्यक है। अहित से बचने के लिए उसके कारणों को जानकर उनसे बचना आवश्यक है। व्यक्ति के लिए हितकारक और अहितकारक क्या है जब वह जानता हो तब हित करने में समर्थ हो सकता है। आचार्य भगवन् श्री पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि में कहा है कि एक श्रावक ने मुनिराज से विनयपूर्वक प्रश्न किया कि "भगवन् किं नु खलु आत्मने हितं स्यादिति? हे भगवन् ! आत्मा का हित क्या है?" स आह मोक्ष इति। आचार्य ने उत्तर दिया कि "आत्मा का हित मोक्ष है।" यही बात विद्वत्वर दौलतराम जी ने भी कही-

आतम को हित है सुख सो सुख आकुलता बिन कहिए।
आकुलता शिव माँहि न तातैं शिव मग लाग्यो चाहिए॥

आत्मा का हित उस सुख में है जो आकुलता से रहित हो और ऐसा सुख मोक्ष में है। अब आत्मा के लिए अहितकर क्या है तो कहते हैं-

आतम के अहित विषय, कषाय, इनमें मेरी परिणति न जाए।

विषय-कषाय आत्मा का अहित करने वाले हैं। हित करने से पूर्व अहित करने वाले कारणों को दूर करना आवश्यक है। विषय-कषाय रूपी मगरमच्छ आत्मा को मैला करते हैं। बुद्धि, दया, सत्य आदि गुणों को नष्ट कर देते हैं। इन गुणों के नष्ट होते ही व्यक्ति को हित-अहित का ज्ञान कहाँ रहता? विषयों में आसक्त हो वह अपना ही पतन कर लेता है। एक बार एक बालक खेल रहा था। उसने देखा कि एक साँप ने मेंढक को निगल लिया। वह मेंढक बहुत बड़ा था इसीलिए वह साँप के गले में अटक गया। अब वह सर्प उस मेंढक को न निगल पा रहा है और न उगल पा रहा है। उसने सोचा यही तो मनुष्यों के साथ हो रहा है वह न भोगों को भोग पा रहा है और न छोड़ पा रहा है। श्री देवी के पुत्र उस देवनंदि नाम के बालक ने जिनदीक्षाग्रहण की और वही आगे चलकर आचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी के नाम से विख्यात हुए।

सत्यता तो यह है कि मानव भोगों को भोग नहीं पाता अपितु भोग ही उसको भोग लेते हैं। विषयों में आसक्त होकर वह इस भव में तो दुःख पाता है और परभव में भी दुःख ही प्राप्त करता है। व्यक्ति की स्व-संपत्ति तो उसके गुण हैं जिन्हें विषय नष्ट कर देते हैं। यहाँ से भी अपमानित तिरस्कृत करा देते हैं और परभव में भी दुर्गति कराते हैं।

जगद्वञ्चनचातुर्यं विषयाणां न केवलम्।
नरान् नरकपाताले नेतुमप्यति कौशलम्॥

विषयों में न केवल जगत् को ठगने की चतुराई है किंतु मनुष्यों को नरक रूप पाताल में ले जाने की भी चतुराई है। अनादिकाल से भोगों ने जीवों को भोग उनकी दुर्गति करायी है। भोगों को भोगकर आज तक मनुष्य की तृप्ति नहीं हुई। भोग मनुष्य की उस खोपड़ी के

समान हैं जो कभी तृप्त नहीं होती। भोग मधुर विष के समान हैं जो दया, क्षमा, धैर्य आदि गुणों को नष्ट कर देता है। बल्कि आचार्यों ने, नीतिकारों ने तो विष से अधिक भयंकर विषयों को कहा है क्योंकि विष तो खाए जाने पर मारता है परंतु विषय तो स्मरण से भी मारते हैं। जब एक-एक इंद्रिय में विषयासक्ति के कारण ही जीव नाश को प्राप्त हुए हैं तब पंचेन्द्रियों में आसक्त जीवों के विषय में क्या कहा जाए।

मीना मृत्युं प्रयाता रसनवशमिता दन्तिनः स्पर्शरुद्धा,
बद्धास्ते वारिबन्धे ज्वलनमुपगता पत्रिणश्चाक्षिदोषात्।
भृंगा गंधेऽन्धतायाः प्रलयमुपगता गीतलोलाकुरंगाः,
कालव्यालेन दष्टास्तदपि तनुभृतामिन्द्रियार्थेषु रागः॥

रसना इंद्रिय के वश को प्राप्त हुए मच्छ मृत्यु को प्राप्त हुए, स्पर्शन इंद्रिय के वशीभूत हाथी बंधन में बद्ध हुए, नेत्र इंद्रिय के दोष से पतंगे अग्नि को प्राप्त हुए, गंधविषयक अंधता के कारण भ्रमर नष्ट हुए और संगीत के लोभी मृग मृत्युरूपी सर्प से डसे गए, फिर भी प्राणियों का इंद्रिय विषयों में राग होता है, यह आश्चर्य है।

सुभौम चक्रवर्ती की मृत्यु का कारण उसकी रसना इंद्रिय में मिष्ट फलों में आसक्ति थी। जो भी विषयों में आसक्त हुआ है उसका निश्चय से पतन ही हुआ है। राजा सत्यंधर ने अपनी रानी में अत्यंत आसक्त होने के कारण राज्य को भी खोया व मृत्यु को भी प्राप्त हुआ। चारुदत्त ने भी वेश्या में आसक्त होकर अपने पिता की पूरी संपत्ति नष्ट कर दी। धनानंद को विषयों में आसक्ति व अन्याय के कारण राजगद्दी से हटा कर मृत्यु दी गई। राजा देवरति जो अपनी पत्नी में आसक्ति के कारण राज्य से च्युत हुआ।

पुनः उसकी पत्नी ने ही उसे धोखा दिया। सीता के कारण रावण का अपयश आज तक संसार में फैला हुआ है। विषयों में आसक्त होकर कितने ही लोगों का पतन हुआ है।

यह मनुष्य के बुद्धि, सत्य, शुचिता, दया, क्षमा, दम अर्थात् पंचेन्द्रियों का दमन आदि सब गुणों को नष्ट कर देता है। यह विषय वास्तव में आत्मा का अहित करने वाले हैं अत: इनको त्यागना ही श्रेष्ठ है। यदि इनको त्यागकर सकल संयम नहीं स्वीकार कर सकते तो घर में रहते हुए ही निरासक्त रहें। आचार्य महाराज कहते हैं ''मुनि नहीं बन सकते तो मुनीम बन जाओ।'' अर्थात् जिस प्रकार मुनीम के हाथ से प्रतिदिन लाखों रुपये आते हैं, जाते हैं। लाखों का फायदा होता है और लाखों का नुकसान किंतु उस मुनीम को उससे कोई अंतर नहीं पड़ता क्योंकि वह जानता है कि वह धन उसका नहीं है। उसको तो महीने के अंत में उसका उतना पारिश्रमिक मिलना निश्चित है। उसी प्रकार व्यक्ति भी गृहस्थी चलाने के लिए कार्य करे किंतु निरासक्त भाव से। जिस प्रकार भरत चक्रवर्ती षट्खण्डों पर विजय प्राप्त करने के बाद भी निरासक्त भाव से रहे।

''सदन निवासी तदपि उदासी, तातैं आस्रव छटा छटी''

अत: यदि गृह त्याग करके मुनि नहीं बन सकते तो मुनीम की तरह रहो अर्थात् निरासक्त भाव से रहो।

क्योंकि विषयों में आसक्ति मनुष्य के सुगुणों को नष्ट कर देती है। जब एक इंद्रिय के विषय में आसक्ति राजा बक, सुभौमादि के लिए दुर्गति का कारण बन सकती है तब पंचेन्द्रिय विषयों में आसक्ति उसके क्षमा, विनय आदि गुणों को नष्ट कर दुर्गति की ओर ले जाने में सहायक तो होगी ही अत: गुणों की रक्षा के लिए ग्रंथकार यहाँ विषयों से विरक्तता की प्रेरणा दे रहे हैं।

लोभ

लोहेण वड्ढदे कोहो, कामो उप्पज्जदे तए।
गुणा धंसंति लोहेणं, लोहो पावस्स कारणं॥६९॥

अर्थ:-लोभ से क्रोध की प्रवृद्धि होती है, लोभ से काम उत्पन्न होता है, लोभ से गुणों का नाश होता है और लोभ पाप का कारण है।

Anger is increased by greed and passion is produced by anger. Virtues get destroyed by greed and greed is the cause of sin.

भावार्थ:-लोभ दो अक्षरों से मिलकर बना है। लो यानि लोक और भ यानि भटकाये अर्थात् जो लोक में भटकाए या भ्रमण कराए वह लोभ कहलाता है। लोभ की परिभाषा आचार्यों ने दी है "युक्त काले धन व्ययादभावो लोभ:" युक्त काल में धन के व्यय का अभाव लोभ कहलाता है। जहाँ लोभ होता है वहाँ असत्य, कुशील, चोरी, परिग्रह का प्रवेश हो जाता है। लोभ के माध्यम से यदि मन:इच्छित वस्तु की प्राप्ति नहीं हो रही तो मायाचारी का प्रयोग हो जाता है। यदि लोभ करने से इच्छित वस्तु मिल जाये तो अहंकार आ जाता है और यदि लोभ कर मायाचारी की पोल खुल जाए तो क्रोध आकर के सवार हो जाता है। यह लोभ एक ऐसी चुंबक है जो सभी बुराईयों को अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। लोभी व्यक्ति कोई भी पाप कर सकता है।

मातरम् पितरम् पुत्रम् भ्रातरम् वा सुहृतम्।
लोभाविष्टो नरो हंति स्वामिनं वा सहोदरं॥

लोभी व्यक्ति लोभ में आकर के अपने माता-पिता, पुत्र, भाई व स्वामी सबका घात कर देता है। लोभी व्यक्ति के मन में दया नहीं होती।"

लोभ ऐसी जड़ है जिससे पाप की शाखाएँ पैदा होती हैं। एक बेशर्म का पेड़ होता है कहीं पानी पड़ा हो और उसमें उस पेड़ की एक लकड़ी डाल दो तो वहीं पेड़ उग जाता है। उस बेशर्म के पेड़ को ऊपर से काटते रहो किंतु वह नष्ट नहीं होता। उसकी शाखायें निकलती रहती हैं और भी कई बांसादि के पेड़ हैं जो काटते रहो, पैदा होते रहते हैं ऐसे ही यह लोभ है। यह ऐसा बीज है ऐसी जड़ है जिसमें से एक शाखा हिंसा की, एक शाखा झूठ की, एक शाखा चोरी की इत्यादि निकलती रहती हैं, जितनी शाखा काटते जाओगे तो और शाखाऐं निकलती जायेंगी। कई एक शाखायें ऐसी हैं जिन्हें ज्यादा काटने पर ज्यादा बढ़ती हैं। अगर उखाड़ के फेंक दो तो मुक्ति मिल जाए वरना यह लोभ सब गुणों को नष्ट कर देता है।

निःशेषधर्मवनदाहविजृम्भमाणे,
दुःखौघभस्मनि विसर्पदधर्मधूमे।
वाढं धनेन्धनसमागमदीप्यमाने,
लोभानले शलभतां लभते गुणौघः॥

समस्त धर्मरूपी वन को जलाने से जो वृद्धि को प्राप्त हो रही है, दुःख समूह रूपी भस्म से सहित है, जिनका अधर्म रूपी धुँआ दूर-दूर तक फैल रहा है और जो धनरूपी ईंधन के समागम से प्रज्ज्वलित हो रही है ऐसी लोभरूपी अग्नि में गुणों का समूह पतंग की दशा को प्राप्त हो रहा है-नष्ट हो रहा है।

कहा भी जाता है **"लोभ मूलानि पापानि"** लोभ पाप का मूल है। एक बार किसी नगर में 6 भाई रहते थे। उन्हें सब छऊआ-छऊआ कहने लगे। बड़े भाई का नाम रामदास था किंतु ये नाम तो सब भूल ही गए थे। सब उसे छऊ के नाम से बुलाते थे। ग्राम में जब भी कुछ विशेष कार्यक्रम होता था तो प्रीतिभोज में बुलाते थे। कई बार पूरी

समाज का निमंत्रण होता था तब इन 6 भाईयों के लिए निमंत्रण आता था तो छऊ के नाम से आता था और यदि केवल एक भाई के लिए निमंत्रण आता था तब भी छऊ के नाम से आता है क्योंकि बड़े भाई का नाम छऊ था। तो यदि एक का भी निमंत्रण आता तब भी छहों के छहों पहुँच जाते। लोगों को बड़ा खराब लगता कि एक के बुलाने पर भी छहों आ जाते हैं। एक दिन एक व्यक्ति ने उनसे बोल ही दिया कि भाई ! निमंत्रण केवल एक का था और तुम छहों आ गए। वे बोले ''हाँ छऊ का निमंत्रण था तो छहों आ गए।'' ''वह व्यक्ति बोला तुम्हें लज्जा नहीं आयी।'' वे बोले उसका स्वास्थ्य खराब था हम उसके लिए कटोरा लाए हैं। दरअसल लज्जा उनकी बहन का नाम था। तो ये छऊ को बुलाने से छहों पहुँच जाते हैं और लज्जा का कटोरा दिखा देते हैं। इसीलिए ये लोभ छऊ है एक छऊ को बुलाओगे तो वे पाँच पाप भी आ जाऐंगे और साथ में विषय कषाय रूपी लज्जा का कटोरा भी ले जाएँगे इसलिए लोभ को निमंत्रण नहीं देना।

यदि यह लोभ एक बार जीवन में आएगा तो खजाने को खाली करके ही जाएगा। यदि सब पापों को बुलाना हो तो मात्र लोभ को बुला लो और तो सब स्वतः ही आ जाएँगे। लुब्धता सभी पापों की जड़ है। ''लोभ पाप का बाप बखाना''। लोभ पाप का बाप है।

लोभः प्रतिष्ठापापस्य, प्रसूतिर्लोभ एव च।
जनको द्वेष क्रोधादि, लोभः पापस्य कारणं॥

लोभ पाप की प्रतिष्ठा-आश्रय है, लोभ पाप की प्रसूति-जन्मदात्री है, लोभ द्वेष-क्रोधादि का जनक है, लोभ पाप का कारण है।

समस्त पापों का जन्मदाता लोभ है, समस्त कषायों की जननी लोभ है, समस्त संसार के दुर्गुणों को देने वाला लोभ होता है, सप्त व्यसनों में प्रवृत्ति कराने वाला लोभ होता है। बिना लोभ के कोई भी

प्राणी संसार के कोई भी पाप नहीं कर सकता। लोभ ही सब पापों को कराता है। आज भी वर्तमान काल में अधिकतम पाप लोभ के वशीभूत होकर ही हो रहे हैं। चाहे वह लोभ जीवन का हो या भोगों का, आरोग्यता का हो या यशकीर्ति का, धन का हो या प्रतिष्ठा का। लोभ प्राणी से कौन-कौन से पाप नहीं करा देता।

श्मश्रुनवनीत जो लोभ के कारण झोंपड़ी सहित अग्नि की लपटों में स्वाहा हो गया। मम्मन सेठ जिसने असीम धन होने के बाद भी प्राणों को खतरे में डालकर लकड़ियाँ बीनीं। वह बल्लूशाह जिसने एक श्रीफल के लोभ में स्वयं को मृत्यु की वेदी पर समर्पित कर दिया। पिण्याक गंध, लोभ के कारण ही इसकी दुर्गति हुई। लोभी कौरव जो एक ग्राम भी पांडवों को न दे सकने के कारण मृत्यु को प्राप्त हो गए। राजा दमवारी, कंस आदि लोभ के कारण अपयश व दुर्गति को प्राप्त हुए।

राष्ट्रशांति के हेतु लोगों को लोभ का परित्याग कर देना चाहिए। अन्याय, अनीति, भ्रष्टाचार आदि का मुख्य कारण लोभ ही है। धन के लोभ में व्यक्ति गलत काम कर बैठता है और बाद में स्वयं उस दलदल से निकलने में असमर्थ होता है। लोभ के कारण ही यह धर्म-अधर्म, न्याय, अन्याय का विचार नहीं करता और परिवार, धर्म, समाज व देश का अहित कर बैठता है। लोभ की प्रवृत्ति यदि व्यक्ति अपने अंदर से निकाल दे तो वह कभी मुसीबतों में नहीं पड़ सकता। यदि लोभ व्यक्ति के अंदर से पलायन कर जाए तो नब्बे प्रतिशत पाप भी देश से पलायन कर जाएँगे। चंद्रगुप्त मौर्य के दरबार में एक यूनानी राजदूत था मेगस्थनीज। उसने एक ग्रंथ लिखा जिसमें चंद्रगुप्त के समय भारत की स्थिति का भी वर्णन किया। उसने लिखा उस समय घरों में ताले नहीं लगाए जाते थे और इसका कारण संभव है कि उस समय लोगों की संतोषी प्रवृत्ति थी। सुख-शांति की स्थापना के लिए निर्लोभता आवश्यक है।

ऐसा लोभ जिससे विषय कषाय वृद्धि को प्राप्त हों, जिससे गुणों का नाश हो और जो पाप का कारण हो उसका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।

विश्वास-घाती

भिच्चं संदेह-जुत्तं हु, मित्तं सत्तु-जुदं तहा।
मूलेण चलिअं दंतं, सुट्ठु उप्पाडणं सया॥७०॥

अर्थ:-संदेह युक्त सेवक, शत्रुओं से मिला हुआ मित्र और हिलता हुआ दाँत इनको समूल उखाड़ना ही श्रेष्ठ है।

It is better to eradicate (uproot) suspicious servants, friend attached with enemy and shaking tooth.

भावार्थ:-भौतिकता की अंधी दौड़ में प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे को परास्त करना चाहता है, आगे निकलना चाहता है। आगे निकलने की तृष्णा में न्याय, नीति, धर्म का सहारा न लेकर अन्याय, अनीति, अत्याचार, अधर्म का सहारा लेता है। इतिहास में झाँकने पर दिखता है कि कितने पुत्रों ने पिता का वध कर राजगद्दी प्राप्त की। सत्ता के लोभ में अपने सगे संबंधियों को भी नहीं छोड़ा। जब तक व्यक्ति के जीवन में धर्म है तब तक व्यक्ति कभी किसी का वध नहीं करता। आचार्य भगवन् श्री गुणभद्र स्वामी "आत्मानुशासन"में कहते हैं।

धर्मोवसेन्मनसि यावदलं च तावद्,
हंता न हंतुरपि पश्य गतेथ तस्मिन्।
दृष्ट्वा परस्परहतिर्जनकात्मजानां,
रक्षा ततोऽस्य जगतः खलु धर्म एव॥

जब तक मन में धर्म का वास होता है तब तक व्यक्ति अपने मारने वाले को भी नहीं मारता। धर्म से रहित पिता पुत्र को व पुत्र पिता को मारते हुए भी देखे जाते हैं अतः इस जगत में एक धर्म ही सबकी रक्षा करने वाला है। वरना इस संसार में कौन किसकी रक्षा करता है?

किंतु धर्म से रहित व्यक्ति न्याय, नीति का विचार नहीं करता। वह व्यक्ति शत्रुओं को तो परास्त कर सकता है किंतु यदि कोई अपना जाकर मिल जाए तो शत्रुओं से परास्त हो जाता है। इतिहास में भी देखने पर मिलता है यदि कोई सैनिक, गुप्तचर या सेवक शत्रुओं को खबर देने लगे तो विनाश निश्चित है। नीति कहती है यदि सेवक पर एक बार भी संदेह हो जाए तो उसे अपने पास स्थान नहीं देना चाहिए। यदि पता लगने पर वह सेवक क्षमा माँगकर पुनः कार्यरत होना चाहे तो इसके दुष्परिणाम भी अतीत ने देखे हैं।

संभव है वह सेवक सुधर भी जाए परंतु उसे अपने पास न रखना ही श्रेष्ठ है और शत्रुओं से मिले मित्र को भी छोड़ देना ही श्रेष्ठ है। जब विभीषण जाकर राम से मिला तब विभीषण ने उसके सारे रहस्य उद्घाटित कर दिए और उनकी जीत को सरल बना दिया। एक कहावत है-''घर का भेदी लंका ढाए'' यदि घर का कोई व्यक्ति जो सब रहस्यों को जानता हो और वह शत्रुओं की ओर मिल जाए तो उसके नाश को कौन रोक सकता है। एक बार एक लकड़हारा कुल्हाड़ी लेकर सामने से आ रहा था। उसे देख सभी वृक्ष रोने लगे। उन वृक्षों को रोता देखकर एक वृद्ध वृक्ष बोला कि अब रोने से क्या लाभ? यदि हम में से कोई एक जाकर लोहे से न मिला होता तो ये कुल्हाड़ी तैयार नहीं होती। फिर उसके द्वारा न हमारा विनाश होता और न यहाँ रोना पड़ता।

कहने का आशय यह है कि मित्र का शत्रुओं के साथ मिलना उसके विनाश का कारण है अतः ऐसे मित्र को भी अलग कर देना ही श्रेष्ठ है। अगली बात यदि मुँह में दाँत हिल रहा हो तो उस दाँत को जब तक निकाला न जाएगा तब तक वह कष्टदायक ही होगा वह खाने में परेशान करेगा अतः उस दाँत को जड़ से उखाड़ना ही श्रेष्ठ है। संदेह युक्त सेवक, शत्रुओं से मिले मित्र और हिलते हुए दाँत दया

के योग्य नहीं होते। इन पर दया करना स्वयं के विनाश को आमंत्रण देना है अतः इन्हें जड़ से उखाड़ देना ही श्रेष्ठ है।

शासक व उसका शासन

सिस्साणं हि गुरू होज्जा, दुट्ठाणं सासगो णिवो।
गूहिच्चु-पाव-कत्तूणं, सासगो य महादुहं॥७१॥

अर्थ:-शिष्य का शासक गुरु होता है, राजा दुष्टों पर शासन करता हैं और जो छिपकर पाप करता है उसका तो दु:ख ही शासक होता है।

Ruler of the disciples is a preceptor and the king rules over evil people in the country. But a person who sins stealthily, sorrow rules over him.

भावार्थ:-सम्यक् दिशा देने के लिए अनुभवी व आदर्श व्यक्तित्व द्वारा सम्यक् शासन किया जाता है। शासन विहीन व्यक्ति सम्यक् मार्ग पर चलने में असमर्थ होता है। शासन वह छत्रछाया है जिसमें रहकर व्यक्ति सम्यक् मार्ग को पहचान सकता है, उस पर गति कर सकता है। शासन या अनुशासन विहीन संस्थाएँ, स्कूलादि अच्छे नहीं कहे जा सकते। छोटे परिवार या संस्था में भी अनुशासन चाहिए और उसको शासित करने वाला एक शासक होता है। शासक जितना श्रेष्ठ, सदाचारी हो उसके शासन में रहने वाले उतने ही श्रेष्ठ बनते हैं। परिवार का मुखिया, परिवार पर शासन करता है, संस्था का मुखिया या प्रधान संस्था पर, प्रधानाचार्य विद्यालय पर, सौधर्मेंद्र अन्य देवों पर, माता-पिता संतानों पर, अध्यापक विद्यार्थियों पर शासन करते हैं।

गुरु अपने शिष्यों को समीचीन लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए उन पर शासन करते हैं। शिष्य पर उसके गुरु का अनुशासन अत्यंतावश्यक है। वास्तविकता में तो अनुशासन रूखा होता है, अनुशासक भी रुचिकर प्रतीत नहीं होता। परंतु यह रूखा सा प्रतीत होने वाला अनुशासन ही व्यक्ति की उन्नति में कारण बनता है। अनुशासन स्वतंत्रता तो प्रदान करता है किंतु स्वच्छंदता नहीं। स्वच्छंदता व्यक्ति

को अन्याय की ओर गतिशील करती है और स्वतंत्रता मर्यादा में रहते हुए अपने कर्त्तव्य पालन करने का नाम है। स्वच्छंदता पतन का मार्ग है तो स्वतंत्रता उत्थान का।

शासन स्वच्छंदता को समाप्त कर, स्वतंत्रता प्रदान करता है। जिस प्रकार महावत अंकुश के द्वारा हाथी पर नियंत्रण करता है उसी प्रकार राजा का शासन दुष्टों पर होता है। दुष्टों की दुष्टता राजा के शासन में प्रभाव कम दिखाती है। दुष्टों की संगति अन्यों को भी दुष्टता प्रदान करती है इसीलिए उन पर शासन करना आवश्यक है।

शिष्यों पर गुरु का शासन होता है, दुष्टों पर राजा का शासन होता है और पाप करने वालों पर दु:खों का शासन होता है। बुरे कार्य पाप कहलाते हैं। जब व्यक्ति बुरे कार्यों को करता है तब पाप कर्मों का आस्रव होता है और उनका ही बंध होता है किंतु जब ये पाप कर्म उदय में आते हैं तो ये ही दु:ख कहलाते हैं। प्रकृति का शाश्वत नियम है व्यक्ति जैसा बोता है वैसा ही फल प्राप्त करता है। कर्म सर्वाधिक न्यायप्रिय होते हैं। पुण्य कर्म करने वाले भविष्य में पुण्य का फल अर्थात् सुखों को भोगते हैं और पाप कर्म करने वाले भविष्य में पाप का फल अर्थात् दु:खों को भोगते हैं। कर्म का फल प्रत्येक प्राणी को भोगना पड़ता है चाहे वे तीर्थंकर ही क्यों न हों। आचार्य भगवन् श्री गुणभद्र स्वामी आत्मानुशासन में कहते हैं-

पुरागर्भादिन्द्रो मुकुलितकरः किंकर इव,
स्वयं सृष्टासृष्टेः पतिरथ निधीनां निजसुतः।
क्षुधित्वाषण्मासान् स किल पुरुरप्याट जगती,
महो केनाप्यस्मिन् विलसितमलंघ्यं हतविधेः॥

कर्म की गांते विचित्र है। जिनके जन्म के पूर्व रत्नों की वर्षा हुई, जिसके जन्म के समय इंद्र दरवाजे पर चौकीदार बन खड़ा रहा कि

'जन्म होते ही पहले मैं दर्शन करूँ।' जन्म के बाद देवताओं ने मिलकर अभिषेक किया। बड़े हुए तो प्रजा को जीने के साधन, जीवन के उपाय बताये, असि, मसि, कृषि, शिल्प, विद्या, वाणिज्य की शिक्षा दी, प्रजा ने जिन्हें विधाता कहा। उनके दीक्षा लेने के बाद उन्हें आहार नहीं मिला। जिनका पुत्र चक्रवर्ती, नवनिधि का अधिपति, षट्खंड का विजेता है, जो स्वयं तीर्थंकर होने वाले हैं ऐसे पुण्यशाली, तीर्थंकर प्रकृति से बड़ा पुण्य और क्या होगा? ऐसे तीर्थंकर को भी छः माह तक अंतराय कर्म ने सताया, आहार नहीं मिला।

कुछ कर्म तो भोगने ही पड़ते हैं। वे अपना फल दिए बिना नहीं जाते। राम-लक्ष्मण जैसे शूरवीर भी राजा अतिवीर्य के दरबार में नर्तकी बनकर नाचे, पाँचों पांडव भी अश्वपाल, रसोईया आदि के भेष में रहे, इंद्रजीत की विद्याएँ भी ये कहकर कि "अब आपका पुण्य क्षीण हो चुका है, हम आपका कार्य नहीं कर सकती" चली गईं, भीमसेन राजा को भी दर-दर की ठोकरें खानी पड़ी। जब व्यक्ति का पाप कर्म का उदय होता है तब एक ही चीज उसके साथ होती है और वह है दुःख। अतः यदि दुःख के शासन में नहीं रहना चाहते तो सभी पापों को छोड़ देना ही उचित है, अशुभ क्रिया कलाप, कटु वाणी, अप्रशस्त विचार सब दुःख के ही कारण हैं। आचरण में अहिंसा हो, वाणी में अहिंसा हो, विचारों में अहिंसा हो। यह अहिंसा ही पापों से दूर रखने में समर्थ है और जब पाप कर्मों का बंध ही नहीं होगा तो दुःख भी नहीं सहना पड़ेगा।

संयोग-वियोग

मित्तं विजोग-हीणं णो, मिच्चु-हीणं ण जीवणं।
सस्सदं भव-सोक्खं णो, अंतहीणं ण जोव्वणं॥७२॥

अर्थ:-ऐसा कोई मित्र नहीं जिसका वियोग न हो, ऐसा कोई जन्म नहीं है जब मृत्यु न हो, ऐसा कोई यौवन नहीं जिसका अंत न हो और ऐसा कोई सांसारिक सुख नहीं जो शाश्वत हो।

There is no friend who will not be seperated, there is no birth which will not come to an end, there is no youth which will not end and there is no worldly pleasure which is immortal.

भावार्थ:-प्रकृति का नियम है यदि दिन है तो रात भी होगी, अंधकार है तो प्रकाश भी है, शत्रु है तो मित्र भी है, उदय है तो अस्त भी है, उत्थान है तो पतन भी है, आदि भी है तो अंत भी है, शुक्ल पक्ष है तो कृष्ण पक्ष भी है। संसार में अच्छाईयाँ भी हैं तो बुराईयाँ भी हैं, गुण भी हैं तो दोष भी हैं, निंदक भी हैं तो प्रशंसक भी हैं, प्रिय भी हैं तो अप्रिय भी हैं, राग भी है तो द्वेष भी है, सौभाग्य भी है तो दुर्भाग्य भी है, संयोग भी है तो वियोग भी है, अहिंसा भी है तो हिंसा भी है। एक सिक्के के दो पहलू, एक नदी के दो किनारे, एक रस्सी के दो सिरे होते ही हैं। इसी प्रकार यदि किसी के साथ संयोग हुआ और इष्ट लगने वाला वह व्यक्ति मित्र बना तब कुछ समय तो वह तुम्हारे साथ रह सकता है, तुम्हारे कष्ट को कुछ कम कर सकता है क्योंकि मित्र का अर्थ है जो अनुकूल-प्रतिकूल दोनों परिस्थितियों में तुम्हारा साथ दे। अच्छी आदतों, बातों, विचारों को बढ़ावा दे और बुरी आदतों से स्वयं दूर रहते हुए तुम्हें भी दूर रखे।

एक सच्चा मित्र अपने मित्र का हर सुख-दु:ख में साथ देता है। वह कभी गलत सलाह नहीं देता। जो मित्र गलत सलाह दे वह मित्र,

मित्र नहीं है क्योंकि एक सच्चा मित्र तो सदैव अपने मित्र का हित ही चाहता है वह उसे गलत मार्ग पर चलने नहीं दे सकता। उसकी उन्नति में प्रयासरत रहता है।

एक बार दो मित्र बातचीत करते हुए एक बगीचे में पहुँचे। दोनों ही बहुत भूखे-प्यासे थे। आम के बाग को देखते ही दोनों ने विचार किया कि "आम्र के ये मिष्ट फल हमारी क्षुधा व तृषा दोनों को शांत कर सकते हैं।" उन्होंने बगीचे में माली को देखा तो वह नहीं मिला। दोनों सोच में पड़ गए कि अब क्या करें? गर्मियों का समय था "माली आएगा तो उसका मूल्य चुका देंगे" यह निर्णय कर उन्होंने आम तोड़ लिये। संयोगवशात् माली उसी समय आ गया और चिल्लाते हुए बोला "तुम जानते नहीं यह किसका बगीचा है, यह राजा का बगीचा है तुम यहाँ चोरी करते हो। यहाँ फल तोड़ने का अर्थ है मृत्युदंड।" यह सुनते ही दोनों मित्र घबरा गए और कहने लगे कि हमने चोरी नहीं की। माली चिल्लाता हुआ बोला "मैंने तुम्हें रंगे हाथ पकड़ा है।" उनकी एक न सुनी और राजा के सामने उपस्थित कर दिया।

राजा ने पूछा कि फल किसने तोड़ा है? फल जिसने तोड़ा है वह ही दंड का अधिकारी है। दोनों कुछ कहते उससे पूर्व ही राजा बोले कि मैं कुछ सुनना नहीं चाहता। वह हमारे पूर्वजों का बगीचा है और वहाँ से आम तोड़ने वालों को एक मृत्युदंड ही सुनिश्चित है। राजा ने पूछा बताइए आम किसने तोड़ा? एक मित्र बोला मैंने तोड़े तभी दूसरा मित्र बोला मुझे बचाने के लिए झूठ क्यों कहता है, आम मैंने तोड़ा है। इस प्रकार दोनों को देखकर राजा आश्चर्यचकित हुआ। तुम दोनों क्यों मरना चाहते हो? तभी माली के द्वारा आम तोड़ने वाले को पहचान लिया गया।

राजा ने सांयकालीन निश्चित समय पर फाँसी की घोषणा कर दी। उसने कहा ''राजन् ! मेरी माँ नेत्रहीन है मैं मृत्यु से पहले उनसे मिलना चाहता हूँ उनका इस दुनिया में मेरे अलावा और कोई नहीं है।'' राजा ने कहा ''किंतु मैं ये विश्वास कैसे करूँ कि तुम लौटकर आ ही जाओगे।'' तभी दूसरा मित्र बोला कि जब तक ये लौटकर न आए आप मुझे रख लें। राजा ने कहा ठीक है किंतु सही समय पर आ जाना वरना तुम्हारे मित्र को ही फाँसी की सजा दे दी जाएगी।

मित्र अपनी माँ से मिलने गया और उन्हें सब कुछ बताया। वह नेत्रहीन वृद्धा माँ रोने लगी। उसने कहा ''माँ ! अब मेरे जाने का समय हो गया। वह जाता है उसे कोई वाहन नहीं मिलता वह दौड़ते-दौड़ते जाता है। उधर राजा के पास जो मित्र बंदी था वह विचार करता है भगवन् मेरे मित्र को थोड़ी देर और हो जाए और फाँसी मुझे ही मिल जाए। जो मित्र दौड़ रहा था वह कह रहा था भगवन् ! आज मुझे समय से पहुँचा दे। इतने में रेलवे फाटक बंद मिला। उधर राजा के सैनिक उस बंदी मित्र को ही फाँसी के तख्ते तक ले गए। समय पूरा ही हुआ कि वह मित्र दौड़ते हुए वहाँ पहुँचा और बोला ठहरो, मैं आ गया हूँ।

फाँसी के तख्ते पर खड़े मित्र ने कहा ''नहीं राजन्, यह गलत है। यह देर से आया है। मैं फाँसी के तख्ते तक पहुँच गया हूँ अब फाँसी मुझे ही मिलनी चाहिए।'' दूसरा मित्र बोला ''राजन् ! यह गलत है, अपराधी को सजा मिलनी चाहिए। जबकि मैं सामने खड़ा हूँ तो इसे सजा कैसे मिल सकती है।'' दोनों कहने लगे ''फाँसी मुझे लगेगी, फाँसी मुझे लगेगी।''

दोनों मित्रों की अटूट मित्रता देख राजा की आँखें भर आयी। उसने दोनों से क्षमा माँगी और कहा कि जिनके ऐसे मित्र हों उनको

भला क्या हो सकता है। मैं चाहता हूँ कि आप दोनों मुझे भी अपना मित्र बना लो। ऐसे मित्र बड़े सौभाग्य से मिलते हैं।

किन्तु सत्यता यह है कि मित्र कितना भी अच्छा क्यों न हो उसका भी संयोग हमेशा नहीं रहता क्योंकि संयोग के साथ वियोग भी निश्चित है।

जीवन है तो मृत्यु भी है। मरण के बाद जन्म हो या न हो 13वें गुणस्थान में होने वाले पंडित-पंडित मरण के पश्चात् जन्म नहीं होता किंतु जन्म लेने वाले का मरण सुनिश्चित है। ऐसा कोई जन्म नहीं जिसके बाद मृत्यु न हो। गर्भ, सम्मूर्च्छन और उपपाद तीन प्रकार के जन्म कहे गए हैं और इनके बाद मृत्यु निश्चित है।

पानी के बुदबुदे के समान वह यौवन क्षणभंगुर है। बचपन से यौवनावस्था, यौवनावस्था से वृद्धावस्था स्पष्ट देखने में आती है। ऐसा कोई व्यक्ति नहीं जिसका यौवन स्थिर हो। जिस प्रकार बाल्टी भर पानी छत से गिराया जाए तो वह शीघ्र ही पृथ्वी तल पर पहुँच जाता है। बीच की अवस्था अत्यल्प होती है उसी प्रकार यह यौवनावस्था शीघ्र ही निकल जाती है।

यहाँ यौवनावस्था की बात ग्रंथकार ने कही। संभव है कि इस अवस्था को मुख्य रूप से कहने का प्रयोजन ग्रंथकार का इसीलिए रहा हो कि यौवनावस्था में व्यक्ति स्वयं को अत्यधिक शक्तिशाली समझता है। कई बार जोश में होश खो बैठता है। युवावस्था के जोश में वह अपने से बड़ों का आदर-सम्मान करना भी भूल जाता है, विषय-भोगों में लीन हो जाता है।

यह युवावस्था शाश्वत नहीं है। सबका यौवन बीता है तेरा भी बीत जाएगा अतः इस पर अहंकार मत कर। युवा वायु की तरह है। जिस प्रकार शीतल मंद वायु सबके लिए अच्छी होती है, सुखद होती

है और यदि यही आँधी-तूफान-चक्रवात का रूप ले ले तो विध्वंसकारक हो जाती है उसी प्रकार युवा यदि होश के साथ जोश में कार्य करता है तो समाज-देश की उन्नति का कारक होता है और यदि होश खो दे तो स्वयं के पतन का कारण भी बन सकता है। यौवनावस्था में समीचीन मार्ग पर चल मंजिल की ओर शीघ्र गति से गमन किया जा सकता है। परंतु ग्रंथकार पर्यायों की नश्वरता को बता रहे हैं कि यह यौवन पर्याय भी क्षीण हो जाएगी। अत: जब तक शरीर में शक्ति है, तरुणावस्था है अपने लक्ष्य की ओर गमन कर लें। वरना बाद में मात्र पश्चाताप ही शेष रह जाएगा।

करना है जो जल्दी कर लो, सुकृत तरुण अवस्था में,
पैसा पास निरोगी काया, इंद्रिय ठीक व्यवस्था में।
कर न सकोगे वृद्धापन में, बल पौरुष थक जाने से,
लगी आग कुटिया में फिर क्या होगा कूप खुदाने से॥

और अंत में संसार की नश्वरता को बताते हुए कहते हैं कि कोई भी सांसारिक सुख शाश्वत नहीं है। जिस प्रकार दर्पण में मुख दिखता है किंतु होता नहीं है, पंखा घूमता हुआ गोल दिखता है किंतु तीन या चार पंखड़ियों वाला वह पंखा गोल होता नहीं है उसी प्रकार संसार में सुख दिखता है किंतु होता नहीं है और जो वस्तु जहाँ पर है नही उसे वहाँ से प्राप्त कैसे किया जा सकता है। कस्तूरी मृग की तरह यह मानव सुख की सुगंधि के लिए दौड़े जा रहा है किंतु जिस प्रकार मृग नहीं जानता वह कस्तूरी उसकी नाभि में ही है उसी प्रकार मानव अपने आत्मिक सुख को बाहर ढूँढ रहा है। कस्तूरी मृग को वह सुगंधित कस्तूरी कभी बाहर नहीं मिलेगी उसी प्रकार मनुष्य को सुख कभी बाहर नहीं मिलेगा। क्योंकि जो वस्तु जहाँ है वह वहीं प्राप्त होगी।

एक समय बूढ़ी अम्मा रात्रि के समय अंधकार में कुछ ढूँढ रही थी। एक युवक वहाँ से गुजरा बोला 'अम्मा ! क्या ढूँढ रही हो?'' अम्मा ने कहा ''बेटा ! मेरी सुईं गिर गयी है उसी को खोज रही हूँ।'' वह बोला ''अम्मा ! तो अंधेरे में वह सुईं कैसे मिलेगी, प्रकाश में ढूँढो।'' कुछ देर बाद अम्मा सड़क पर पहुँची और सुईं ढूँढने लगी। एक युवक वहाँ से गुजरा पूछा ''अम्मा क्या हुआ, कुछ खो गया क्या?'' बोली ''बेटा ! सुईं खो गई वही देख रही हूँ।'' युवक बोला लाओ, मैं आपकी सहायता कर दूँ किंतु मुझे ये बताओ कि सुईं गिरी किस स्थान पर थी। वह बोली ''बेटा! वो वहाँ, मेरी झोपड़ी में युवक बोला-तो फिर सुईं यहाँ सड़क पर क्यों खोज रही हो।'' बोली ''एक बेटे ने कहा प्रकाश में ढूँढो तो सड़क पर लाइट लग रही थी यहाँ प्रकाश था तो यहीं ढूँढने लगी।'' वह बोला ''अम्मा ! जो चीज झोपड़ी के अंदर है वह बाहर कभी भी नहीं मिल सकती। उसको पाने के लिए तो अंदर ही चलना होगा।''

इसी प्रकार जिस अविनश्वर सुख की तलाश में संसारी प्राणी है वह सुख संसार में है ही नहीं, सांसारिक प्रत्येक सुख नश्वर है। अविनश्वर सुख तो आत्मा में ही है जो वहीं से प्राप्त होगा।

महापुरुषों की व्यापकता

कया वि अवमण्णेज्जा, जो महापुरिसो णहि।
मिद-पासाण-घासं च, सज्जणा खलु सो कहं॥७३॥

अर्थ:-जो कोई भी महापुरुष पाषाण, तृण व मिट्टी का भी अपमान नहीं करता है क्या वह सज्जन को अपमानित करेगा? अर्थात् नहीं कर सकता।

A great person who never insults stone, a straw and the soil, how can he insult the virtuous person? It means, he cannot.

भावार्थ:-मान, अभिमान, सम्मान, अपमान, स्वाभिमान आदि शब्द हिन्दी साहित्य में पढ़ने में आते हैं। कषाय चार प्रकार की होती हैं जिसमें से एक कषाय मान है। चाहे मान कहें, मद कहें, स्मय कहें, गर्व कहें या अहंकार कहें।

आचार्य भगवन् श्री वीरसेन स्वामी श्री धवला जी में कहते हैं-

मानो गर्वः स्तब्धमित्येकोऽर्थः-मान, गर्व और स्तब्धत्व ये एकार्थवाची हैं।

और मान को इस प्रकार उल्लिखित किया।

रोषेण विधातपोजात्यादि मदेन वान्यस्यानवनतिः।

रोष से अथवा विद्या तप और जाति आदि के मद से दूसरे के तिरस्कार रूप भाव को मान कहते हैं। अथवा

विज्ञानैश्वर्यजातिकुलतपोविद्याजनितो जीव परिणामः औद्धत्यात्मको मानः।

विज्ञान, ऐश्वर्य, जाति, कुल, तप और विद्या इनके निमित्त से उत्पन्न उद्धतता रूप जीव का परिणाम मान कहलाता है। आचार्य भगवन् श्री अकलंक देव स्वामी राजवार्तिक में कहते हैं-

जात्याद्युत्सेकावष्टम्भात् पराप्रणतिर्मानः।

जाति आदि आठ मदों से दूसरे के प्रति नमने की वृत्ति न होना मान है।

''मैं कुछ हूँ'' जहाँ 'मैं' की भावना आ जाती है, जहाँ व्यक्ति टूट तो सकता है किंतु झुक नहीं सकता वह मान है।

देहोऽहं कर्मरूपोऽहं मनुष्योऽहं कृशोऽकृशः,
गौरोऽहं श्यामवर्णोऽहमद्विजोऽहं द्विजोऽथवा।
अविद्वानप्यहं विद्वान् निर्धनो धनवानहम्,
इत्यादि चिंतनं पुंसामहंकारो निरुच्यते॥

मैं देवरूप हूँ, कर्म रूप हूँ, मैं मनुष्य हूँ, मैं दुर्बल हूँ, मैं स्थूल हूँ, मैं गौरवर्ण हूँ, मैं श्याप वर्ण हूँ, मैं द्विजेतर हूँ, मैं द्विज हूँ, मैं अविद्वान् हूँ, मैं विद्वान हूँ, मैं निर्धन हूँ और मैं धनवान् हूँ इस प्रकार पुरुषों का चिंतन अहंकार कहलाता है।

यह मान नियम से व्यक्ति की अवनति का कारण है। मानी व्यक्ति का विवेक भंग हो जाता है। उसके संबंधी भी उससे रुष्ट या विमुख हो जाते हैं। मान, व्यक्ति के संयम, दया, क्षमा, उदारता आदि सब गुणों को नष्ट कर देता है। मान व्यक्ति के अंदर दुर्गुणों को उत्पन्न करता है। अभिमानी व्यक्ति की विद्या समय पर उसका साथ छोड़कर चली जाती है। मान ने, अहंकार ने बड़े-बड़े राजाओं को भी धूमिल किया है। कौरवों का मान, रावण का मान, श्री कंठ का मान, राजा इंद्र का मान, राजा सिंहोदर का मान, राजा यम का मान इनकी दुर्गति का कारण बना। अभिमान व्यक्ति के गुणों को नष्ट कर उसको दुर्गति की सैर कराता है।

नीतिं निरस्यति विनीतिमुपाकरोति,
कीर्तिं शशांकधवलां मलिनां करोति।

दौर्भाग्यमानयति कार्यमपाकरोति,
किं किं न दोषमथवा कुरुतेऽभिमानः॥

अभिमान नीति को नष्ट करता है, स्वच्छंदता को उपस्थित करता है, चंद्रमा के समान धवलकीर्ति को मलिन करता है, दौर्भाग्य को लाता है और कार्य को नष्ट करता है, इस तरह अभिमान किस-किस दोष को नहीं करता।

सम्मान का अर्थ है किसी व्यक्ति का आदर-सत्कार करना और इसके विपरीत दूसरों के आदर में कमी करना, तिरस्कार आदि करना अपमान की श्रेणी में आता है। दूसरों का अपमान करने वाला व्यक्ति धर्मात्मा नहीं हो सकता क्योंकि व्यक्ति जो दूसरों का अपमान कर रहा है वह स्वयं मान से सहित है। निरभिमानी, सहजप्रवृत्ति में रहने वाला आर्य पुरुष कभी दूसरे का अपमान नहीं कर सकता। मानी व्यक्ति ही अपमान कर सकता है। राजा यम स्वयं ज्ञान मद में चूर था तभी मुनिराज का तिरस्कार किया। दूसरों के तिरस्कार करने वाले व्यक्ति को धर्मात्मा की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। आचार्य महाराज कहते हैं-

स्मयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थान् गर्विताशयः।
सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना॥

जो अहंकार पूर्ण आशय वाला होता हुआ गर्व से अन्य धर्मात्माओं का तिरस्कार करता है वह अपने धर्म का तिरस्कार करता है क्योंकि धर्मात्माओं के बिना धर्म नहीं होता।

धर्मात्मा तो एक छोटे से जीव या तृण-मिट्टी का भी अपमान नहीं करता। जब वह इन्हीं का अपमान नहीं करता तब एक सज्जन व्यक्ति का अपमान तो कदापि भी नहीं कर सकता।

नीतिकार कहते हैं दूसरों पर अंगुली उठाते समय बाकी की तीन अंगुलियाँ स्वयं की ओर होती हैं। व्यक्ति जब दूसरे के अवगुणों को कहता है तो उससे पूर्व कहने वाले के अवगुण सामने आ जाते हैं। कहने वाले की बात पर कोई विश्वास करे या न करे किंतु कहकर उसने तो अपना स्तर नीचा कर ही लिया। निंदक कभी भी सम्मान के योग्य नहीं होता। निंदक तो उस व्यक्ति के समान है जो हाथ में कोयले का चूर्ण ले सामने वाले पर लगाने का प्रयास करता है सामने वाले व्यक्ति पर वह लगा पाए या नहीं उसके स्वयं के हाथ तो काले हो ही जाते हैं। निंदा, अपमान या तिरस्कार तो कभी किसी का नहीं करना चाहिए। कहा है-

क्षुद्रोऽपिनावमंतव्य, स्वल्पोऽयमितिचिंतया।
शिरस्याक्रम्यते तुच्छं, यतः पादाहतं रजः॥

जिस प्रकार धूली में पैर मारने से वह धूली सिर पर आ बैठती है उसी प्रकार क्षुद्रों का स्वभाव है। अतः क्षुद्रों से कभी भी दुर्व्यवहार मत करना वरना उनके द्वारा तुम्हारा अपमान सुनिश्चित है।

एक बार एक बालक खेलते-खेलते वन में कुएँ के पाट पर जा पहुँचा। वहाँ खेलते-खेलते वह कुएँ में झाँककर बोला "कौन है? सामने आ।" उसे यही आवाज लौटकर आई। उसने थोड़ा साहस भरते हुए कहा "तू जानता नहीं, मैं कौन हूँ" आवाज लौटकर आई "तू जानता नहीं, मैं कौन हूँ" उसने फिर कहा "मैं तुझे मार डालूँगा" पुनः यही आवाज लौटकर आई। वह बालक डर गया और सीधा अपने माँ के पास पहुँचकर रोने लगा। बोला माँ ! जंगल के कुएँ में भूत रहता है और पूरी बात बता दी। माँ अपने बेटे की पूरी बात समझ गई और बोली "बेटा ! वह भूत नहीं तुम्हारा मित्र है।" तुम उससे कहना मैं तुम्हारा मित्र हूँ, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा इत्यादि बात बतायी।

माँ के कहने से वह पुनः वहाँ पहुँचा और जैसा माँ ने कहा वैसे ही आवाज लौटकर आई। वह प्रसन्न हो गया। बोला "मैं तुम्हें स्नेह करता हूँ।" पुनः यही आवाज लौटकर आई। बोला "मैं तुम्हारे साथ हूँ" पुनः यही आवाज लौटकर आई। वह अत्यंत प्रसन्नता के साथ घर लौटा और कहने लगा–माँ आप ठीक कहती थीं वह तो मेरा मित्र है।

यह दुनिया भी एक कुएँ के समान है। यहाँ जैसी ध्वनि होती है वैसी प्रतिध्वनि होती है। जैसी आवाज लगायी जाती है वैसी ही आवाज लौटकर आती है। जैसा व्यवहार सामने वाले से करते हैं वैसा ही व्यवहार स्वयं के लिए प्राप्त करते हैं। जैसी वाणी बोलते हैं वैसी ही सुनने को मिलती है। यदि अपमान करते हैं तो अपमान और सम्मान करते हैं तो सम्मान प्राप्त होता है। जो देते हैं वही प्राप्त करते हैं अतः सदैव दूसरों का सम्मान करें चाहे वह छोटा हो या बड़ा। तृण, मिट्टी, पाषाण या जहाँ से प्रत्युत्तर की संभावना न हो ऐसे भी किसी का अपमान न करें। जो तृण, मूर्ति आदि का भी अपमान नहीं करता वह कभी सज्जनों का अपमान स्वप्न में भी नहीं कर सकता।

पुण्य की बलिहारी

पुण्णे खीणे सुहं णत्थि, पुण्णे खीणे ण रक्खगो।
पुण्णे खीणे गुणा णत्थि, णोसही देदि सप्फलं॥७४॥

अर्थ:-पुण्य के क्षीण होने पर सुख, रक्षक, गुण और औषधि अपने फल को देने में समर्थ नहीं हैं अथवा सुख रूप नहीं हैं।

When the effect of sin is strong happiness, benefactor, merit and medicine do not give any fruitful result.

भावार्थ:-राजा की समीपता प्राप्त होने पर शत्रु भी मित्र जैसे दिखते हैं, धन संपत्ति के पर्याप्त मात्रा में होने पर पराये भी अपने लगते हैं। चंद्रमा की चाँदनी की सन्निधि में उबलता हुआ समुद्र का पानी भी शीतल हो जाता है, सूर्य के सान्निध्य में काँच भी रत्नों की तरह चमकने लगते हैं, पुष्पों की संगति से सामान्य वस्त्र भी सुगंधित हो जाता है। गुणवान्, संयमी, तपस्वी, साधु संतों की संगति में पहुँचा हुआ वह ग्वाल भी या मूर्ख प्राणी भी अपना हित करने में समर्थ हो जाता है।

महापुरुषों के सान्निध्य में पहुँचा हुआ अधम पुरुष भी महान बन जाता है। जैसे अग्नि की संगति में पड़ा हुआ लकड़ी का टुकड़ा या पेट्रोल आदि ईंधन या गैस अथवा धातु भी अग्नि में परिणत हो जाती है उसी प्रकार पुण्योदय में शत्रु भी मित्र हो जाता है, विपत्ति संपत्ति का रूप ले लेती है, पराये अपने हो जाते हैं, अच्छे सपने साकार हो जाते हैं, हर जगह अनुकूलता ही अनुकूलता दिखाई देती है। इसके विपरीत जब पाप कर्म का तीव्र उदय होता है तब आरोग्य वर्द्धक औषधियाँ अपना प्रभाव दिखाने में असमर्थ हो जाती हैं। सुख के साधन भी दु:ख रूप प्रतिभासित होते हैं।

श्रीकरी श्रीकरी राजन् ! करे शिरसि राजते।
प्रत्यक्षं दृश्यते तेषां पापजं पुण्यजं फलं।।

हे राजन् ! पापी मनुष्य के हाथ में श्रीकरी अर्थात् झाड़ू और पुण्यशाली के सिर पर श्रीकरी-सेहरा सुशोभित होता है, यह उनके पाप और पुण्य का फल प्रत्यक्ष दिखाई देता है।

पुण्यवान् के पास इच्छित वस्तुएँ स्वत: चलकर आ जाती हैं और पापी के पास से बहुमूल्य वस्तुएँ चली जाती हैं। यहाँ राजा को संबोधित करते हुए कह रहे हैं कि हे राजन् किसी व्यक्ति को सफाई के लिए झाड़ू दी गई और किसी व्यक्ति को पहनने के लिए हाथ में सेहरा दिया गया। जिसके हाथ में झाड़ू है उसके पाप कर्म का उदय है और जिसके हाथ में सेहरा है उसका पुण्य का उदय है। पुण्य के क्षीण होते ही सब सुख छोड़कर पलायन कर जाते हैं। अकृत पुण्य के गर्भ में आते ही उसके पिता कामवृष्टि जो नगर सेठ थे उनकी सर्व संपत्ति नष्ट हो गई और इतना ही नहीं कामवृष्टि की मृत्यु भी हो गई। शंबूक ने जिस चंद्रहास खड्ग के लिए 12 वर्ष तपस्या की वह तो उसको प्राप्त हो ही ना सका बल्कि उसकी मृत्यु भी उसी खड्ग के माध्यम से हो गई।

पुण्य के उदय में जो चक्र प्रतिनारायण के वैभव, पराक्रम को दिखाता है, पाप के उदय में वही चक्र उसकी मृत्यु का कारण बनता है। पुण्य के उदय में विष भी अमृत का काम करता है और पाप के उदय में अमृत भी विष हो जाता है।

गणेश प्रसाद जी वर्णी जब छोटे थे तब एक समय वे घर के बाहर बच्चों के साथ खेल रहे थे। खेलते-खेलते बच्चों में लड़ाई हो गई और उस लड़ाई में गणेश प्रसाद वर्णी ने दूसरे बच्चे के पत्थर मारा जो उसकी आँख के पास जाकर लगा जिससे खून का फव्वारा फूट

पड़ा। गणेश तुरंत डरते-डरते घर पहुँचे और कोई उन्हें देख न पाए ऐसी जगह छिप गए। उन्होंने अपनी माँ को भी नहीं बताया क्योंकि वे जानते थे यदि माँ को बता देंगे तो उनकी पिटाई होगी। तभी उस बालक की माँ गणेश को पुकारती हुई उसके घर आई। चिरौंजा बाई जी जो उनकी माँ थी निकलकर बाहर आईं बोली क्या हुआ? वह स्त्री बोली गणेश कहाँ है? गणेश बहुत डरा हुआ था वह जानता था अब उसके बचने का कोई उपाय नहीं है। चिरौंजा बाई जी बोलीं कि हमें तो बताओ आखिर बात क्या है? वह बोलीं "कहाँ है तुम्हारा बेटा, मैं उसके पाँव छूना चाहती हूँ, उसकी आरती उतारना चाहती हूँ।"

चिरौंजा बाई जी ने पूछा आखिर ऐसा क्या हुआ है? उसने बताया कि "मेरे बेटे की एक आँख की रोशनी चली गई थी बहुत इलाज करवाया किंतु कुछ नहीं हुआ। आज तेरे बेटे ने उसके पत्थर फेंककर मारा जो उसकी आँख के पास लगा। बहुत रक्त बहा, शायद रक्त का वह थक्का जो उसके देखने में विघ्न उत्पन्न करता था वह भी हट गया और उसकी आँख की रोशनी लौट आई।"

आशय यह है जब व्यक्ति का पुण्य का उदय होता है तो चोट पहुँचाने वाला पत्थर भी रोग-निवारण में कारण बन गया और जिसने पत्थर मारकर गलत किया पुण्य का प्रभाव तो देखो उसने ही उसे सम्मान दिलाया, जय-जयकार कराई। पाप के उदय में सही किया हुआ भी गलत प्रतीत होता है, अच्छा करके भी बुराई मिलती है। जब पुण्य क्षीण हो जाता है तो धन, वैभव, यौवन, सर्वसिद्धियाँ नष्ट हो जाती हैं। कहा भी है-

औषधानि च मित्राणि नक्षत्राणि शकुनग्रहाः।
भाग्यकाले प्रसन्नाः स्युरभाग्ये निष्फलाश्च ते॥

औषध, मित्र, नक्षत्र और शकुन भाग्य (पुण्य) उदय के समय प्रसन्न रहते हैं और अभाग्य (पाप) उदय के समय वे सब निष्फल होते हैं।

ग्रंथकार पुण्य-पाप का फल बताते हुए यहाँ पुण्य कार्य करने के लिए प्रेरणा दे रहे हैं। इस संसार में व्यक्ति जो भी सुख या इष्ट वस्तु प्राप्त करता है वह पुण्य का ही फल है। जीवन तीव्र वेगगामी नदी की तरह से बह रहा है। इस जीवन में यह समझने की योग्यता है कि पुण्य क्या है, पाप क्या है, इनका फल क्या है और इनमें से ग्रहण करने योग्य क्या है। उम्र का कोई भरोसा नहीं आगे किस गति में हों, अतएव प्रतिक्षण पुण्य का अर्जन करो, धर्म का अर्जन करो।

अनित्यानि शरीराणि, विभवो नैव शाश्वतं।
नित्यं सन्निहितो मृत्युं, कर्त्तव्यो धर्म संग्रहः॥

शरीर अनित्य है, वैभव स्थायी नहीं है और मृत्यु निकट है अतः धर्म (पुण्य) का संग्रह करना चाहिए।

जिस प्रकार व्यक्ति अच्छा जीवन जीने के लिए या जीवन रूपी यह मार्ग आराम से तय हो उसके लिए धन का संग्रह करता है उसी प्रकार संसार रूपी मार्ग आराम से तय हो और पुनः अपनी मोक्ष रूपी मंजिल प्राप्त करें उसके लिए धर्म या पुण्य का संग्रह करें। आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी ने कहा है "पुण्यफला अरिहंता।" पुण्य का फल अरिहंत अवस्था की प्राप्ति है अतः मन यानि अच्छी सोच और अच्छे विचारों के माध्यम से, वचन यानि अच्छे शब्दों का प्रयोग कर, जिससे किसी को दुःख न पहुँचे ऐसी वाणी के माध्यम से और तन यानि शरीर से अच्छी क्रियाएँ, शिष्ट व इष्ट व्यवहार के माध्यम से पुण्य का अर्जन करें।

प्रत्येक इष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए पुण्य की आवश्यकता होती है और यहाँ राष्ट्र में सुख-शांति की स्थापना इष्ट है जिसके लिए सर्वप्रथम पुण्य की आवश्यकता है अतः ग्रंथकार यहाँ राष्ट्र शांति की स्थापना हेतु पुण्य करने की प्रेरणा दे रहे हैं।

कर्मों की गुरुता-लघुता

पडदि गुरु-वत्थू य, लहू उक्कमदे णहे।
पुण्णमंतो सया सग्गं, पावी दोत्थं हि पावदे॥७५॥

अर्थ:-भारी वस्तु भूमि पर गिरती है और लघु यानि हल्की वस्तु आकाश में जाती है। जैसे पुण्यशाली स्वर्ग में जाता है और पापी दुर्गति को प्राप्त करता है।

Heavy thing falls down and light thing goes up in the sky, a virtuous person goes to heaven and a sinful person goes to hell.

भावार्थ:-जो वस्तु जितनी भारी होती है वह उतनी शीघ्रता से नीचे आती है। एक गुब्बारा जिसमें सामान्य हवा भरी जाती है वह नीचे ही रहता है और जिस गुब्बारे में हीलियन या हल्की गैस भरी जाती है वह ऊपर की ओर जाता है। सहजावस्था में हल्की चीजें ऊपर की ओर जाती हैं और भारी नीचे। पाप वर्गणाएँ भारी और पुण्य वर्गणाएँ हल्की होती हैं इसीलिए पाप वर्गणाओं का धारक यानि पापी व्यक्ति नीचे की ओर जाता है। नरक मध्यलोक के नीचे और स्वर्ग मध्यलोक के ऊपर है। नरक में पापी व्यक्ति जाते हैं और पुण्यात्मा स्वर्ग प्राप्त करते हैं। वर्गणाएँ पुण्य और पाप की अलग-अलग नहीं होती अपितु वे वर्गणाएँ ही पुण्य या पाप रूप परिवर्तित हो जाती हैं जिस प्रकार प्रकाश के परमाणु और अंधकार के परमाणु अलग-अलग नहीं होते लाइट खोलते ही वे परमाणु प्रकाशमय और लाइट बंद करते ही वे परमाणु अंधकार रूप परिवर्तित हो जाते हैं। व्यक्ति जब अच्छे कार्य करता है तब वे वर्गणाएँ पुण्य रूप हो आत्मा से संश्लेषित हो जाती हैं। पुण्यात्मा मृत्यु को प्राप्त कर ऊर्ध्व गति प्राप्त करता है। पाप वर्गणाओं को अधिक मात्रा में ग्रहण करने वाला पापात्मा कहलाता है वह अधोगति में जाता है।

पुण्य कार्य से तात्पर्य है अच्छे कार्य जैसे-सेवा, परोपकार, क्षमा, सहनशीलता, देवपूजन, स्वाध्याय, गुरुभक्ति, व्रत, संयम, वैयावृत्ति, दान, जीव रक्षा आदि। जो व्यक्ति ऊर्ध्व गति प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें पुण्य कार्य करना श्रेष्ठ है। पाप कार्य अर्थात् जीव वध, चोरी, धर्म व धर्मायतनों की निंदा आदि। इन कार्यों को करने वाले अधोगति प्राप्त करते हैं। अनादिकाल से व्यक्ति इस संसार रूपी सागर में पुण्य और पाप के हिचकोले खाते हुए भ्रमण कर रहा है। इस संसार में व्यक्ति को जो कुछ भी इष्ट वस्तुएँ प्राप्त होती हैं वह सब पुण्य का ही फल है। कई बार यह देखने में भी आता है। जब तक इंद्रजीत का पुण्योदय था तब तक सब इष्टों की संप्राप्ति हुई और जिस दिन पुण्य क्षीण हुआ तब उसकी सिद्ध की हुई विद्याऐं उससे बोलीं कि "आपका पुण्य अब क्षीण हो चुका है, हम अब आपका साथ नहीं दे सकतीं, हम सब जा रही हैं।" जब पुण्य क्षीण हो जाता है तब अत्यधिक पुरुषार्थ करने पर भी इष्ट वस्तु की प्राप्ति मुश्किल है। पुण्यवान् व्यक्ति या जिसकी सत्ता में पुण्य है तो उसके द्वारा हुआ कुछ गलत कार्य भी अच्छे रूप में प्रकट होता है।

कहा भी है-

जब तक तेरे पुण्य का बीता नहीं करार।
तब तक तुझको माफ हैं औगुन करे हजार॥

एक बार एक सेठ पुत्र मुनीम के साथ हवेली की छत पर खड़ा था। तब उसने देखा राजा के सैनिक किसी व्यक्ति को पकड़कर ले जा रहे हैं। उसने मुनीम जी से पूछा "काका ! ये राजा के सैनिक इस व्यक्ति के हाथों में क्या पहनाकर ले जा रहे हैं।" बोले "बेटा ! इस व्यक्ति के हाथों में हथकड़ी है।" वह बोला ये तो मुझे भी पहनना है। उन्होंने समझाया ये अच्छा नहीं है और न ही यह ऐसे मिलती है

परंतु उसने अपनी जिद नहीं छोड़ी। तब उन्होंने कहा तुम जाकर राजा का मुकुट गिरा देना तुम्हें हथकड़ी पहना दी जाएगी। वह सेठ पुत्र अगले दिन राजदरबार पहुँचा और राजा का मुकुट गिरा दिया पहले तो सब क्रोधित हुए परंतु तभी राजा के मुकुट से साँप निकलता दिखाई दिया। राजा ने उस पुत्र का खूब सम्मान किया और धन, रत्नादि देकर पुरस्कृत किया। वह सेठ पुत्र घर आकर मुनीम जी को सब बताता है और कहता है मुझे कोई दूसरा उपाय बताओ मुझको तो हथकड़ी पहनना है। वह अगले दिन राजमहल में पहुँचता है देखता है राजा छत पर दीवार के सहारे आराम से बैठे हुए हैं। वह गया और राजा को धक्का दे दिया। राजा आगे की ओर गिर पड़ा। धक्का देते ही जिस दीवार से राजा टिका था वह गिर पड़ी। राजा बोला यह कोई सामान्य व्यक्ति नहीं है यह देवदूत है अन्यथा आज मेरे प्राण चले जाते। राजा ने उसे आधा राज्य दे उसका सम्मान किया। वह सेठ पुत्र परेशान हो बोला अब क्या किया जाए। वह दूसरी युक्ति के साथ अगले दिन राजदरबार में पहुँचा। देखा राजा के हाथ में दूध का गिलास है। उसने उस गिलास पर हाथ मारकर गिरा दिया। राजा को बहुत गुस्सा आया। इतने में एक बिल्ली आयी वह दूध पीकर मर गयी। राजा ने उसका पूरे नगर के सामने सम्मान किया और अपना उत्तराधिकारी घोषित कर राज्य उसी को सौंप दिया।

संसार में सभी पुण्य-पाप का खेल है। पुण्य और पाप का प्रभाव संसार में स्पष्ट देखने में आता है। एक व्यक्ति सुख-सुविधाओं से युक्त अपने पुण्य के फल को भोग रहा है और एक व्यक्ति जो कई दु:खों को झेलकर अपना पाप कर्म भोग रहा है।

संस्कृति

संतीइ धम्म-सक्कारो, हेऊ अप्पणिही तहा।
सक्कयाण किदी णिच्चं, जाणेज्जा हि सक्किदी॥७६॥

अर्थ:-धर्म के संस्कार निश्चय से शांति का कारण है। यह ही आत्मा की निधि हैं। संस्कारी व्यक्ति की कृति ही संस्कृति जाननी चाहिए।

Sanskar of religion is the cause of tranquility surely. It is the treasure and affluence of the soul. Action of a ritualistic person becomes culture.

भावार्थ:- गौतम स्वामी श्री वीरभक्ति में कहते हैं-

धर्मः सर्व-सुखाकरो हितकरो धर्मं बुधाश्चिन्वते,
धर्मेणैव समाप्यते शिवसुखं धर्माय तस्मै नमः।
धर्मान्नास्त्यपरः सुहृद्-भवभृतां धर्मस्य मूलं दया,
धर्मे चित्त-महं दधे प्रतिदिनं हे धर्म ! मां पालय॥

धर्म सबको सुखी करने वाला और सभी का हित करने वाला है। बुद्धिमान लोग इसीलिए धर्म का संग्रह करते हैं। शिव-सुख धर्म के द्वारा ही प्राप्त किया जाता है। उस धर्म को मैं नमस्कार करता हूँ। भव भ्रमण से बचाने वाला धर्म के अतिरिक्त कोई और मित्र नहीं है। इस धर्म का मूल दया है। ऐसे धर्म को मैं नित्य अपने चित्त में डालता हूँ। हे धर्म ! मेरा पालन करो।

धर्म प्रेम, वात्सल्य, मैत्री, करुणा सिखाता है। धर्म जुड़ना और जोड़ना सिखाता है। एक बार एक राजा ने अपने दरबार में उपस्थित विद्वानों से कहा कि हमारे यहाँ सहस्राधिक धर्म ग्रंथ हैं और मेरे पास इतना समय नहीं है कि मैं उन धर्म ग्रंथों को पढ़ सकूँ। तुम उन सबका सार निकाल कर लाओ। उन ग्रंथों का सार लिख वे विद्वान शताधिक

ग्रंथ ले आए। राजा ने कहा मैं इन्हें भी नहीं पड़ सकता और छोटा करके लेकर आओ। वे लगभग अर्द्धशत ग्रंथ ले आएँ। राजा ने कहा-नहीं, और छोटा करके लाए। वे कुछ समय पश्चात् एक ग्रंथ लिख लाए। राजा ने कहा-नहीं धर्म को एक पंक्ति में बताओ। वे विद्वान् कुछ दिन पश्चात् राजा के पास आए और बोले "राजन्! अहिंसा ही धर्म है।" क्योंकि यह अहिंसा ही विश्व को एक सूत्र में बाँधने में समर्थ है।

प्रेम, वात्सल्य, समन्वयता का उपदेश विश्व को अहिंसा से ही मिलता है। यदि व्यक्ति अपने आचरण में, व्यवहार में, वाणी में अहिंसा को स्वीकार कर ले तो कई प्रतिशत पाप घट जाएँगे। धर्म मनुष्य को सम्यक् जीवन शैली देता है, जीने की कला देता है। धर्म सहित जीवन व्यतीत करने के लिए व्यक्ति अच्छे कार्यों को करता जाए और बुरे कार्यों को छोड़ता जाए। धर्म के ये संस्कार माता-पिता के माध्यम से बच्चों में डाले जाते हैं और उसके पश्चात् संस्कार देने की भूमिका अदा करते हैं विद्यालय। पूज्य गुरुदेव कहते हैं यदि माँ अपने गर्भ के नौ महीने के संस्कार और पिता 9 साल के सम्यक् धर्म के संस्कार अपने बच्चों को दें उनकी 90 साल की उम्र धर्मपूर्वक, व्यतीत हो जाएगी और जब व्यक्ति हर क्षण, हर स्थान पर धर्म सहित रहना सीख जाता है तब वह अपनी और दूसरों की शांति का तो कारण बनता ही है साथ ही विश्व शांति की स्थापना करने में भी समर्थ होता है।

भारतीय संस्कृति सर्वश्रेष्ठ रही है। प्राचीनकाल से क्षत्रिय राजाओं ने भारतीय संस्कृति की आन-बान-शान की रक्षा की है। यह वही भारत है जहाँ पर श्री आदिनाथ, श्री महावीर स्वामी, भरत, बाहुबली आदि महापुरुषों का जन्म हुआ। इसी भारतभूमि से आध्यात्मिक विद्या का सूत्रपात हुआ। प्रेम, अहिंसा का संदेश इसी भारतभूमि ने संपूर्ण

विश्व को प्रदान किया। विश्व गुरु की संज्ञा धारण करने वाला यह वही भारत देश है जिसने स्वयं धर्म मार्ग पर चलते हुए दूसरों को धर्म मार्ग पर बढ़ना सिखाया। हमारी भारतीय संस्कृति प्राण लेने की नहीं, अभय देने की रही है जिसने शरण में आए अपने शत्रुओं को भी क्षमा किया है। सेवा, क्षमा, वात्सल्य, मैत्री, अहिंसा जैसे महान् शब्दों का प्रादुर्भाव इसी भूमि से हुआ है। रणभूमि में लड़ रहे हैं तो सामने वाला शत्रु है यह समझ उन्हें खदेड़ा भी है और अतिथि बनकर द्वार पर आए तो उनका आदर-सम्मान-सत्कार भी किया है इतनी उदार और महान् रही है भारत की संस्कृति।

तभी तो स्तुतिकर्ताओं के कोटि-कोटि स्वरों ने भावगलित हो भारत की गौरव गाथा को कहा है, उसके संस्कार और संस्कृति के संरक्षण का प्रयास किया है और भारत की धर्म-प्राणता, महापुरुषों की जन्मभूमि, उदार व अहिंसक संस्कृति के कारण दिगम्बर आचार्य भगवन् श्री धरसेन स्वामी ने इसे प्रणाम भी किया-

भारतं मे प्रियं राष्ट्रं, भारतं हितकारकं।
भारताय नमः तस्मै, यत्र मे पूर्वजां स्थिताः॥

ऐसे धर्म के सम्यक् संस्कार जहाँ से प्राप्त हुए वह भारत भूमि है और धर्म के ये संस्कार सुख-शांति के कारण हैं।

संस्कारवान् व्यक्ति की कृति, उनका आचरण संस्कृति कहलाती है। संस्कारों को सुरक्षित रखने की पद्धति संस्कृति कहलाती है। संस्कृति वहीं जीवंत है जिनके संस्कार सुरक्षित आचरित हैं। संस्कृति बचाने के लिए संस्कारों का संरक्षण आवश्यक है। मानव, महामानव तब बन सकता है, जब वह सुसंस्कारों से सुसंस्कृत बन जाता है। सफलता के शीर्ष स्थान पर पहुँचने के लिए संस्कारों का योगदान महत्त्वपूर्ण है।

एक दिन एक सुंदरी नवयुवती मिट्टी के घड़े में पानी लेकर नदी से आ रही थी। उसी समय सुंदरी के पैर के नीचे दबी पड़ी हुई मिट्टी अपमानित रुंद स्वर से सुंदरी के सिर पर स्थित घड़े की मिट्टी से पूछती है कि मेरी और तेरी एक ही जाति होने पर भी तेरा स्थान सुंदरी के सिर पर है और मेरा स्थान सुंदरी के पैर के नीचे क्यों? नव घड़े की मिट्टी स्वाभिमानपूर्वक मंद स्वर से कहती है मेरे को सिर पर आने के लिए अनेक प्रकार से संस्कार रूप यातनाएँ सहन करनी पड़ी। जैसे कुम्हार पहले मुझको खोदकर लाया फिर कूट-पीट तथा छानने के बाद पानी डालकर रोंदा, फिर चक्र में रखकर घुमाया, चीवर से काटा, लकड़ी के फलक से पीटा तथा आग की भट्टी में तपाया। इसी प्रकार अनेक संस्कारों से सुसंस्कृत होने के कारण सुंदरी के सिर पर बैठी हूँ। कहने का आशय यह है कि जिस प्रकार मिट्टी जब तक संस्कारित नहीं होती तब तक पद्दलित रहती है, उसी प्रकार मानव जब तक सुसंस्कार से रहित होता है तब तक दीन-हीन पद्दलित रहता है परंतु जब वह सुसंस्कारित हो जाता है तब महान्-पूज्यनीय हो जाता है।

और संस्कारवान् व्यक्तियों द्वारा किए गए महान् कार्य ही संस्कृति कहलाते हैं। पूर्वजों द्वारा जो महान् कार्य किए गए वे ही आज संस्कृति के रूप में हैं।

मानव जीवन में बाल्यावस्था का संस्कार जीवन को अधिक प्रभावित करता है। बालकों को प्रारंभ से ही धर्म के संस्कार दें, विद्यालयों में भी अच्छी जीवन शैली, परिवार, समाज, राष्ट्र के प्रति दायित्वों को निभाने के संस्कार दिए जाएँ, यह सब धर्म के अंतर्गत ही आता है अत: धर्म के ये संस्कार प्रारंभ से ही दिए जाएँ इसी से सुख-शांति की स्थापना हो सकती है, इसी से आत्म कल्याण किया जा सकता है और इसी से संस्कृति का संरक्षण किया जा सकता है।

हितोपदेशी

सो उवएसगो जोग्गो, समत्थो अणुकंपिदुं।
हिअये वि पहाणोव्व, धम्म-वीयं ववेज्ज जो॥७७॥
देसणा होज्ज साहूणं, रट्ठ-संतीइ कारणं।
जस्सिं खेत्तम्मि णो साहू, विणासुवद्दवो सया॥७८॥

अर्थ:-वही योग्य उपदेशक है जो स्व-पर का हित करने में समर्थ हो, पाषाण के समान हृदय में भी जो धर्म का बीज संवर्द्धित करने में समर्थ हो। क्योंकि साधुओं की देशना निश्चय से राष्ट्र शांति का कारण है। जिस क्षेत्र में साधु नहीं होते वहाँ सदा विनाश व उपद्रव होता है।

Preachings of saints are surely the cause of the peace of the Nation. Where there is no saint, there terror reigns. He is a capable preacher who is able to do good of others and himself and who is able to sow the seed of religion even in the heart like hard stone.

भावार्थ:-उपदेश दो प्रकार का दिया जाता है एक सम्यक् उपदेश धर्मोपदेश व दूसरा मिथ्या उपदेश, एक उपदेश के माध्यम से व्यक्ति का हित किया जा सकता है तो दूसरा उपदेश उसके अहित का कारण भी बन सकता है। एक उपदेश व्यक्ति को समीचीन मार्ग पर अग्रसर कर सकता है तो दूसरा उपदेश उसे गलत या मिथ्या मार्ग पर भी अग्रसर कर सकता है।

आचार्य भगवन् श्री पूज्यपाद स्वामी, सर्वार्थसिद्धि में धर्म व मिथ्या रूप से उपदेश दो प्रकार के कहते हैं-

धर्म-कथाद्यनुष्ठानं धर्मोपदेशम्-धर्म कथा आदि का अनुष्ठान करना धर्मोपदेश है।

अभ्युदय निःश्रेयसार्थेषु क्रियाविशेषेषु अन्यस्यन्यथाप्रवर्त्तनमति-संधापनं वा मिथ्योपदेशः।

अभ्युदय और मोक्ष की कारणभूत क्रियाओं में किसी दूसरे को विपरीत मार्ग में लगा देना या मिथ्यावचनों द्वारा दूसरों को ठगना मिथ्योपदेश है।

धर्म का उपदेश ही योग्य है और जो व्यक्ति को अधर्म के मार्ग पर लगा दे, उसकी अवनति या पतन का कारण बने, पाप का कारण बने, व्यक्ति का अहित कर दे, गलत राह पर अग्रसर करे, वह अयोग्य उपदेश की श्रेणी में आता है और इस प्रकार का अयोग्य उपदेश देना निषिद्ध है। आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी पंचाध्यायी में कहते हैं।

यद्वादेशपदेशौ स्तो तौ द्वौ निरवद्यकर्मणि।
यत्र सावद्यलेशोऽस्ति तत्रादेशो न जातुचित्॥

वे आदेश और उपदेश दोनों ही निर्दोष क्रियाओं में ही होते हैं किंतु जहाँ पर पाप की थोड़ी सी भी संभावना है वहाँ पर कभी भी आदेश की प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

उपदेशक के द्वारा सम्यक् व योग्य उपदेश ही दिया जाना चाहिए। उपदेशक का हृदय दया व करुणा से भरा हो। हित का विचार कर ही उपदेश दे। स्याद्वाद मंजरी में किसी शिष्य ने प्रश्न किया कि यदि अविवेक की प्रचुरता से किसी को जिनेंद्र भगवान् के वचनों में रुचि नहीं होती तो आप उसे क्यों उपदेश देने का परिश्रम उठाते हो। उत्तर दिया कि परोपकार स्वभाव वाले महात्मा पुरुष किसी पुरुष की रुचि और अरुचि को न देखकर हित का उपदेश करते हैं। क्योंकि महात्मा लोग दूसरे के उपकार को ही अपना उपकार समझते हैं। हित का उपदेश देने के समान दूसरा कोई पारमार्थिक उपकार नहीं है।

–परंतु यह हितोपदेश भी पात्रता के अनुसार दिया जाना चाहिए वरना यह स्वयं के अहित का कारण भी बन सकता है। कहा भी है–

सीख ताहि को दीजिए, जाको सीख सुहाय।
बंदर सीख क्या दीजिए, घर बया को जाय॥

एक बार बया पक्षी ने बंदर से कहा-

मानव जैसे हाथ पैर, मानव जैसी काया।
चार माह निकल गये ग्रीष्म काल के छप्पर तक नहीं बनाया॥

बंदर बोला अच्छा ! मुझे सीख देने के लिए आयी, चाची कहीं की। वह पानी में भींगता रहा जैसे ही पानी बंद हुआ बया की डाली पर आया और उसके घौंसले को फेंक दिया। मुझे सिखाती हो।

इसलिए कहा यदि तुम किसी अनाडी को सीख दोगे तो वह तुम्हारे जीवन में सौ दोष निकालेगा इसलिए उपदेश योग्य को ही दिया जाना चाहिए।

कुरल काव्य में आचार्य श्री तिरुवल्लुवर स्वामी ने कहा-

ज्ञान चर्चा तु कर्त्तव्या विदुषामेव संसदि।
मौर्ख्ये च दृष्टि-माधाय वक्तव्यं मूर्खमण्डले॥

बुद्धिमान् और विद्वान् लोगों की सभा में ही ज्ञान और विद्वत्ता की चर्चा करो, किंतु मूर्खों को उनकी मूर्खता का ध्यान रखकर ही उत्तर दो।

श्री अमितगति श्रावकाचार में भी कहा है-

अयोग्यस्य वचो जैनं जायतेऽनर्थ हेतवे।
यतस्ततः प्रयत्नेन मृग्यो योग्यो मनीषिभिः॥

अयोग्य पुरुष को जिनेंद्र का वचन अनर्थनिमित्त होता है इसीलिए पण्डितों को योग्य पुरुषों की खोज करनी चाहिए।

ग्रंथकार यहाँ उपदेशक के लक्षण को बताते हैं कि वह अपने हित के साथ-साथ दूसरे का हित करने में समर्थ हो। जो स्वयं आदर्श

रूप हो वही दूसरों के लिए आदर्श बन सकता है। जो स्वयं का हित करने में समर्थ हो वही दूसरों का हित कर सकता है। गांधी जी ने कहा था कि-जिस मार्ग पर मैं चलता हूँ उसी पर चलने को कह सकता हूँ, जिस मार्ग पर मैं नहीं चलता उसके लिए कैसे कह सकता हूँ? अत: पहले उपदेशक स्व हित करने में समर्थ हो।

स्व-आदर्श के बिना दूसरे को आदर्श बनने का उपदेश सफल नहीं हो सकता। एक लड़का बीमार हुआ वैद्य ने उसको गुड़ छोड़ने के लिए कहा। पर वह लड़का गुड़ छोड़ने को तैयार नहीं हुआ। माता-पिता के अत्यंत प्रयास करने के बाद भी उसने गुड़ नहीं छोड़ा। वह माँ अपने बेटे को गाँधी जी के पास लेकर आई और बोली कि-आप इससे कह दें ये गुड़ छोड़ दे क्योंकि गुड़ इसके स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। गाँधी जी ने कहा कल आना। वह अगले दिन आयी तो गाँधी जी ने पुन: कहा चार दिन बाद आना। वह आयी तो गाँधी जी ने पुन: कहा 15 दिन बाद आना। वह 15 दिन पश्चात् आयी तो गाँधी जी ने कहा "बेटा गुड़ आपके स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है, गुड़ मत खाना।" जब यह बात माँ ने सुनी तो बोली गाँधी जी यदि यही कहना था तो पहले ही क्यों नहीं कहा? गाँधी जी ने कहा कि पहले मैं स्वयं गुड़ खाता था और स्वयं गुड़ खाते हुए मैं दूसरे को गुड़ छोड़ने का उपदेश कैसे दे सकता था।

यदि स्वयं गलत कार्य करते हुए कोई पिता अपने पुत्र को उस गलत कार्य को छोड़ने को कहे तो वह कैसे मानेगा ? इसलिए जैन दर्शन में, धर्म में स्व-उद्धार को प्राथमिकता दी और पर उद्धार को द्वितीय स्थान दिया है। जो दीपक प्रज्ज्वलित है वही दूसरे दीपकों को जलाने में समर्थ है।

व्यक्ति की वाणी से ज्यादा प्रभाव उसके आचरण का पड़ता है। स्वयं का हित करते हुए, अच्छे कार्य करते हुए यदि सामने वाले को

उसका उपदेश दिया जाता है तो निःसंदेह सामने वाले पर अधिक प्रभाव पड़ता है। अतः यहाँ ग्रंथकार ने उपदेशक का प्रथम लक्षण स्व-पर के लिए हितकारक कहा।

दूसरी बात कही कि दूसरे के पाषाण के समान हृदय में भी धर्म का बीज संवर्द्धित करने में समर्थ हो। उपदेश उपकार, कल्याण, हित की भावना से दिया जाता है। स्याद्वाद मंजरी में कहा भी है-

न च हितोपदेशादपरः पारमार्थिकः परार्थः।

हित का उपदेश देने के बराबर दूसरा कोई पारमार्थिक उपकार नहीं है।

आचार्य भगवन् श्री पूज्यपाद स्वामी कहते हैं-

सर्वसत्त्वानुग्रहार्थो हि सतां प्रयासः।

सज्जनों का प्रयास सब जीवों का उपकार करने का है और करुणा बुद्धि से उपदेश देना मुनियों का कर्त्तव्य भी है। आचार्य भगवन् श्री शिवकोटि स्वामी मूलाराधना में कहते हैं-

आदपरसमुद्धारो आणावच्छल्लदीवणा भत्ती।
होदि परदेसगते अव्वोच्छित्ति च तित्थस्स॥

उपदेश देना आत्मा पर समुद्धार, जिनेश्वर की आज्ञा का पालन, वात्सल्य प्रभावना व तीर्थ की अव्युच्छित्ति में कारण है।

उपदेशक का उपदेश व्यक्ति के हृदय तल का स्पर्श करने वाला हो। ज्ञानांकुर के प्रस्फुटन में सच्चे गुरुओं का उपदेश भी एक आधार है। सत्गुरुओं के सदुपदेश भ्रमित हो रहे प्राणियों को सम्यक् राह की प्राप्ति हेतु एक सहारा हैं। यथार्थ की प्रतीति से भ्रम की निद्रा भंग होकर-उन्मीलित नेत्र संभलने का प्रयास करते हैं। सद्गुरु की वाणी पाषाण रूप हृदय में भी झरने के समान बहकर भव्य जीवों के हृदय

में धर्मांकुरों का स्फुटन करने में समर्थ है। गुरु वाणी व्यक्ति को गुरु अवस्था तक ले जाने में समर्थ होती है।

अतः योग्य उपदेशक वही है जो धर्म का उपदेश देने में एवं स्व-पर कल्याण में समर्थ हो तथा हृदयों को धार्मिक भावनाओं से परिपूरित कर सके। विश्व शांति के इस महायज्ञ में सद्गुरुओं की, उपदेशकों की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। उनके उपदेश लोगों को सम्यक् राह पर चलने को प्रेरित करते हैं। अपने उपदेशों से अहिंसा का ध्वज लिए चलने वाले साधु शासन, प्रशासन, राजा, प्रजा सभी को हित में संलग्न करने हेतु प्रयासरत हैं। इसीलिए तो राजाओं ने भी गुरु स्वीकार किए और जिन्होंने गुरुओं को स्वीकार कर, उनका अनुसरण किया है उनके कथनानुसार आचरण किया है उन्होंने जीवन में उन्नति ही करी है।

जिस क्षेत्र में साधु नहीं होते वहाँ सदा आतंक व उपद्रव होते रहते हैं। जब-जब भी देश पर संकट के बादल मँडरायें हैं तब-तब साधुओं ने अपने तप-साधना के माध्यम से उनको दूर किया है। दिगंबर संयमी साधकों के संसर्ग से प्रकृति भी आनंदित हो उठती है। सूखे कूप नीर से परिपूर्ण हो जाते हैं, फलहीन वृक्ष फल-फूलों से युक्त हो जाते हैं और जन्मजात बैरी भी शत्रुता त्याग प्रेम से रहते हैं। सौम्य शांत मुद्रा धारी साधु जहाँ नहीं होते वह क्षेत्र नाना उपद्रवों से सदा आतंकित रहता है। जबकि उनकी उपस्थिति उनका उपदेश प्रेम, सुख, शांति को संवर्द्धित करता है।

प्राचीनकाल की भाँति आज भी देश में विचरण कर रहे सम्यक् उपदेशक या सत्गुरु अपने उपदेशों के माध्यम से लोगों के सम्यक् हृदय परिवर्तन करने में समर्थ हैं जो परिवार, समाज, राष्ट्र, राज्य देश के प्रति भी उनको उनके दायित्वों का समीचीन बोध कराते हैं और

स्वयं आत्महित में लगे हुए सभी को आत्महित का उपदेश देते हैं। उनके ये सम्यक् उपदेश जन-जन के कल्याण व राष्ट्र शांति की स्थापना में निमित्त हैं।

संत समागम

जस्सिं खेत्तम्मि विज्जंते, वदी चागी दियंबरा।
तस्सिं दया सुहं संती, णियमेण पवड्ढदे॥७९॥

अर्थ:-जिस क्षेत्र में व्रती, त्यागी, दिगम्बर विद्यमान होते हैं उस क्षेत्र में दया-सुख-शांति नियम से वृद्धि को प्राप्त होती है।

Where self-restrained, vowers and Digamber saints exist, compassion, peace and happiness increases surely at that place.

भावार्थ:-श्री ऋषभदेव तीर्थंकर से आज तक साधु व समाज की अविच्छिन्न, अव्याबाध रूप से परिपाटी चली आ रही है। कभी इसका ह्रास भी हुआ तो कभी उन्नति भी हुई। तिलोयपण्णत्ति में लिखा है कि चौबीस तीर्थंकरों के बीच सात बार साधुओं की यह परिपाटी छूटी इसीलिए उस समय धर्म की व्युच्छित्ति हुई और कुछ विकृतियाँ आ गईं। जब तक दीक्षा-शिक्षा की परिपाटी समाज में चलती रहेगी तब तक धर्म भी चलता रहेगा और जब तक धर्म चलता रहेगा तब तक सुख व शांति नियम से रहेगी।

षष्टम काल दुखमा-दुखमा जिसमें सुख और शांति का नाम मात्र भी नहीं होगा क्योंकि तब चतुर्विध संघ मुनि-आर्यिका-श्रावक-श्राविका भी नहीं रहेंगे, धर्म भी नहीं रहेगा। चारों ओर दु:ख ही दु:ख, हिंसा ही हिंसा होगी। आचार्य समंतभद्र स्वामी ने कहा है 'न धर्मो धार्मिकै र्विना'', धार्मिक के बिना धर्म नहीं होता है।

तब क्या धर्म नष्ट हो जाता है? नहीं, धर्म तो अनादि है, अखंड है। वस्तु स्वभाव नष्ट नहीं होता, पर उसके द्वारा, उसके आचरण से मुक्त होने की, जीवन सफल बनाने की परिपाटी खत्म हो जाती है। तब पुन: उसकी व्यवस्था कैसे हो? इसके लिए आचार्य भगवन् श्री रविषेण स्वामी ने कहा-

आचाराणं विघातेन, कुदृष्टिनां च संपदाम्।
धर्मग्लानिपरिप्राप्ति, मुच्छ्रयन्ते जिनोत्तमाः॥

जब-जब आचार-विचार में हीनता आने लगती है, दोष आने लगते हैं, आचार-विचार का विघात होने लगता है तो मिथ्यादृष्टि जीवों का बाहुल्य होता है, मिथ्यादृष्टियों की संख्या बढ़ती है। धर्म में मलिनता आने लगती है, परिस्थितियाँ मलिन होने लगती हैं, समाज मलिन हो जाता है, धर्म में ग्लानि हो जाती है तब पुनरपि उसे प्रक्षालित करने हेतु तीर्थंकर का जन्म होता है। मुक्तात्मा तो वापिस आ नहीं सकती, कोई भव्य कोई महान्-पुरुष जन्म लेकर धर्म को प्रक्षालित करता है।

गीता में कहा है-

यदा-यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारतः।
अभ्युत्थानां धर्मस्य, तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

श्री अकलंक देव स्वामी ने कहा है कि अनुकंपापूर्ण आचार्यों ने इस धर्मतीर्थ को चलाया।

तीर्थंकरों ने जिन सिद्धांतों का, तत्त्वों का अनुभव किया और बताया, आचार्यों ने उनका उपवृहण किया। आचार्य साधु उनके बताए धर्म तीर्थ को आगे बढ़ाते हैं। जिस प्रकार गाड़ी का निर्माण कोई और करता है तथा चलाने वाला कोई और होता है उसी प्रकार तीर्थंकर धर्म तीर्थ के कथंचित् निर्माता हैं और आचार्य या साधु उनके चलाने वाले हैं। जैसे ड्राईवर के हाथ में गाड़ी व गाड़ी में बैठने वालों की सुरक्षा है वैसे ही साधुओं पर धर्म तीर्थ की और उसके सहारे चलने वाले समाज की सुरक्षा अवलंबित है।

बूँद-बूँद से सागर बनता है। यदि एक बूँद को सागर से अलग कर दिया जाए तो सूरज उस बूँद को शीघ्र सुखा देता है और बूँद सिंधु

से मिलकर रहे तो दो सूर्य भी सागर को नहीं सुखा सकते इसी प्रकार जो समाज से, धर्म से कटकर रहेगा वह सूख जाएगा और बिंदु को सिंधु से जोड़ने का अर्थात् मानव को समाज को धर्म सहित जीने का मार्ग साधु प्रशस्त करता है।

जैसे नदी के दो तट होते हैं उसी प्रकार धर्म के दो तट साधु-साध्वी व श्रावक-श्राविका हैं। इनके बीच प्रवाहित होता हुआ धर्म मोक्ष प्राप्त करा देता है, सिद्धालय तक पहुँचा देता है।

गुरु कौन हैं इस पर आचार्य महाराज कहते हैं-

निरम्बरो निरारम्भो नित्यानंद पदार्थिनाम्।
धर्मदिक् कर्मधिक् साधुर्गुरुरित्युच्यते बुधैः॥

जो वस्त्र रहित (निर्ग्रंथ दिगंबर) हैं, आरम्भ रहित हैं, शाश्वत आनंददायक मोक्ष पद का इच्छुक है, धर्म का उपदेशक है और कर्म को धिक्कृत करने वाला है वह साधु सत्पुरुषों के द्वारा गुरु कहा जाता है।

धर्मज्ञो धर्मकर्ता च सदा धर्म परायणः।
सत्त्वानां धर्मशास्त्रार्थ-देशको गुरुरुच्यते॥

जो धर्मज्ञ है, धर्म का कर्ता है, सदा धर्म में तत्पर रहता है तथा जीवों को धर्म शास्त्र के अर्थ का उपदेश देता है, वह गुरु कहलाता है।

श्रुतमविकलं शुद्धा वृत्तिः परप्रतिबोधने,
परिणतिरुरोद्योगोमार्गप्रवर्तन सद्विधौ।
बुधनुतिरनुत्सेको लोकज्ञता मृदुताऽस्पृहा,
यतिपतिगुणा यस्मिन्नन्ये च सोऽस्तु गुरुः सतां॥

पूर्ण श्रुतज्ञान, निर्दोष आचरण, दूसरों को संबोधित करने में तत्परता, मार्ग प्रवृत्ति के समीचीन कार्यों में अत्यधिक उद्योग, बुधजनों

के प्रति विनम्रता, अहंकार का अभाव, लोक व्यवहार का ज्ञान, कोमलता और मान-प्रतिष्ठा आदि की अनाकांक्षा ये मुनिराज के गुण तथा अन्य आवश्यक गुण जिसमें हों वही सत्पुरुषों का गुरु हो सकता है।

एक कवि ने कहा है चन्द्रमा रात में प्रकाश प्रदान करता है, सूर्य दिन में प्रकाश देता है लेकिन साधु चौबीस घंटे, दिन और रात रोशनी देते हैं।

जैसे सिंधु व बिंदु का अविनाभावी सम्बंध है वैसे ही समाज व साधु का संबंध है। जहाँ साधु हैं, त्यागी हैं, व्रती हैं वह समाज आदर्श रूप होगा, वह देश को, संस्कृति को उन्नतिशील बनायेगा। इसलिए साधु का निर्माण करना चाहिए।

पं. आशाधर सूरि ने सागारधर्मामृत में कहा है कि सज्जन पुरुषों व धर्मात्माओं को दीक्षा के लिए प्रेरित करो। जिस प्रकार वंश चलाने के लिए पुत्र की आवश्यकता होती है उसी प्रकार समाज चलाने के लिए साधुओं की आवश्यकता होती है। यदि समाज को आदर्श रूप देखना चाहते हैं तो साधुओं का समाज में होना आवश्यक है।

जब तक समाज व साधु का संबंध है तब तक समाज बंधा हुआ है, दोनों का एक-दूसरे पर अनुशासन है। जब इसका संबंध टूट जाएगा तो समाज बिखर जाएगी, राष्ट्र में सुख-शांति न रह सकेगी। जहाँ साधु संत रहते हैं वहाँ नियम से सुख-शांति रहती है, सूखे पेड़ों पर फल-फूल आ जाते हैं, सूखे तालाबों में भी पानी आ जाता है। जब तक समाज में, राज्य में, देश में साधु-संत सुरक्षित हैं तब तक वह समाज राज्य और देश भी सुरक्षित है। भव्य प्रमोद में कविवर लिखते हैं।

शुष्क तालाब भरे जलसों फल, फूल छहौं ऋतु के फलि जावै,
शेरनि दूध पिलावत गोसुत, नाहर के सुत गाय चुखावै।

मूसक नौल भुजंग बिलाव, मयूर परस्पर प्रेम बढ़ावै,
राग विरोध विवर्जित साधु, जहाँ निवसै सब आनंद आवै॥

यशस्तिलक चंपू में आचार्य श्री सोमदेव सूरी कहते हैं-

पद्मिनी राजहंसश्च, निर्ग्रंथाश्च तपोधनाः।
यं देशमुपसर्पन्ति, सुभिक्षं तत्र निर्दिशेत्॥

पद्मिनी नारी, राजहंस पक्षी, निर्ग्रंथ साधु जिस देश में भी विहार करते हैं उस देश में सदा सुभिक्ष रहता है।

राष्ट्रधर्म-जैनधर्म

सव्व-हियंकरो धम्मो, सव्व-अप्पाण सुप्पियो।
रहिदो पक्खवायेणं, मोक्ख-पदस्स कारणं॥८०॥
अहिंसा जस्स आहारो, अप्प-गुणाण पोसगो।
विण्णाणीहिं गिहीदो जो, जिण-धम्मो महो जगे॥८१॥
अणुव्वय-जुदं होज्जा, वसण-हीण-जीवणं।
रट्ठ-धम्मस्स जोग्गो सो, वर-लक्खण-संजुदो॥८२॥

अर्थ:-जो धर्म सबका हितंकर है, पक्षपात से हीन है, सबमें आत्मा ही प्रिय है, शाश्वत सिद्धपद का कारण है। जिसका मूलाधार अहिंसा है, जो आत्मा के गुणों का सुपोषक है, जिसे विज्ञानियों के द्वारा ग्रहण किया गया है वह जिन धर्म जग में महान है। जहाँ जीवन व्यसन से हीन हो और अणुव्रतों से युक्त हो ऐसे श्रेष्ठ लक्षणों से युक्त धर्म, राष्ट्र धर्म होने के योग्य है।

That religion which is benevolent, impartial, where every soul is considered loving, is the cause of being liberated, where non violence is the root, which nurtures the qualities of the soul that is obtained by the scholars of Jina Dharma is the greatest in the world. Where life is free from bad addiction or habits and endowed with vows, religion with these characteristics is capable of becoming national-religion.

भावार्थ:-प्राचीन भारत के धर्मप्राण-जीवन से तुलना करने पर तत्कालीन जीवन धर्म प्रभाव से शून्य सा प्रतीत होता है। जिस धर्म से अपवित्रता परिहार और पवित्रता का आधान किया जाता है, जो दयारूप जल से सिक्त है, इच्छितों का प्रसापिता है, उस धर्म-कल्पवृक्ष की स्थापना अपने-अपने हृदयों में करना लोग विस्मृत करते जा रहे

हैं। यदि प्रत्येक मानव के मानस-नेत्रों के समक्ष धार्मिकता का 'स्मरण-पत्र' नहीं रखा गया, तो संसार निकट भविष्य में रहने योग्य नहीं रह जायेगा। आने वाली संतानें अपने पूर्वजों पर गर्व कर सकें और धर्म को समादर की दृष्टि से देख पाएँ इसको संस्कारित करने का समय वर्तमान है। शास्त्रकारों ने कहा है-

बावत्तरी-कल-कुसला पंडिय पुरिसा अपंडिया चेव।
सव्व कलाण वि पवरं जे धम्मकलं ण जाणंति॥

यदि कोई बहत्तर कलाओं में कुशल है किंतु धर्म-कला में अकुशल है तो वह चाहे पंडित हो या अपंडित हो, निष्फल है। क्योंकि कला तो उज्ज्वलता, कुशलता और आह्लादकता का नाम है। धर्म रहित कलायें तो नट विद्या हैं।

यदि जीवन धर्म से जुड़ जाए या धर्म को आत्मसात् किया जाए तो वह जीवन मंगलमय बन सकता है। जब तक व्यक्ति के मन में धर्म है तब तक वह मारने वाले की भी रक्षा करता है वरना अपने पिता-पुत्र संबंधियों को भी मार डालता है। अतः धर्म ही सबका मंगल करने वाला है। धर्म को निरूपित करते हुए आचार्यों ने कहा है-

अहिंसा सत्यमस्तेयमकामक्रोध-लोभता।
भूतप्रेमहितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः॥

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, अकुशीलता, क्षमा, निर्लोभता, प्राणीमात्र से प्रेम और प्राणिमात्र के हित की चेष्टा यह सर्व वर्ण वालों का धर्म है।

धर्म के समान मनुष्य के लिए कोई हितकारी नहीं है। यह धर्म माता के समान हितकारी है। धर्म समीचीन दिशा प्रदान करता है। जिससे किसी प्राणी का अहित हो, अमंगल हो उसे धर्म की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता।

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं पणमंति, जस्स धम्मे सया मणो॥

धर्म परम मंगल है और उत्कृष्ट है किंतु कौन सा धर्म? अहिंसा धर्म, संयम व तपरूप धर्म। जिस भव्यात्मा का मन इनमें सदा लीन रहता है उसे देवता भी नमस्कार करते हैं। इन गुणों को अपनाकर अनगिनत लोगों ने अपना मार्ग प्रशस्त किया है और अन्य कई लोगों को सन्मार्ग पर लगाकर उनका भी हित किया है।

एक बड़ी वैज्ञानिक बात ग्रंथों में कही "धर्मं यो न बाधते धर्मः।" धर्म कभी दूसरे धर्म को बाधा नहीं पहुँचाता। धर्म कभी झगड़ा नहीं करता। धर्म, धर्म को नुकसान नहीं पहुँचा। अग्नि, अग्नि को नुकसान नहीं पहुँचाती, अंधेरा, अंधेरे को व प्रकाश, प्रकाश को नुकसान नहीं पहुँचाता। अधर्म और धर्म में विवाद उत्पन्न होता है धर्म जोड़ता है, अधर्म तोड़ता है। जितने भी इस दुनिया के टुकड़े हुए, दुःख और अशांति फैली वह सब अधर्म के कारण हुआ है। अज्ञानता में लोग कहते हैं कि धर्मों ने लड़ाई लड़वाई।

अग्नि से दीया जलाकर कोई भगवान की आरती उतारे या फिर पंच पकवान बनाए और कोई उससे किसी की झोंपड़ी में आग लगा दे तो इसमें अग्नि का क्या दोष? धर्म के नाम से कोई लड़ाई लड़े, धर्म का दुरुपयोग करे तो इसमें धर्म क्या करेगा? हम हमारी दुर्भावना से एक दूसरे से लड़ाई-झगड़ा कर बैठते हैं अन्यथा धर्म कभी लड़ाई नहीं करवाता। धर्म तोड़ता नहीं, जोड़ता है। धर्म से कभी किसी का अहित नहीं होता अथवा जो सर्व हितकारी होता है वही धर्म है।

धर्म में महान शक्ति है। आचार्यों ने लिखा है कि धर्म में उधार नहीं चलता। दुकान में जाकर दुकानदार से कुछ सामान लेकर कहते हैं कि "पैसे कल दे दूँगा" तो वह उधार दे देता है किंतु धर्म में उधार

नहीं चलता। जैसे मुँह में कोई गुड़ रखकर ये सोचे कि यह गुड़ कल मिठास देगा तो ऐसा नहीं होता। मुँह में गुड़ रखते ही उसकी मिठास का अनुभव होने लगता है। इसी तरह से धर्म करते ही उसका फल मिलता है। यह नि:श्रेयस व अभ्युदय दोनों सुखों को देता है।

विद्या तपो धनं शौर्यं कुलीनत्वमरोगिता।
राज्यं स्वर्गश्च मोक्षश्च सर्वं धर्मादवाप्यते॥

विद्या, तप, धन, शूरवीरता, कुलीनता, निरोगता, राज्य, स्वर्ग और मोक्ष यह सब धर्म से प्राप्त होता है।

धर्म सर्व प्राणियों का हित करने वाला होता है और पक्षपात से रहित होता है। जिस प्रकार नदी अपना जल किसी को जबरदस्ती बुलाकर नहीं देती और कोई लेने आए तो उसे मना नहीं करती, अपनी शीतलता समान रूप से सबके लिए रखती है उसी प्रकार जो व्यक्ति धर्माचरण करता है वह उसी के लिए मंगलमय होता है। धर्म किसी वर्ण, जाति या संप्रदाय से बंधा नहीं होता अपितु जो उसके सिद्धांतों को जीवन में चरितार्थ कर लेता है उसी के लिए कल्याणकारक हो जाता है।

आगे कहा जिसमें आत्म तत्त्व की मुख्यता हो क्योंकि आत्मा नित्य है यह कभी नाश को प्राप्त नहीं होती। जब तक यह आत्मा संसार चक्र में भ्रमण करता है तब तक नाना पर्यायों को धारण करता है। सर्व प्रथम अपनी आत्मा का कल्याण करना चाहिए। आचार्य महाराज कहते हैं-

आदहिदं कादव्वं जदि सक्कइ परहिदं च कादव्वं।
आदहिद परहिदादौ आदहिदं सुट्ठु कादव्वं॥

पहले अपना कल्याण करो। अपना कल्याण करने वाला ही दूसरों का कल्याण कर सकता है। जो स्वयं डॉक्टरी पड़ा हो वही

मेडिकल के छात्रों को पढ़ा सकता है। जो स्वयं तैरना जानता है वही दूसरों को भी तैरना सिखा सकता है। पहले स्व कल्याण करो। हाँ! यदि संभव हो तो दूसरों के कल्याण के निमित्त बन सकते हो। जैन शास्त्र में मूल ध्येय है कि सर्वप्रथम अपना कल्याण करो, फिर यदि संभव हो तो दूसरों के कल्याण के निमित्त बनो।

वह धर्म शाश्वत सिद्ध पद को देने वाला हो। अनादिकालीन संसार चक्र को तोड़कर, कर्मों से जो मुक्त कर सके वह सम्यक् धर्म है।

धर्म का मूलाधार अहिंसा हो। मानवता का निर्माण जिस अहिंसा-प्रभृति से सुलभ है, उसका व्यवहारणीय स्वरूप अखिल रूप में जिनशासन में निबद्ध है। व्यवहार नय और निश्चय नय द्वारा अहिंसादि का पालन तथा आत्मस्वरूप-परिज्ञान-निरूपण जैनधर्म का यह विशिष्ट अमृतमार्ग है, जिसे विश्व का पूर्वाग्रहरहित कोई भी व्यक्ति मानेगा और उसकी अकाट्यता पर अपनी सहमति प्रदर्शित करेगा। बिना बैर-विद्वेष के संसार-यात्रा कैसे की जा सकती है-यह धर्म सिखाता है।

आचार्य भगवन् श्री समंतभद्र स्वामी ने स्वयंभू स्तोत्र में लिखा है-

तव जिन ! शासन विभवो
जयति कलावपि गुणानुशासन-विभवः।
दोषक शासन विभवः
स्तुवन्ति चैनं प्रभाकृशासन विभवः॥

हे महावीर भगवन् ! पंचम काल के अंतिम क्षण तक आपकी अहिंसा का, आपका प्रभाव रहेगा।

ये वे ही महावीर स्वामी हैं जिनके नाना चेटक ने जनतंत्र की नींव डाली थी। महावीर स्वामी की जन्मभूमि के विषय में राष्ट्रीय कवि दिनकर ने अपनी कविता में लिखा है कि-

वैशालीजन का प्रतिपालक, गण का आदि विधाता।
जिसे ढूँढता देश आज, उस प्रजातंत्र की माता॥
रुको एक क्षण पथिक, मिट्टी को शीश नवाओ।
राजसिद्धियों की समाधि पर, फूल चढ़ाते जाओ॥

प्रजातंत्र की माँ कोई है तो वह है भगवान महावीर की जन्मभूमि। वहीं से पैदा हुई दुनिया की जनतंत्र प्रणाली। होमेज टू वैशाली की प्रस्तावना में डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने लिखा है कि "यदि भगवान महावीर के जन्मस्थान-वैशाली के कानून को देश में लागू किया जाता तो देश की तस्वीर बदल जाती। क्योंकि भगवान महावीर स्वामी का संदेश 'जीओ और जीने दो' या अहिंसक धर्म विश्व मैत्री, सुख-शांति की स्थापना करता है।

"अहिंसा परमो धर्म:"। हमारा पहला घोषवाक्य है-अहिंसा। इसी अहिंसा के बल से महात्मा गाँधी ने पूरे देश को स्वतंत्रता प्रदान की। यही कारण है कि 2 अक्टूबर को सारा विश्व अहिंसा दिवस के रूप में मनाता है। महात्मा गांधी ने 1931 में लिखा था कि "जो भी अहिंसा पर विश्वास रखते हैं, उन सबको मैं जैन समझता हूँ।" महात्मा गांधी पर जैन धर्म का गहरा प्रभाव था। फ्राँस का रोमां रोलां नाम का एक व्यक्ति महात्मा गाँधी का मित्र था। उसने उनके सामने बैठकर एक किताब लिखी। उस किताब के दूसरे पृष्ठ पर लिखा कि "गाँधी जी के माता-पिता और परिवार वाले जैन धर्म के अनुयायी थे और तीसरे पृष्ठ पर लिखा कि जैनधर्म के नियम गाँधी जी पालते थे और जैनधर्म के गुरु से नियम लेकर ही वे विदेश गए थे।"

गाँधी जी ने अपनी माँ पुतलीबाई से विदेश जाने की अनुमति माँगी तो उन्होंने मना कर दिया क्योंकि वे शंकालु थीं कि कहीं वह विदेश जाकर माँसादि का भक्षण न करने लगे। उस समय एक जैन मुनि के समक्ष तीन प्रतिज्ञा (माँस, मदिरा, परस्त्री सेवन का त्याग) लेने पर माँ ने विदेश जाने की अनुमति दी। इस तथ्य को गाँधी जी ने अपनी आत्मकथा सत्य के प्रयोग पृ. 32 पर लिखा है।

इस युग में आज जो चारों तरफ हिंसा बढ़ रही है, इस आधुनिक परिपेक्ष्य में आज भगवान महावीर स्वामी की अहिंसा की बहुत जरूरत है। सारे सिद्धांत की यदि कोई नींव है तो वह अहिंसा है। ज्ञानी जैलसिंह जी जो भारत के राष्ट्रपति रहे उन्होंने अपने भाषण में कहा कि 'यदि इस देश में जैन ही जैन होते तो एक पुलिस चौकी भी जरूरी नहीं होती। के.के. बिरला जी ने अपने भाषण में कहा था जो मैं शाकाहारी दिखाई दे रहा हूँ, वह जैनधर्म की कृपा से है।'

जैन धर्म अर्थात् जिनों का धर्म। जिन्होंने वीतराग संस्कृति को जन्म दिया, परमश्रुत की प्रभावना से विश्व के पर: कोटि पतितों का उद्धार कर उन्हें भव्यत्व प्रदान किया, सम्यक् दृष्टि दी और भव सन्तरण का मार्गोपदेश किया, वे जिन हैं। सर्वहितकारी तीर्थंकरों के द्वारा प्ररूपित यह धर्म संपूर्ण मानवजाति के सौभाग्य से तपस्वियों की दीर्घ तप: साधना के पश्चात् पृथ्वी पुत्रों को प्राप्त हुआ था। बैर, विद्वेष, काम-वासना, कषाय-परिणति के चक्रवात में चकराते हुए मानव को इसने परित्राण और आत्मकल्याण के स्वर दिए। इस विश्व-प्राणीमैत्रीत्व ने जीवदया के मार्ग पर अतीत काल से अद्यवधि जितना हितसाधन किया है, वह इतिहास की साक्षी में अनुपम है।

स्याद्वादो विद्यते यत्र, पक्षपातो न विद्यते।
अहिंसाया: प्रधानत्वं, जैन धर्म: स उच्यते।।

जहाँ स्याद्वाद विद्यमान है, जहाँ पक्षपात नहीं है तथा जिसमें अहिंसा की प्रधानता है उसे कहते हैं जैन धर्म।

सर्वपल्ली डॉ. राधाकृष्णन ने 'इंडियन फिलॉसफी' में लिखा है कि "प्राचीन काल में ऋषभदेव की पूजा होती थी। जैनधर्म बहुत ही प्राचीन धर्म है।" पं. जवाहरलाल नेहरू ने भी 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया' में लिखा है-"जैन लोग इस देश के शत-प्रतिशत मूल निवासी थे।" जैन धर्म की प्राचीनता का इतिहास कई स्थानों से ज्ञात होता है। एक यूरोपियन लेखक कंपरेटिव रिलीजन में लिखते हैं कि इस विशाल विश्व के अंदर ऐसी कोई जगह नहीं जहाँ दिगम्बर मुनि नहीं हुए।

साहित्य चाहे कोई भी हो, किसी भी भाषा में हो किंतु जैन धर्म के बारे में कुछ न कुछ उल्लेख अवश्य मिलता है। लोकसभा के अध्यक्ष रह चुके अनंतरायनम अय्यंगार ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि 'भारत में एक ही धर्म ऐसा है जिसने रूढ़िवाद या चमत्कार को एक कोड़ी की कीमत भी नहीं दी। विज्ञान ने जो बातें सिद्ध कीं वे सब जैनधर्म में छिपी हुई हैं।

1906 में जगदीशचंद्र वसु ने अन्वेषण किया कि वनस्पतिकाय में भी जीव होता है। उन्होंने एक किताब लिखी और उसमें लिखा कि जैन धर्म के आधार पर ही यह शोध लगाया गया।

वह सिद्धांत जिसे विश्व ने और बड़े-बड़े दार्शनिकों ने मान्यता दी है वह है-जीओ और जीने दो। आदिनाथ भगवान से लेकर आज इस क्षण तक हमारी संस्कृति, हमारा इतिहास निर्मल है। किसी को मारना, पीटना, पीड़ा या दुःख देना इन सबका हमारी संस्कृति और धर्म में जरा भी स्थान नहीं है।

इंदौर के एक बहुत बड़े दार्शनिक हैं-सत्यदेव विद्यालंकार। उन्होंने 'बाबू छोटे लाल अभिनंदन ग्रंथ' में लिखा 'जैन लोगों समय रहते

अपने धर्म का प्रचार करो। क्योंकि तुम्हारा धर्म जो है वह राष्ट्र धर्म बन सकता है। उसी में राष्ट्र धर्म बनने की क्षमता है।'

विश्व प्रसिद्ध महान् वैज्ञानिक जॉर्ज अल्बर्ट आइन्स्टाईन ने कहा ''मैं नहीं जानता कि मृत्यु के पश्चात् भी जीवन है या नहीं किंतु यदि यह सत्य है कि मृत्यु के पश्चात् भी जीवन है तो मैं चाहूँगा कि मैं भारत में पैदा होऊँ वो भी जैन धर्म में।''

महात्मा गाँधी जी ने इंग्लैण्ड के प्रधानमंत्री चर्चिल को लिखा था ''मैं दिगंबर साधु बनना चाहता हूँ किंतु मैं अब तक ऐसा नहीं हो पाया हूँ।'' यह 'द लाइफ ऑफ महात्मा गांधी' नामक पुस्तक में लिखा है।

मानव का निर्माण जिस अहिंसा प्रभृति से सुलभ है, उसका व्यवहारणीय स्वरूप अखिल रूप में जिन-शासन में निबद्ध है। धर्म रहित होने से पशुवाहक पशुओं पर नाना अत्याचार करते हैं। यही स्थिति मानव समाज में अधार्मिकता से बढ़ जाती है। अधिक श्रम व अल्प वेतन, शोषण तथा उत्पीड़न ही तो है। कम तौलने वाला, झूठ बोलने वाला, मिलावट करने वाला, ठगी, चोरी और भ्रष्टाचार का अपराधी ही तो है। इस गंभीर अनैतिक स्थिति का अंत धर्म के बिना संभव नहीं। सप्त व्यसन अर्थात् माँस खाना, मद्यपान करना, जूआ खेलना, चोरी करना, शिकार खेलना, परस्त्री सेवन वेश्यावृत्ति करना इनका त्याग कर व्यक्ति अपना जीवन खुशहाल बना सकता है और पंच अणुव्रतों का पालन ही यदि मनुष्य करने लगे तो देवता स्वर्ग को छोड़कर पृथ्वी पर उतरने लगें। पंचाणुव्रत अर्थात् अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व परिग्रह परिमाण हैं।

संसार में व्याप्त इस मानसिक भ्रष्टाचार को, जो कथनी और करनी में भेद उत्पन्न करता है वह जीव भलीभाँति जानता है। पंच

अणुव्रत ही सक्षम साधन हैं। जिनके द्वारा पृथ्वी पर स्वर्ग की रचना हो सकती है, मनुष्य मनुष्यता के आनंद को प्राप्त कर सकता है। यह मनुष्य के दैनिक व आयुपर्यंतगामी व्यवहारों का मणिकोष है। मानव संसार में जिनका उपयोग होता है और सफलता की सिद्धि प्राप्त की जाती है-ऐसे अनुभूत प्रयोग सर्वथा अहिंसक, निर्बैर व स्वपर-कल्याणकारी, जो घर को आनंद मंदिर और विश्व को निरापद भूमि बना सकते हैं। पाँच अणुव्रत जीवन के अंतर्बाह्य, भौतिक, आत्मिक पक्षों को सँवारते हैं। जिन धर्म के सिद्धांतों को अपनाकर जीने वाला व्यक्ति स्वयं का जीवन स्वर्गीय अनुभव करता है।

भारत के द्वितीय प्रधानमंत्री श्री लाल बहादुर शास्त्री ने कहा कि "रिश्वतखोरी, बेईमानी, अत्याचार, भ्रष्टाचार अवश्य नष्ट हो जायें यदि हम भगवान् महावीर की सुंदर और प्रभावशाली शिक्षाओं का पालन करें बजाय इसके कि हम दूसरों को बुरा कहें और उनमें दोष निकालें। अगर भगवान् महावीर के समान हम सब अपने दोषों और कमजोरियों को दूर कर लें तो सारा संसार खुद-ब-खुद सुधर जाएगा।"

वास्तव में ऐसा धर्म जो विश्व में सुख-शांति की स्थापना कर सकता है वह है जिनधर्म के सिद्धांत, वह है अहिंसा धर्म। अहिंसामयी धर्म ही विश्व धर्म की श्रेणी में आ सकता है। यह ही राष्ट्र धर्म होने के योग्य है।

विश्वशांति की भावना

देसे गामे तहा रट्ठे, धम्मि-राय-पयाण य।
सण्णाण-जुद-धम्मेण, वंछामि सव्वदा हियं॥८३॥
होज्ज संती कुले रज्जे, पाणीणं माणवाण वि।
तवस्सि-संजयाण हु, पावीण सज्जणाण य॥८४॥

अर्थ:-मैं स्वसंवेदनात्मक ज्ञान सहित जिन धर्म से राष्ट्र में, देश में, गाँव में, साधर्मियों व राजा-प्रजाजनों के लिये हित की वांछा करता हूँ। कुल व राज्य में शांति हो, मनुष्य, प्राणी, तपस्वी, संयमी, पापी अथवा सज्जनों को सभी को शांति होवे।

I (Acharya Vasunandi) wishes peace, goodness and happiness for the nation, country, village and pious people, rulers and the subjects from Jina Religion. May every one get peace in the family, community and the state. May all the people, creatures, ascetics, self-restrained, sinners and virtuous people get peace.

भावार्थ:-यह समस्त पृथ्वी मंडल इस विशाल आकाश के नीचे समाया हुआ है। आकाश के बाहर कोई प्राणी या वस्तु नहीं है। आकाश कितना विशाल है, जिसके हृदय में सभी पदार्थ समाए हुए हैं। आकाश निर्लेप है। वर्षा हो तो आकाश नीला नहीं होता, हवा से यह सूखता नहीं, कोई शस्त्र भी इसके टुकड़े नहीं कर सकता। सब पदार्थ आकाश के नीचे रहते हैं आकाश का स्वभाव ही अवगाहन देना है, स्थान देना है, वह सभी को स्थान देता है उसी प्रकार धर्म भी सबको स्थान देता है।

प्रकृति स्वभाव से स्वतंत्र है वह किसी की स्वतंत्रता में बाधक भी नहीं है। पर मानव ने अपने लिए अनेक बंधन बाँध लिए हैं, अपने शरीर को ही नहीं मन व आत्मा को भी इसने गुलाम बना रखा है।

आध्यात्मिक विद्या या धर्म से ही आत्म-स्वातन्त्र्य की प्राप्ति हो सकती है और धर्म केवल मानव के लिए ही नहीं है, धर्म प्राणी मात्र के लिए है, सार्वभौम है। भगवान् महावीर स्वामी के धर्मतीर्थ को प्रवाहित करते हुए आचार्य श्री समंतभद्र स्वामी ने युक्त्यानुशासन में कहा है-

सर्वान्वत्तद्गुणमुख्यकल्पं, सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वपदामन्तकरं निरंतं, सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव॥

हे तीर्थंकर महावीर ! आपका धर्मतीर्थ प्राणीमात्र का कल्याण करने वाला है-सर्वोदयी है। जिसमें सामान्य विशेष, द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक, अस्ति नास्ति रूप सभी धर्म गौण व मुख्य रूप से रहते हैं, ये सभी धर्म-धर्मी में परस्पर सापेक्ष है अन्यथा द्रव्य में कोई धर्म या गुण नहीं रह पाएगा। तथा यह सभी की आपत्तियों को दूर करने वाला है और किसी मिथ्या एकांतवाद से इसका खंडन नहीं हो सकता अतः आपका यह धर्म तीर्थ-सर्वोदय तीर्थ कहलाता है।

जैसे तुलसी वनस्पति का पत्ता है वह किसी जाति, मनुष्य या प्रांत विशेष को लाभ नहीं देता, वह सबको समभाव से लाभान्वित करता है। वनस्पति में समभाव है वह अपना धर्म परिवर्तित नहीं करती, सबका हित समान रूप से करती है। प्रायः सब पदार्थों में सबके कल्याण की भावना निहित है। पशुओं में भी देखें तो गाय का दूध सबको समान रूप से शक्ति प्रदान करता है। श्री समंतभद्र स्वामी ने इसीलिए कहा-हे महावीर स्वामी ! इसी प्रकार आपका धर्म प्राणीमात्र के लिए समान रूप से उपयोगी है। आपका अहिंसामय, सत्यमय, वात्सल्यमय धर्म ही सार्वभौम है, सर्वकल्याणकारी है। आपका सर्वोदयी सिद्धांत तीन लोक के सब प्राणियों से मित्रता रखने की शिक्षा देता है। आपका धर्म तीर्थ अनादि काल से चलता आ रहा है, भेदभाव को इसमें कोई स्थान नहीं है।

भगवान् महावीर स्वामी के धर्मतीर्थ में, सभी के लिए मंगल भावनाएँ भायी गयीं। ग्रंथकार भी यहाँ सभी के कल्याण की भावना भाते हैं। यह उनकी उदारता का ही प्रतीक है जो सबके मंगल की कामना करते हैं। राजा, प्रजा, देश, राष्ट्र, राज्य, कुल, संयमी, तपस्वी, पापी, सज्जन, धर्मात्मा अथवा प्रत्येक प्राणी एकेंद्रिय से पंचेंद्रिय तक सभी को सुख व शांति हो?

इनकी दृष्टि विशाल है, यह नहीं कि मैं सुखी रहूँ, चाहे कोई और सुखी रहे या नहीं। ऐसे में कोई जीवित नहीं रह सकता। बगल की झोपड़ियों को आग लग गई हो तो बीच की अपनी झोपड़ी बचाने का एक ही उपाय है वह है बगल की झोंपड़ियों की आग बुझाना। प्रत्येक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति का एवं एक राज्य को दूसरे राज्य का सहयोग करना चाहिए। दृष्टि की विशालता और हृदय की उदारता भगवान महावीर स्वामी ने सबको दी। ग्रंथकार यहाँ राष्ट्र में सुख-शांति की स्थापना हेतु सभी के मंगल-क्षेम की कामना करते हैं।

आचार्य भगवन् की पूज्यपाद स्वामी ने भी कहा-

क्षेमं सर्वप्रजानां प्रभवतु बलवान्, धार्मिको भूमिपालः,
काले-काले च वृष्टिं वितरतु मघवा, व्याधयो यांतु नाशम्।
दुर्भिक्षं चौरमारिः क्षणमपि जगतां, मास्मभूज्जीव-लोके,
जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रभवतु सततं, सर्व-सौख्य-प्रदायि॥

आचार्य भगवन् ने किसी प्रान्त विशेष, देश विशेष या जाति विशेष के क्षेम के लिए नहीं कहा, सर्वप्रजा के क्षेम के लिए कहा। विशाल विश्व की समस्त प्रजा सुखी रहे। बलवान्, धर्मात्मा, राजा (भूमिपालक) सभी का मंगल हो, कल्याण हो। समय-ममय पर मंगल वृष्टि हो, सभी व्याधियों का नाश हो। इस लोक में जगत से दुर्भिक्ष, दुष्काल, मारि, चोरी आदि का भय दूर हो।

जिनशासन ने सदैव राष्ट्र हित की बात कही है और उसके मंगल की कामना की है। जिन धर्म तीर्थ सर्वोदय के भाव को लिए हुए है। जैसे सूर्य की किरण सबके लिए प्रकाशमय है वैसे ही जिनधर्म के सिद्धांत भी सबके उद्धार व अभ्युदय के लिए हैं। वस्तुतः धर्म वही है जो सबके लिए कल्याणकारी हो।

भगवान् महावीर के द्वारा प्रदत्त सिद्धांतों का चिंतन-मनन करने पर दृष्टि विशाल होती है, मन की संकीर्णता दूर हो जाती है। विश्व धर्म एक है, वह है 'अहिंसा धर्म'। धर्म ही तरण-तारण है इसके सिवा और कोई तरणतारण नहीं हो सकता। महावीर भगवान के सिद्धांतों पर चलने वाला प्रत्येक श्रावक पूजा के पश्चात् यही मंगल भावना भाता है-

संपूजकानां प्रतिपालकानां, यतींद्र सामान्य तपोधनानां।
देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञः, करोतु शांतिं भगवान् जिनेंद्रः॥
संपूजकों को प्रतिपालकों को, यतीनकों को यतिनायकों को।
राजा प्रजा राष्ट्र सुदेश को ले, कीजे सुखी हे जिन शांति को दे॥

राजा, प्रजा, पूजक, प्रतिपालक, यति, यतिनायक, राष्ट्र सबका कल्याण हो, शांति प्राप्त हो। सबके कल्याण की भावना करो। समय-समय पर जिनालयों में विश्व शांति महायज्ञ का भी आयोजन किया जाता है। सबके मंगल व शुभ की कामना के साथ भगवान की पूजन भी की जाती है।

विश्व शांति के इस महायज्ञ को पूर्ण करने में सभी लोग समर्थ हों। सभी अपने कर्त्तव्य का पालन करें, सभी धर्म को आत्मसात् कर जीवन मंगलमय व उत्कृष्ट बनाएँ। ग्रंथकार यहाँ देश, उसके नागरिक, प्रतिपालक, संरक्षक सभी के मंगल की, हित की कामना करते हैं।

वृष-वर्द्धक

विस्स-अप्पाण संतीए, हवेज्ज बेसुहाण य।
जिणसासण-विड्ढीए, सच्चधम्मपहावणा॥८५॥

अर्थः-विश्व शांति, आत्मशांति, दोनों प्रकार के सुख (निःश्रेयस व अभ्युदय सुख) एवं जिनशासन की वद्धि के लिए सत्य धर्म की प्रभावना हो।

May Satya dharma (Truth) spread for the peace of the world & the soul for two types of pleasure & for the enhancement of Jinshasan.

भावार्थः-यहाँ ग्रंथ के अंतिम चरणों में ग्रंथकार भावना भाते हैं कि विश्व शांति, आत्म शांति दोनों प्रकार के सुख और जिन शासन की वृद्धि के लिए सत्य धर्म की प्रभावना दशों दिशाओं में हो। सत्य ही सुख-शांति का आधार है। जहाँ-जहाँ सत्य रहता है वहाँ सुख, शांति, कीर्ति, विवेक व लक्ष्मी इत्यादि का निवास रहता ही है।

किसी नगर में एक राजा रहता था। वह राजा अत्यंत न्यायप्रिय, धर्मनिष्ठ, कर्त्तव्यों का पालन करने वाला, सत्यवादी, पराक्रमी व प्रजावत्सल था। एक रात्रि राजा अपने कक्ष में ही घूमता हुआ कुछ विचार कर रहा था कि तभी उसे द्वार खटखटाने की आवाज आयी। राजा ने पूछा कौन? आवाज लौटकर आयी ''मैं आपकी शांति हूँ।'' राजा ने पूछा क्या चाहिए? वह बोली ''कुछ नहीं, मैं यहाँ से जा रही हूँ।'' राजा कुछ क्षण चुप रहा और धीमी सी आवाज में बोला ठीक है। वह चली गई। राजा ने पुनः कुछ विचार करते हुए घूमना प्रारंभ किया कि पुनः दरवाजा खटखटाने की आवाज आई। राजा ने पूछा कौन? उत्तर आया ''मैं यशकीर्ति हूँ, मैं यहाँ से जा रही हूँ।'' राजा ने उसे नहीं रोका। कुछ देर बाद फिर दरवाजा खटखटाने की

आवाज आई राजा ने फिर पूछा कौन? उत्तर आया ''मैं लक्ष्मी हूँ, मैं यहाँ से जा रही हूँ।'' राजा ने इसे भी नहीं रोका। राजा कुछ उदास सा बैठा ही था कि फिर दरवाजा खटखटाने की आवाज आई। राजा ने पूछा कौन है क्या तुम भी जाना चाहते हो? आवाज आई ''मैं सत्य हूँ, हाँ! मैं भी जाना चाहता हूँ।'' तभी राजा खड़ा हुआ और बोला, नहीं! तुम नहीं जा सकते। मैंने यशकीर्ति, लक्ष्मी, शांति आदि को जाने से नहीं रोका किन्तु तुम मेरे पास से कहीं नहीं जा सकते। मैं उन सबके बिना तो जी सकता हूँ किन्तु तुम्हारे बिना नहीं जी सकता।

मैंने अपना पूरा जीवन तुम्हारे साथ बिताया है, मैं तुम्हें जाने नहीं दे सकता। राजा की बात सुनकर सत्य वही रुक गया। तभी कुछ क्षण बाद फिर द्वार खटखटाने की आवाज आई। राजा ने सामने देखा तो शांति, यशकीर्ति व लक्ष्मी खड़ी है। राजा ने कहा आप सब यहाँ कैसे? आप लोग तो चले गए थे। उन्होंने कहा हाँ! हम चले गए थे किन्तु तुमने सत्य को रोक लिया और जहाँ सत्य धर्म रहता है हम उस स्थान को छोड़कर कभी नहीं जाते। अतः अब हम सब भी यहीं रहेंगे। और कहा जाता है कि तभी से शांति-सुख-समृद्धि इत्यादि सत्य की अनुचरी बनी हुई हैं। कहा भी है-

भूमिः कीर्तिः यशो लक्ष्मी, पुरुषं प्रार्थयन्ति हि।
सत्यं समनुवर्तन्ते, सत्यमेव भजेत् ततः॥

सत्य का अनुसरण करने वाले से भूमि, कीर्ति, यश और लक्ष्मी प्रार्थना करते हैं इसलिए सत्य का सदैव आदर-सम्मान-पूजन किया जाना चाहिए।

सत्य के साथ रहने वाले की सदैव विजय होती है। हमारे देश-भारत का जयघोष भी है-''सत्यमेव जयते''। सत्य धर्म की

नींव पर ही सुख-शांति से युक्त समृद्ध राज्य की स्थापना संभव है। अतः सभी के लिए अकारण बंधु, प्राणी मात्र के हित व कल्याण की भावना भाने वाले आचार्य महोदय सत्य धर्म की प्रभावना की भावना भाते हैं सत्य से ही आत्म शान्ति संभव है एवं लौकिक व पारमार्थिक सुख भी सत्य की राह से ही प्राप्त होता है। सत्य के बिना धर्म भी वृद्धिंगत नहीं होता है।

अग्निना सिच्यमानोऽपि वृक्षो वृद्धिं न चाप्नुयात्।
तथा सत्यं विना धर्मः पुष्टिं नायाति कर्हिचित्॥

आग से सिंचित् वृक्ष जिस प्रकार वृद्धि को प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार सत्य के बिना धर्म का विकास नहीं होता।

अहो! सर्वकल्याणकारी, शाश्वत सुख मार्ग प्रदायक जिनशासन की प्रभावना संपूर्ण विश्व में हो, यह भी सत्य की दिग्दिगन्त व्याप्तता से ही संभव है क्योंकि यथार्थता का अवबोध भी यथार्थ ज्ञान वा सत्य से ही संभव है। अतः आचार्य महोदय यहाँ सत्य धर्म की प्रभावना की निर्मल भावना करते हैं।

अंतिम मंगलाचरण

संतिं पायं जयंकित्तिं, भूसणं देसभूसणं।
विज्जाणंदं गुरुं वंदे, पुण्णं किवाइ सिं इणं॥८६॥

आचार्य श्री शांतिसागर जी, आचार्य श्री पायसागर जी, आचार्य श्री जयकीर्ति जी, देश के आभूषण आचार्य श्री देशभूषण जी, आचार्य श्री विद्यानंद गुरुवर को मैं (आचार्य वसुनंदी मुनि) नमस्कार करता हूँ। इनकी कृपा से ही यह ग्रंथ पूर्ण हुआ।

I (Āchārya Vasunandi Muni) bow to Āchārya Shanti Sagar Ji, Paya Sagar Ji, Jaikirti Ji, Acharya Deshbhushan Ji like ornament of the country and Guruvar Sri Vidyanand Ji by whose blessings this scripture has been completed.

ग्रंथकार यहाँ अंतिम मंगलाचरण के रूप में संपूर्ण आचार्य परम्परा को नमस्कार करते हैं। सर्वप्रथम 20वीं सदी के दिगम्बर जैनाचार्य चारित्र चक्रवर्ती श्री शांतिसागर जी महाराज जिन्होंने मृत प्रायः मुनि परम्परा को पुनर्जीवित किया, अपने आचार-व्यवहार-संयम साधना-चर्यादि के माध्यम से जिन धर्म की महती प्रभावना की उन्हें नमस्कार करते हैं। क्योंकि आचार्य श्री प्राणी संयम व इंद्रिय संयम का पालन करने में मुनि पुंगव थे, जैसे मनुष्यों में चक्रवर्ती होता है, इसी प्रकार वे चारित्रवानों एवं श्रमणों में चक्रवर्ती के समान श्रेष्ठ थे। इसीलिए चारित्र चक्रवर्ती की उपाधि से इन्हें विभूषित किया गया। पुनः इनके शिष्य महातपस्वी आचार्य श्री पाय सागर जी महाराज को नमस्कार करते हैं, इसके पश्चात् अध्यात्म योगी आचार्य श्री जयकीर्ति जी महाराज को नमस्कार करते हैं, पुनः परम्परा से भारत गौरव आचार्य श्री देशभूषण जी मुनिराज जो वास्तव में देश के आभूषण स्वरूप रहे उन्हें नमस्कार करते हैं और पुनः ग्रंथकार अपने गुरुवर

परमपूज्य श्वेतपिच्छाचार्य सिद्धान्त चक्रवर्ती राष्ट्रसंत क्षपकराण शिरेमणि आचार्य श्री विद्यानंद जी मुनिराज को नमस्कार करते हैं।

ग्रंथकार यहाँ लघुता प्रकट करते हुये कहते हैं कि 'राष्ट्र शांति महायज्ञ' यह ग्रंथ जो लिखा गया है वह उनके पूज्य गुरुदेव का मंगल आशीष एवं उन्हीं की कृपा दृष्टि है। लघुता नामक महागुण प्रत्येक महापुरुष, पूज्यनीय पुरुषों का आभूषण होता है। इसी लघुता को ग्रंथकार यहाँ प्रकट करते हुये सम्पूर्ण आचार्य परम्परा के चरणों में नतमस्तक होते हैं तथा ग्रंथ की पूर्णता का श्रेय परमपूज्य गुरुओं को देते हैं।

प्रशस्ति

वसंते पुण्णचंदे, भोमे य आयुस्समाणे पुण्णो।
दोपणसददालीए, वीरद्धे सुहागणयरम्मि॥८७॥

यह ग्रंथ बसंत पूर्णिमा अर्थात् माघ शुक्ल पूर्णिमा के दिन मंगलवार, आयुष्यमान योग 2540 वीर निर्वाण संवत् में सुहागनगरी-फिरोजाबाद में पूर्ण हुआ।

This scripture was completed on Tuesday, Basant Purnima, Ayushman yoga in 2540 (V.N.) in suhagnagar (Firozabad).

राष्ट्र शांति महायज्ञ
हिन्दी अनुवाद

-मुनि श्री शिवानंद जी

वंदूँ सर्व सिद्ध जिनवर को, अरु जिनधर्म के नायक को।
राष्ट्र शांति महायज्ञ कहता, हूँ जीवों की शांति को॥१॥

कर्त्तव्य ही महाधर्म है, रक्षा जीवों की करना।
द्विप्रकार लौकिक परमारथ, जिनवर का है ये कहना॥२॥

उपशम कषाय का करने से, चित्त शुद्ध संभव जानो।
नित्यचित्त की शुद्धि सबके, शांति का कारण मानो॥३॥

जैसे गाय बिना ना बछड़ा, होता प्रजा ना राजा बिन।
गुरुवर बिना ज्ञान ना होता, वैसे धर्म दया के बिन॥४॥

शब्द रहित गंधर्व ना सोहे, भाव नहीं द्रव्यों से हीन।
भाव रहित धर्मार्थी ना हो, धर्महीन सुख करता क्षीण॥५॥

पाप हीन के दुख नहीं किंचित्, पुण्यहीन न हो साधक।
दयाहीन साधर्मी ना हो, धर्महीन ना हो श्रावक॥६॥

विद्या मित्र विदेशों में है, और गृहों में गृहणी है।
रोगी को औषधि सखा है, धर्म सदा ही साथी है॥७॥

प्रथम तीर्थ आदीश्वर स्वामी, धर्म देशना को बाँटे।
इसीलिए ब्रह्मा जग माने, युग परवर्तक कहलाते॥८॥

असि मसि कृषि विद्या शिल्पों का, वाणिज्य का ज्ञान दिया।
आदिदेव वाणी को जग में, वर्तमान में प्राप्त किया॥९॥

ऋषभदेव के पुत्र महान, छःखण्डों के स्वामी जान।
भरत नाम से नाम मिला है, जग में भारत की पहचान॥१०॥

दानी, शूर, गुणी अरु त्यागी, निष्ठा और पराक्रम हो।
दूरदृष्टि हो गम्भीरा भी, जनता का उपकारी हो॥११॥

हिंसा त्यागी हो योद्धा भी, शांत वाक् संयम धारी।
शील विशाल हृदयी विज्ञानी, वही भूप मानक भारी॥१२॥

प्रभू भक्त सद् आचारी हो, दानी धीर हो गुणसागर।
नित निर्बल को बल देता हो, न्याय निपुण औ दया प्रखर॥१३॥

रक्षा साधु की करता हो, सज्जन जन का ग्राहक हो।
धर्मी गुण का अनुग्रह करता, निश्चित राजा पण्डित वो॥१४॥

सदाचार की रक्षा करता, कदाचार को छोड़े वो।
धर्म बचाए धर्मीजन का, न्यायार्जित धन जोड़े जो॥१५॥

श्रेष्ठ भूपति का कर्त्तव्य, सर्व धर्म की रक्षा हो।
सद्गुण नीति का संवर्द्धक, प्राणी मात्र हितकारक हो॥१६॥

राजा संग दीक्षा धारें जो, मित्र बंधु-जन अविरामी।
इस जग में वे सच्चे साथी, पर भव में भी सहगामी॥१७॥

पूर्ण प्रजा हित करने वाली, परिपालन शुभ कर पाती।
शिक्षा गहन प्रदेश की देती, राजनीति वह कहलाती॥१८॥

निज की राष्ट्र भूमि पर जन्मा, निर्भय, भूप भुजावत् हो।
देशभक्त हो, सदाचारी हो, दूरंदेश दया युत हो॥॥१९॥

हित आकांक्षी है जो प्रजा का, मध्य सेतू राजा जनता।
देशोन्नति का भाव रखे नित, ज्ञान गुणी मंत्री नृप का॥२०॥

शुभ करनी व दया सुधर्मी, मंत्र तंत्र में प्रबल प्रवीण।
भूप प्रजा का हित कांक्षी हो, श्रेष्ठ पुरोहित कहे सुवीर॥२१॥

कोतवाल वो सजग कहावे, देश शांति का जो कारक।
प्राण प्रतिष्ठा का रखवाला, धन धान्य परिग्रह रक्षक॥२२॥

रक्षक है जो भी स्वराष्ट्र का, राष्ट्रभक्त हो आलस हीन।
निर्भय धीर विवेकी योद्धा, सैनिक वही दोष से हीन॥२३॥

कर्त्तव्यी और कर्मनिष्ठ हो, निज कार्यों में संयमवान्।
सत्य क्षमा अरु गुणी त्यागी जो, वह शासन का सेवक जान॥२४॥

परदेशों में धर्मसूत्र का, धन धान्य का हो निर्यात।
देश उन्नति में जो कारण, उन वस्तु का हो आयात॥२५॥

अर्थ प्रबंधन के कर्ता जो, आय व्यय विज्ञानी हो।
अर्थ व्यवस्थित करने हेतू, प्रथा कमण्डल जैसी हो॥२६॥

न्याय रहित गुण लाभ सदा ही, सुख वृद्धिंगत सा दिखता।
निश्चित हानि प्राप्त करे वो, केवल बढ़ता सा लगता॥२७

अन्यायों के द्वारा धन सुख, यश बल बढ़ता हो किंचित्।
ग्रहण नहीं करता जो राजा, मानो श्रेष्ठ उसे निश्चित॥२८॥

क्योंकि जो भी ऐसा पैसा, न्याय रहित अर्जित करते।
ऐसे क्षेत्रों में पलभर भी, शांति, निधि, सुख नहीं बसते॥२९॥

राष्ट्र प्रणाली प्रजातंत्र हो, सचिव जहाँ के शुभ चिंतक।
धर्मनिष्ठ हो राजा जिसका, प्रजा वहाँ की सुख वर्द्धक॥३०॥

राजा श्रेष्ठ जहाँ के होते, प्रजा वहाँ की भी प्रतिमान।
धर्मशील राजा के संग में, प्रजा मोक्ष को करे प्रयाण॥३१॥

प्रजाजनों का कर्त्तव्य है, राजा का अनुगमन करे।
निज समूह की शुभ चिंता कर, देशोन्नति में मदद करे॥३२॥

कर्त्तव्यपरायण जो भी जन हैं, निज पर का हित नित करते।
पाप बुद्धि से नित्य हीन जो, श्रेष्ठ नगरवासी बनते॥३३॥

भक्त देश का गुणी अरु ज्ञानी, दया युक्त हो क्षेमंकर।
श्रद्धालु कर्त्तव्यशील जो, नगरवासी सबसे बढ़कर॥३४॥

आज समाज उसी को कहते, सज्जन पुरुषों का संघ हो।
जहाँ एकता सदा विराजे, प्रेम सहित सबका संग हो॥३५॥

वहाँ बसो जहाँ नित्य बसे हों, वैद्यराज, पण्डित अरु जल।
संभव ना हो कार्य जहाँ पर, त्याग करो वह घर जंगल॥३६॥

सज्जन जनगण जहाँ विराजे, नायक उनमें भी होते।
ग्राम नगर में हितकारक जो, नायक कुशल वही होते॥३७॥

विनयशील औ पक्ष रहित जो, दयायुक्त हो ज्ञायक हो।
धीर वीर गम्भीर निशंकी, मान्य कुशल निर्णायक वो॥३८॥

तर्क युक्ति से युक्त गुणी हो, अधिवक्ता वो ज्ञानी हो।
वाद विवादों का हंता हो, सत्य दया युत वाणी हो॥३९॥

श्रेष्ठ विशेष विधि का पालक, शुभज्ञाता औषधियों का।
दया युक्त निःशंक गुणीजन, सुस्ती रहित चिह्न वैद्यों का॥४०॥

जो हो श्रेष्ठ वस्तु का भोगी, श्रेष्ठ वस्तुओं का दाता।
न्यायप्रिय हित आकांक्षी हो, वणिक् सत्य का हो नाता॥४१॥

सावधान अरु निर्भय वाला, दया परिश्रम वाला हो।
वात्सल्य का भाव भरा हो, कृषक वो उद्यम वाला हो॥४२॥

सदाचरण की शिक्षा निश्चित, धन अर्जन करवाती हो।
सर्व शांति को करने वाली, दयायुक्त सुखकारी हो॥४३॥

हिताकांक्षी हो निज अरु पर का, ज्ञानमूर्ति हो दयानिधि।
निज कार्यों में लीन रहे जो, शिक्षक होता क्षमा हृदि॥४४॥

गुणाकांक्षी हो विनय भाव हो, अल्प आहारी निर आलसी।
वैरागी हो ब्रह्मचारी हो, विद्यार्थी हो परिश्रमी॥४५॥

पूजा आदर देना निश्चित, विद्या के चाहने वालो।
अग्रज तात् गुरु या सेवी, धर्मी गुणी के गुण गा लो॥४६॥

धर्मनिष्ठ योग्या अरु सति हो, वात्सल्यी लज्जाधारी।
दया क्षमा अरु शील युक्त हो, मितव्ययी व मृदुला वाणी॥४७॥

अनुगामिनी हो निज स्वामी की, मनोहारी आज्ञाकारी।
कुटुंब हितैषी सुख दुःख धीरा, आदर्शोत्तम वे नारी॥४८॥

सज्जन निश्चित उसको माना, जो पर की रक्षा करता।
पर जीवों के सुख के कारण, सहन कष्ट को जो करता॥४९॥

नही कदापि दुष्ट जनों का, निश्चय से अपमान करें।
पैरों से ताड़ित हो धूली, सिर के ऊपर वास करे॥५०॥

पूजा आदर सेवा करना, और मान सम्मान करो।
धर्म प्रेम का हेतू ऐसे, आगंतुक को देव कहो॥५१॥

पैर पंक में डालके धोना, इससे अच्छा मत डालो।
दोष युक्त वस्तु ना छूना, श्रेष्ठ उसे है तज डालो॥५२॥

जहाँ क्षेत्र में पाप कर्म अरु, बुरे व्यसन बढ़ जाते हैं।
वहाँ क्षेत्र में सुख अरु शांति, मंगल नहि बस पाते हैं॥५३॥

धर्म देश की रक्षा हेतू, सुख शांति की चाह अगर।
निशा भोज आमिष मादक की, निश्चित तजनी होगी डगर॥५४॥

अनादिकाल से तीन लोक में, धर्म अहिंसा ही राजे।
जिसके द्वारा पूर्ण जगत में, सुख शांति वृद्धि साजे॥५५॥

भोजन आर्यों को करना है, चयन सदा ही शाकाहार।
इह भव में भी शांति पाते, पर भव में सुख करें स्वीकार॥५६॥

घी और दूध बचाते जैसे, वैसे जल का हो रक्षण।
क्योंकि जल ही जीवन माना, नष्ट हुआ, जीवन विघटन॥५७॥

वृक्ष बिना जीवन संभव ना, मानव का सुखमय जीना।
वहाँ धर्म है जहाँ तरु हैं, रक्षा इनकी नित कीना॥५८॥

पुण्य सदा ही अर्जन करना, कीर्ति सत्य सुख और सुबल।
निज पर का हित करना निश्चित, तीन योग और धन के बल॥५९॥

प्रिय वचन देने में सक्षम, शांति तोष गुण कोष प्रबल।
इसीलिए बोलो मित वाणी, वचनों में क्यों बनो कृपण॥६०॥

चर्चा जिसकी जो करता है, उसके गुण वो प्राप्त करे।
नीर मिठाई से मीठा ज्यों, त्यों वचनों में भाव भरे॥६१॥

मात पिता का भक्त कहाता, ज्येष्ठ जनों में विनय धरे।
जिनवर भक्त गुरु का सेवक, उभय लोक नित सुक्ख वरे॥६२॥

दान भोग का दाता जानो, वृद्ध सेवा से ज्ञान मिले।
जीव दया से सुखमय आयु, तप से मुक्ति धाम मिले॥६३॥

मैत्री करुणा गुण आनन्दी, साम्य भाव नित जो भाता।
सुखाकांक्षी हितकारी वह नर, सम्यग्दृष्टि कहलाता॥६४॥

निंदा अरु संवेग और निर्वेग भक्ति गर्हा उपशम।
अनुकम्पा वत्सल वसु गुण ये, सम्यग्दृष्टि के उत्तम॥६५॥

क्रोध मोह मद काम व हिंसा, मत्सर सज्जन मत करना।
यदि दो विध सुख की वांछा हो, तत्क्षण ही इनको तजना॥६६॥

नित ब्रह्म मूहूरत में जिनवर की, भक्ति भक्त जो करता है।
यश बल सुख शांति पूर्णायु, निश्चित प्राप्त वो करता है॥६७॥

विषयभोग में लीन मनुज के, क्या क्या गुण नहीं नष्ट हुए।
बुद्धि सत्य शुचि दया क्षमा अरु, अक्ष दमन गुण भ्रष्ट हुए॥६८॥

लोभ क्रोध का वर्द्धन करता, लोभ काम का अवतारक।
लोभ गुणों का नाशक माना, लोभ पाप का है कारक॥६९॥

संशय युत हो जो सेवक या, मित्र शत्रु से मिला हुआ।
जड़ से अलग ही करना उत्तम, मुख में दंत जो हिला हुआ॥७०॥

शिष्यों के शासक हैं गुरु जी, दुष्टों के नृप शासक हैं।
छिपकर पाप करे जो प्राणी, दुःख ही उसका शासक है॥७१॥

ऐसा मित्र वियोग न जिसका, ऐसा जन्म ना मरण विहीन।
ना ऐसा जग में सुख शाश्वत, यौवन कोई न अंतविहीन॥७२॥

महापुरुष जो तृण मिट्टी ना, पत्थर अपमानित करता।
तो वह सज्जन पुरुषों को भी, क्या अपमानित कर सकता?॥७३॥

क्षीण पुण्य से सुख नहीं फलता, पुण्यक्षीण के ना रक्षक।
पुण्यहीन के गुण नहीं होता, हीनपुण्य के ना औषध॥७४॥

भारी वस्तु धरा को छूती, हल्की वस्तु व्योम उड़े।
पुण्यशाली स्वर्गों में जाता, पापी नरक में गिरे पड़े॥७५॥

संस्कार हैं धर्म के निश्चित, सबको सुख शांति दाता।
संस्कारी की कृति संस्कृति, आत्म निधि सब गुण पाता॥७६॥

वही योग्य उपदेशक जानो, निज पर का हितकारक हो।
जो पाषाण हृदय भूमि पर, धर्म बीज संवर्धक हो॥७७॥

क्योंकि राष्ट्र शांति में कारण, निश्चित संतों की वाणी।
जहाँ न साधु वहाँ सदा ही, आतंकित रहते प्राणी॥७८॥

जिस भी क्षेत्र में व्रती, दिगम्बर, त्यागी विद्यमान होते।
दया शांति सुख में वृद्धि को, क्षेत्रवासी निश्चित बोते॥७९॥

धर्म जीव का हितकारी जो, पक्षपात से हीन कहा।
शिवपद का कारण है माना, आतम सर्वोत्तम ही रखा॥८०॥

मूलाधार अहिंसा जिसका, गुणपोषण आतम का है।
वैज्ञानिक ने ग्रहण किया है, जिन धर्मोत्तम जग का है॥८१॥

व्यसनहीन हो जीवन जिसमें, अणुव्रत से युत हो जीवन।
धर्मश्रेष्ठ लक्षण से सिंचित, राष्ट्र धर्म बनता पावन॥८२॥

राष्ट्र, देश अरु ग्राम प्रजा सब, साधर्मी अरु राजा हित।
वांछा करता जैन धर्म से, स्वसंवेदन ज्ञान सहित॥८३॥

कुल में, राज्यों में शांति हो, मानव प्राणी तपस्वी को।
संयमी, पापी, सज्जन को भी, सभी जनों को शांति हो॥८४॥

दोहा

लगे ज्ञान अज्ञान से मुझ लघु से जो पाप।
तवाशीष से ही रचा, क्षमा करो गुरु आप॥

श्लोकानुक्रमणिका

श्लोक	पृष्ठ सं.	श्लोक सं.
(अ)		
अज्जेज्जा धण-जोगेहिं	239	59
अणुव्वय-जुदं होज्जा	343	82
अण्णाकारी मणोहारी	190	48
अण्णायेणं हु पस्सेज्जा	113	29
अण्णायेणं हु वड्ढंति	111	27
अदेज्जा णियमेणज्जा	228	56
अवमण्णेज्ज णो दुट्ठा	200	50
असी मसी य वाणिज्जं	39	9
अहिंसगो महाजोद्धा	52	12
अहिंसा जस्स आहारो	343	81
अहिवत्ता गुणी णाणी	154	39
आढाएज्जा हु माणेज्जा	186	46
आय-वयाण विण्णाणी	108	26
(उ)		
उवयरेज्ज पाणी हु	69	16
(क)		
कत्तव्व-पालणं धम्मो	7	2
कम्मी कत्तव्वसीलो हि	99	24
कया वि अवमण्णेज्जा	315	73
करेज्ज अदिहीणं च	204	51
करेदि जस्स जो गोट्ठिं	248	61
कसायुवसमेणं च	15	3
कामं कोहं तहा मोहं	285	66

(ग)		
गूढ-सिक्खा हु रज्जस्स	78	18
(ज)		
जणा कत्तव्वसीला जे	127	33
जणा जे के वि अज्जेज्जा	113	29
जत्थ देसे पयातंतं	118	30
जस्सिं खेत्तम्मि विज्जंते	338	79
जहा गवं विणा वच्छो	21	4
जागरूगो च णिब्भीओ	166	42
(ण)		
णहि रुक्खं विणा सक्कं	234	58
णिच्चं बंभ-मुहुत्तम्मि	290	67
णिंदा संवेअ-णिव्वेओ	275	65
णिब्भीगो राय-बाहोव्व	81	20
णिसाहारं हु चागेज्जा	212	54
(त)		
तित्थयरादि-देवेणं	39	8
(द)		
दाणी सूरो गुणी चागी	52	11
दिक्खं गहंति रायेणं	75	17
देंति पिय-वयं णिच्चं	244	60
देवभत्तो सयायारी	60	13
देसेगामे तहा रट्ठे	353	83
देसणा होज्ज साहूणं	331	78
देसभत्तो गुणी णाणी	131	34
देसस्सुत्थंघणं णिच्चं	124	32

(ध)		
धम्म-सुत्ताण णिज्जायं	105	25
धम्मो अणाइ-यालादो	221	55
(प)		
पंके लिंपिय पायं णो	207	52
पंडिदो य जलं वेज्जो	143	36
पडदि गुरु-वत्थू य	324	75
पावहीणं दुहं णत्थि	30	6
पिअर-पहु-भत्तो य	252	62
पुण्ण-खीणे सुहं णत्थि	320	74
पुत्तस्स आदि-देवस्स	45	10
(भ)		
भिच्चं संदेह जुत्तं हु	303	70
भोगी य सुट्ठु वत्थूणं	162	41
भोया दाणेण दिग्घाउं	258	63
(म)		
मित्तं विजोग-हीणं णो	309	72
मेत्तिं पमोद कारुण्णं	271	64
(र)		
रक्खगो सग-देसस्स	95	23
रक्खगो सव्व-साहूणं	60	14
रक्खिज्जइ घयं दुद्धं	231	57
(ल)		
लोहादो वड्ढदे कोहो	298	69
(व)		
वंदित्ता सव्व-सिद्धा य	1	1

वसणं पावकम्मं च	209	53
विज्जत्थी हु गुणाकंखी	180	45
विज्जा मित्तं विदेसेसुं	35	7
विणयसील-णिप्पक्खो	151	38
विसयासत्त-पुंसाणं	294	68
विहीए य विसेसाणं	158	40
(स)		
संतिं-पायं-जयंकित्तिं		357
संतीइ धम्म-सक्कारो	327	76
सगदेसम्मि उप्पण्णो	81	19
सग-पर-हियाकंखी	174	44
सज्जणा जत्थ विज्जंते	147	37
सद्दहीणो ण गंधव्वो	26	5
समाजो तं विआणेज्जा	136	35
सयायारं हु रक्खेज्जा	69	15
सयायारस्स सिक्खा हु	170	43
सव्व-हियंकरो धम्मो	343	80
सिस्साणं हि गुरु होज्जा	306	71
सुइ-कम्मी दयावाणो	89	21
सुजोग्गो कोट्टवालो सो	93	22
सेट्ठु होदि जहिं रायो	121	31
सेट्ठ-णारी सदी जोग्गा	190	47
सो उवएसगो जोग्गो	331	77
सो चिय सज्जणो मण्णे	197	49
(ह)		
होज्ज संती कुले रज्जे	353	84